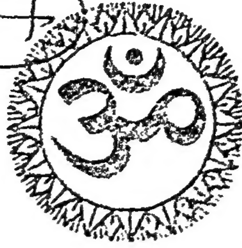
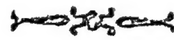


श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्येणविरचिता ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।

भाषाटीकासमेता ।



काशीनिवासिनिर्मल पं० स्वामिगोविन्दसिंहसाधुकृता-
र्थभाषाटीकोपेतातेनैवसंशोधिता ।

सेयं

क्षेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बापुर्यां

स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" नाम्निमुद्रणयन्त्रे

मुद्रयित्वाप्रकाशिता ।

संवत् १९५७, शके १८२२.

काशीनिवासी निर्मलपं० स्वामि गोविन्दसिंह साधुः



॥ श्रीः ॥

बंबई "श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रालयमें छपेहुये

वेदान्तग्रन्थ.

ना.	की.रु.आ.
शारीरक (शांकरभाष्य) रत्नप्रभाटीका व्यासाधिकरणमाला और भक्तिसूत्र सभाष्य अक्षर बड़ा	१०--०
ब्रह्मसूत्र (शारीरक) भाषाटीका	१--८
वेदांतसार संस्कृतमूल और संस्कृतटीका तथा भाषाटीकासहित	०--१२
पंचदशीसटीक	२--८
पंचदशी पं० मिहिरचंद्रकृत अत्युत्तम भाषाटीका सहित	४--०
पंचदशी भाषा--आत्मस्वरूपजीकृत	४--०
गीता चिद्घनानंदस्वामिकृत गूढार्थदीपिका मूल अन्वय पदच्छेद के सहित भाषाटीका	७--०
गीता आनंदगिरिकृतभाषाटीका	३--०
श्रीमद्भगवद्गीता सान्वयव्रजभाषा दोहासहित...	१--४
गीतामृततरंगिणी भाषाटीका (रघुनाथप्रसादकृत) अक्षरबड़ा	१--४
गीतामृततरंगिणी भाषाटीका पाकिटबुक	०--१२
श्रीरामगीता मूल	०--२
श्रीरामगीता भाषाटीका--पदप्रकाशिका अनुवाद समुच्चय और विषमपदीके सहित	०--८
श्रीमद्भगवद्गीतापंचरत्नअक्षरमोटागुटकारेशमी	१--०
पंचरत्न अक्षरबडा खुलापत्रा छोटीसंची	१--८
पंचरत्न अक्षरबडा लंबीसंची खुला	१--०
पंचरत्न भाषाटीका	२--०
गीता श्रीधरीटीका सहित	१--०



अथ न्यायतत्त्वसमीक्षाख्यभूमिका ।

इस सर्वथा इत्थंभावेन अचिन्तनीय तथा अनवद्य वैशद्य विपुल संसारमें प्राणीमात्रको प्रतिक्षण समूल दुःखनिर्मूलपूर्वक परमोत्कृष्टाप्रतिहत सुखसंतानविषयिणी लिप्सा तथा एकान्तात्यन्त समूल दुःखविषयिणी जिहासा सामान्यरूपेण स्वान्तमें सर्वदा एकरस बनी रहती है; परन्तु यावत् प्राणी हेय हेयहेतु तथा हान हानोपायको सम्यक्रूपसे न जानते हुए संसारचक्रमें प्राप्त होय सुखके बदले विपरीत अनेकविध जन्ममरणादि दुःखहीको अनुभव करतेहैं. वर्तमान प्रचलित संसारचक्रमें प्रायः सामान्यरूपेण यों देखनेमें आता है कि–प्रादुर्भूत हुआ प्राणीमात्र प्रथम अबुद्धावस्थामें अपने मातापितृद्वारा या किसी दूसरे सजाति विजातिसम्बंधिद्वारा पालनपोषणादि सहकारिताको पायकर समयानुसार स्वयं सुबोध हुआ विशेषरूपसे निरवच्छिन्न सुखसम्पादनमें प्रयत्नशील होताहै; उसमेंभी सामान्यरूपसे इन प्राणियोंके दो भेद देखनेमें आतेहैं.एक तो ऐसा प्राणीदल देखनेमें आता है कि, जिसमें विचारशक्तिका बहुतही न्हास प्रतीत होताहै; जैसे कि, पशु पक्षि कृमि-दंश दि हैं.ऐसा प्राणीदल अहोरात्र केवल काय पालन पोषणादिमें प्रयत्नशील हुआ इसीको परम पुरुषार्थ तथा सुखसीमा मानकर अपनी आयुको व्यतीत करता हुआ स्वान्तमें परम सन्तुष्ट होताहै; और दूसरा विचारशील प्राणीवर्ग देवमनुष्यादिहैं. इस प्राणीवर्गको जब अनेकविध भोगोंसे शरीर पालन पोषण कर कदाचित् दैवात् अवकाश मिलता है तो समय २ पर ऐसे विचार उत्पन्न होतेहैं कि मैं कौनहूं? कैसाहूं? कहांसे आया और कहाँजाऊंगा?इत्यादि । एवं यह संसार क्या है? कैसा है ? किसका है?इत्यादि । एवं मेरा तथा इस संसारका कोई अधिपति है या नहीं? यदि है तो कैसा है? कौन है ? कहां है ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पयुक्त विचार उद्बुद्ध होते हैं. बस, इनही विचारोंको दार्शनिक विचार कहतेहैं, वह दार्शनिक विचार इस देशमें प्रायः 'अस्ति नास्ति' कोटिके भेदसे प्राचीन कालसे दोप्रकारका चला आता है. इन विचारोंपर सिद्धान्त करनेवाले महापुरुषोंको ऋषि महर्षि मुनि महामुनि इत्यादि प्रतिष्ठित शब्दोंसे इतरलोग स्मरण करते हैं और परमोत्कट जिज्ञासावस्थामें इतर लोग उनही महर्षियोंके सिद्धान्तोंको स्वान्तारूढ कर अपनेको कृतकृत्य तथा परमपुरुषार्थके भागी मानतेहैं.

वह दार्शनिक विद्या संसारके अनादि होनेसे समय २ पर यद्यपि अनेक प्रकारसे परिणत होती चली आती है तथा समय २ पर इस विद्याके प्रचारक ऋषि महर्षिभी अनेकों होचुकेहैं; तथापि वर्तमान कालमें इस भारतभूमिमें प्रख्यात अस्तिकोटिकी दार्शनिकविद्या षट्भेदसे विभक्त हुई विराजमान है. तथा इसके प्रचारक परमपूज्य प्रतिष्ठित इस भारतसन्तानके हितपूर्वक एकमात्र शासक महर्षिभी षट्ही हुएहैं. जिनके सदुपदेशोंसे उपदिष्ट तथा अनुगृहीत हुई भारतीय संतान अद्यावधि महर्षि कपिल; महर्षि कणाद; महर्षि गौतम; महर्षि पतंजलि; महर्षि व्यास; तथा महर्षि जैमिनि, इन सुशोभित नामोंसे तथा अपने पवित्र हृदयके भावोंसे समय २ पर स्मरण करती है. यद्यपि चार्वाक बृहस्पति बुद्धादि विद्वान् लोग नास्तिकोटिके दर्शनोंके प्रवर्तकभी अनेक हुएहैं तथापि इस भारतीय प्रजामें उन दर्शनोंका सन्मान तथा प्रचार वर्तमानकालमें बहुतही न्यून दीख पड़ताहै; परन्तु कपिल कणादादि महर्षियोंके मुखारविन्दनिःसृत तथा सद्विद्वद्वायुद्वारा इतस्ततः प्राप्त सदुपदेशरूपाऽऽमोदको किसी एक हतभाग्यके सिवाय ऐसा कोईभी भारतोद्बुद्ध प्रबुद्ध मधुप न होगा जो कि सत्कार तथा परम प्रेमपूर्वक श्रवणद्वारा आघ्रात न करे.भाव यह कि—इन महर्षियोंके सदुपदेशात्मक ज्ञानमयी पताका आसमुद्र भारतमात्रमें तो क्या बलके पारके देशोंमेंभी एकरस सत्कारपूर्वक फहराती दीख पड़ती है; कारण यह कि—इन महात्माओंने अतिसंक्षिप्त सूत्रभूत शब्दोंसे जिज्ञासुलोगोंको ऐसा सारभूत तथा पक्षपातरहित सदुपदेश कियाहै कि, विज्ञ अधिकारी यदि संतोषपूर्वक श्रद्धासे सांगोपांग देखे या सुने तो अवश्य उसके चित्तमें आर्षसिद्धान्तका आभास पड़ही जावे और इन छहों महर्षियोंके सूत्रोंमें यह एक भारी उत्तमता है कि, सिवाय स्वसिद्धान्तप्रतिपादनके परस्पर रागद्वेषसे एक दूसरेका खण्डन मण्डन या कटाक्ष वचनोंसे परस्पर तिरस्कारका लेशभी दृष्टिगोचर नहीं होता. प्रत्युत सबसे प्रथम दर्शनकार महर्षि कपिलदेव (कि, जिनके विषयमें श्रीमद्भागवतादि महापुराणोंमें भगवदवतारत्वेन गणना करीहै उन)के दर्शनके उपयुक्त तथा सहकारक योगसूत्र निर्माण कर महर्षि पतंजलिने पाणिनि कात्यायनकी तरह एकार्थ प्रतिपादकत्वेन परस्पर सख्य सूचन कियाहै. एवं कणादमहर्षिके दर्शनके उपयुक्त तथा सहकारक सूत्रोंको निर्माण कर गौतम महर्षिनेभी परम सख्य दिखलायाहै. एवं ब्रह्मसूत्रोंके सहकारक धर्मसूत्रोंको निर्माण कर जैमिनि महर्षिनेभी अपने गुरु व्यासदेवके साथ सम्मतिही सूचन करीहै; इसीहीसे सांख्य योग दोनों केवल एकही 'सांख्य' शब्दसे प्रख्यात हैं और न्याय वैशेषिक दोनों एकही 'न्याय' शब्दसे प्रख्यातहैं. तथा ब्रह्मसूत्र और धर्मसूत्र दोनों केवल एकही 'मीमांसा' शब्दसे प्रख्यात हैं.भाव यह कि—यह महर्षिलोग अपने आपको एक वैदिकसिद्धान्तानु-

यायी समझते हुए एक दूसरेकी जहाँतक वन पड़े सहायताही करतेथे किन्तु स्वकीय पाण्डित्य प्रख्यापनार्थ स्वेतरसिद्धांतको दूषित कदापि नहीं करतेथे. कपिल महर्षिने तत्त्वप्रसंख्यानको मुक्तिमार्ग मानाहै; उसीका सहकारी चित्तशोधक तथा जीवन्मुक्तिका सम्पादक योगशास्त्र है. इसी भावसे " सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः " ऐसा भगवान्नेभी कहाहै. एवं पदार्थतत्त्वज्ञानको कणादमहर्षिने मुक्तिमार्ग मानाहै; उसीके उपयोगी वादिविजयाद्यर्थ निग्रहस्थान हेत्वाभासादिका प्रदर्शक न्यायशास्त्र है. एवं ब्रह्मज्ञानको मुक्तिमार्ग वेदव्यासने माना है उसीका उपयोगी अन्तःकरणशुद्धिद्वारा जैमिनिमहर्षिका धर्ममीमांसाशास्त्र है. एवं मूलसूत्रकारोंमें परस्पर विरोधका लेशभी नहीं है. यद्यपि कहीं २ मूलसूत्रोंमें नास्तिकमत खण्डनका आभास दीखपड़ता है. तथापि हमारा इस कथनमें तात्पर्य है कि--वैदिक मतावलम्बी इन छहोंका किसी अंशमेंभी विरोध नहीं है. एवं शंकरस्वामीके समयसे प्रथम होनेवाले इन षट्दर्शनसूत्रोंके व्याख्यानोंमेंभी कहीं परस्पर विरोध देखनेमें नहीं आता. यद्यपि सांख्यसूत्रोंपर विज्ञानभिक्षुके व्याख्यानमें आद्यहीमें--

मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ।
अर्थं च श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम् ॥ १ ॥
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ।
सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते ॥ २ ॥
परात्मजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते ॥
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितं मया ॥ ३ ॥
सर्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौ युगे ॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ॥ ४ ॥
मयैव कथितं देवि जगतां नाशकारणम् ॥

इत्यादि पद्मपुराणके वचनोंसे वेदांतियोंपर कटाक्षयुक्त लेख दीख पड़ताहै तथापि वह अत्यन्ताधुनिक होनेसे विज्ञश्रेणीमें कदाचित् श्रद्धेय नहींहै. अब हमसे कोई यदि यह पूछे कि यदि सूत्रकारोंका तथा भाष्यकारोंका परस्पर विरोध नहीं तो वर्तमान कालमें तो दर्शन सम्बधी कोई ग्रन्थ या लेख ऐसा लिखाही नहीं जाता कि,जिसमें सांख्यी नैयायिकोंका तथा नैयायिक विना अपने वेदान्तादिपांचोंका तथा वेदान्ती विना अपने न्यायादि पांचोंका इत्यादि परस्पर खण्डन या मण्डन न लिखाजावे; यदि यह खण्डन मण्डन सूत्रोंमें या उनके भाष्योंमें नहीं तो आया कहांसे तथा किंमूलक है ? तो इसका उत्तर हमको जिह्वा संकुचित कर यही कहना पड़ताहै कि--इस दर्शनकारोंके परस्पर विरोधका मूलभूत भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद श्री १०८ शंकराचार्य्यही हैं. इनसे प्रथम सांख्य

योगादि उत्तमसिद्धान्तोंके निराकरण करनेमें किसी आस्तिक विद्वान्‌का साहस न हुआथा किन्तु सांख्यसिद्धान्तको सहित उसके करताके अप्रमाणित ठहरानेमें तथा गौतम कणादको वैनशिक तुल्य बतलाकर उनके सिद्धान्तोंको धूलीमें मिलानेमें एवं धर्म मीमांसाके मूलोच्छेदनमें यह प्रथम २ भगवती भगवत्पादहीकी लेखनी प्रवृत्त हुईहै. इसमें यदि कोई ऐसा कहे कि--शंकरस्वामी महाप्रमित लेखकहैं; इसलिये अत्यन्त निर्मूल लेख कदापि नहीं लिख सकते. कहींभी मूलसूत्रोंमें या उनके प्राचीन भाष्योंमें खण्डन मण्डनविषयक लेख अवश्य होगा उसीके आश्रयसे भाष्यकारकी लेखनीभी उधरही प्रवृत्त हुई तो इसमें हम यह कहतेहैं कि--इसका मूल " एतेन योगाः प्रत्युक्ताः " यह द्वितीयाध्यायके प्रथम पादका तृतीय वेदान्तसूत्र है. बस, इसी एकभावी सूत्रके आधारसे प्रथमाध्यायके चारों पादोंकी जहांतक बनपड़ा कपिल महर्षिके सिद्धान्त निराकरणमें ही व्याख्या करी. अन्तमें फिरभी संतोष नहीं हुआ तो दूसरे अध्यायके आद्यमें " स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगः इति चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ॥१॥ " इस सूत्रकी व्याख्यामें फिर बिचारे कपिलको लथेड़ना आरम्भ किया और यहांतक लथेड़ा कि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्य सर्वज्ञ कपिलदेव वासुदेवांश रूपसे अवतीर्ण औरही हुआहै और यह द्वैतवादी सांख्यशास्त्रका कर्ता कोई अवैदिक कपिल हैइत्यादि सभी कुछ कहा.यद्यपि " ऋषिं प्रसूतं कपिलं यः " इत्यादि श्रुतिस्मृतीतिहासप्रसिद्ध वह एकही महर्षि कपिल है जो कि देवहूति माताके गर्भसे कर्दम महर्षिके वीर्यसे हुआहै; उसीको श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धमें" अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः ॥ लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः ॥१९॥ अ०२४ ॥ " इत्यादिवचनोंसे ब्रह्माने सिद्धोंका स्वामी भगवदवतार तथा सांख्यशास्त्रका कर्ता कहा है. एवं इसीही कपिलने अपनी माताको प्रसिद्ध सांख्यशास्त्रके अनुसारही उपदेश कियाहै; तथापि सांख्यशास्त्रका कर्ता अवैदिक था किन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य कपिल दूसरा हुआहै; ऐसा कहतेहुए स्वामीको रोकनेका किसका सामर्थ्य है? आप साक्षात् शंकरहैं अतएव स्वतन्त्र होनेसे नियोग पर्य्यनुयोगानर्ह हैं जो चाहें सो लिखें, हम लोगों आस्तिकोंको बीचमें किन्तु करनेका अधिकार नहीं है किन्तु केवल राजशासनवत् इनका जो कुछ लेख होय वह हम लोगों अनुचरोंको सन्मानपूर्वक शिरोधार्य तथा मान्य है.

एवं आपने मन्वादिस्मृतियोंको वर्णाश्रमधर्म बोधनमें सावकाश तथा कापिलशास्त्रको विना अध्यात्मविचारके निरवकाश, एवं " अस्मत्कृते च व्याख्याने जना न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु " इत्यादि वचनोंसे कपिलादिमहर्षियोंके वचनोंमें लोगोंकी अधिक श्रद्धा तथा स्ववचनोंमें विश्वासका संदेह इत्यादिवहुत कुछ कहा परन्तु शेषमें इसकी व्यवस्था कुछभी नकरी.ठीक२अबमुझे स्मरण हुआ आपने अग्रिमभाष्यमें कपिलको

द्वैतवादी होनेसे अवैदिक तथा कणाद गौतमको परमाणुवादी होनेसे वैनाशिक लिखही दिया है. गुरुका कहा सभी चेला लोग मानेहींगे फिर पृथक् व्यवस्था करनेका कौन प्रयोजन रहा? कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि, तथा जैमिनि, ये पांचों दर्शनकार तो नानात्मवादी होनेसे अवैदिकही हैं. शेष रहे व्यासदेव सो इन्होंकाभी योगसूत्रोंके भाष्यमें तो नाना चिदात्मवादही सिद्धान्त है इनकोभी चाहे आप वैदिक मानें या अवैदिक. हां, इनके ब्रह्मसूत्रोंमें स्पष्टरूपसे चाहो कहींभी नहींमिलता परन्तु भगवत्पाद निर्मित उनके भाष्यमें एकात्मवाद अतिसमारोहसे निरूपण किया है.

अव हमको यहां सन्देह उत्पन्न होताहै कि कपिलादि षट्महर्षि अवैदिकहैं या एक भगवत्पाद श्री १०८ शंकर स्वामीही अवैदिकहैं? परस्पर विरुद्ध लेख है; इसलिये दोनोंमें एक कोटि अवश्य निर्वल होनी चाहिये. 'कौन होनी चाहिये?' इसको विद्वान् लोग स्वयं सोचें. मेरी अल्पबुद्धि इसपर सिद्धान्त नहीं करसकती और न मैं श्रद्धाशून्य होकर किसी अपने पूज्य पूर्वज वृद्धको न्यूनकोटीका कहनाही चाहताहूँ। परन्तु कपिलको अवैदिक कह कर किस मनुका कहा स्वामीको भेपज है? इसका पता मिलना कठिन है; क्योंकि मनुभी अनेक होचुके हैं. यदि वैवस्वत कहें तो उसने तो कुछ कहाही नहीं. यह मनुस्मृति, तो उसके नामसे कई सहस्र वर्षपीछे भृगुने वनाई है–इति। एवं यद्यपि प्रथमाध्यायके पंचमसूत्रसे लेकर अध्यायसमाप्तितक चारों पादोंमें तथा दूसरे अध्यायके दो सूत्रोंतक स्वामीजीने सांख्यादिशास्त्रोंका मनमाना खण्डन कर शेषमें 'एतेन योगाः प्रत्युक्ताः' इस तृतीय सूत्रपर योगकाभी खण्डन कर विश्रांति करी; तथापि द्वितीयाध्यायके द्वितीयपादके आरम्भमेंभी आप यही उत्थानिका देतेहैं कि–"सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते" इत्यादि। अव यहां यह सन्देह होता है कि–क्या व्यासप्रणीत दर्शनही सम्यग्दर्शन हैं और सभी असम्यगूहैं? यदि ऐसा है तो उन दर्शनकारोंके विषयमें व्यासदेवने इतिहास पुराणोंमें जहां तहां परमेश्वरतुल्य प्रशंसा क्यों लिखी? जो जिसको देखकर भगवत्पादके स्वान्तमेंभी ऐसा सन्देह हुआ कि" असमस्कृते च व्याख्याने जना न विश्वस्युर्वहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु" इत्यादि जिनका एकवार खण्डन होचुका उनका फिर खण्डन करना क्या पिष्टपेषण नहींहै? इसका उत्तर स्वयं भाष्यकार यह लिखतेहैं कि–पूर्व हमने श्रुत्यर्थविरोध दिखलाया है अर्थात् सांख्याचार्य्यादिकोंका किया श्रुत्यर्थ सम्यग् नहींहै, यह कहाहै.और यहां उनकी युक्तियोंका प्रतिषेध किया जाताहै इसलिये पिष्टपेषण नहींहै. अस्तु हमको यहभी स्वीकार है परन्तु आपकी प्रख्याति इस लोकमें "षड्दर्शनस्थापनाचार्य जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य्य" इत्यादि पवित्र विशेषणोंसे है; इसलिये आपको इनको अन्वर्थ करना उचित था. यह

निवेदन श्रीचरणोंमें कुछ दोषतातपर्यसे नहींहै किन्तु प्रार्थनारूपसे है; क्योंकि मिथ्या परदोषोद्भावन करना महाराजप्रासाद गिरानेकी तरह एक साधारण निर्बुद्धिपुरुषोंका काम है, परन्तु उसी राजभवनके यदि पुनः निर्माणकी अपेक्षा होय तो बहुतसे उत्तम शिल्पशास्त्रवेत्ताओंकी पेक्षा होती है इसलिये परके उसमेंभी अपने पूर्वजोंके दोष-उद्भावन करनेको मैं बहुतही बुरा समझताहूं; तथापि गौतम कणादसिद्धान्तपर जो आपने मिथ्या आक्षेप कियेहैं वे हमको सर्वथा असह्यहैं. यों तो यही सच है कि--निर्दोष एक परमात्मा है, जीवका निर्दोष होना दुर्घट है; परन्तु इतना कहना किसी विद्वान्को अस्वीकृत न होगा कि--यदि महर्षि पाणिनि पतंजलि पदनियामकशास्त्रको निर्माण न करते तथा महर्षिगौतम कणाद पदार्थनियामकशास्त्र को निर्माण न करते तो इतर जीवोंको शास्त्रके विद्वान् बनकर बोलनाभी कठिन पड़ता. धनीका धन वर्तनेसे लोगोंको मुनीमभी धनीसा दीख पड़ताहै परन्तु वस्तुतः वह धनी नहीं होता. आपने गौतम कणाद सिद्धांतके यद्यपि मुख्य२ कईएक पदार्थोंको दूषित कियाहै तथापि नानात्मवाद उन सबमें मुख्य है. इसलिये इसमें किंचिद् हमकोभी वक्तव्य है. प्रथम नानात्मवादमें यह दोष हैं कि--जब एकआत्माके साथ मनका संयोग होताहै तो उसी कालमें उसी मनका दूसरे आत्माओंके साथ संयोगभी नियमसे होगा क्योंकि आत्माओं-को व्यापक होनेसे मनकी सन्निधि सबके साथ समान है. एवं सन्निधिरूप हेतुके समान होनेसे सबका सुख दुःख समानही होना चाहिये १। नानात्मवादीको अदृष्टोंसे व्यवस्था माननीभी कठिन है; क्योंकि अदृष्टभी तो आत्ममनःसंयोगहीसे बने हैं; उनका भी यह इसी आत्माके हैं, दूसरेके नहीं; यह निर्द्धार होना कठिन है २। यदि नानात्म-वादी कहें कि जिस आत्माने जैसे तात्पर्यसे जो क्रिया करी है वह उसीके अदृष्टोंकी जनक होसकती है, दूसरेके नहीं; तो यहभी सम्यग् नहीं क्योंकि तात्पर्यभी तो आत्ममनः-संयोगहीसे उत्पन्न होताहै जो कि सर्वत्र तुल्यही है ३ । यदि प्रदेशकृता व्यवस्था कहो अर्थात् शरीरावच्छेदेन आत्ममनःसंयोगको रागादि तथा अदृष्ट सुखादिजनकता मानो तो यहभी ठीक नहीं; क्योंकि सभी आत्मा सभी शरीरोंमें समान विद्यमानहैं. शरीरके सम्बन्धसे कोई आत्मा प्रदेशवाला नहीं होसकता और शरीरकाभी सब व्या-पक आत्माओंके साथ सम सम्बन्ध होनेसे 'यह अमुक आत्माका शरीर है' ऐसा निर्धार होना कठिन है ४ । यदि आत्माका प्रदेश मानभी लियाजाय तो जिन दो जीवा-त्माओंको समान सुख दुःख होना है उनको एकही शरीरसे होजाना चाहिये; क्योंकि दोनों जीवात्माओंके अदृष्टका कदाचित् समान प्रदेशभी होसकता है. जैसे जिस प्रदे-शमें चैत्रको जैसा सुख या दुःख अनुभव हुआहै यदि वहां उसके स्थानापन्न मैत्र नियत किया जावे तो उसकोभी वैसाही सुखदुःख देखनेमें आता है; इसलिये दो जीवा-

त्माओंका समान प्रदेशादृष्टका सम्भव होसकता है ५। एवं प्रदेशवादीको स्वर्गादि उपभोगभी नहीं होना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणादि शरीर प्रदेशेन उत्पन्न हुए अदृष्ट अतिदूर प्रदेशांतरवर्ति स्वर्गके जनक नहीं बन सकते ६। नाना आत्मा व्यापकभी नहीं होसकते; क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है ७। यदि आकाशदिक्कालादि दृष्टान्त कहो तो वेभी उत्पत्तिवाले होनेसे हमारे मतमें व्यापक नहीं हैं इत्यादि ८। यह सब २ अ०, ३ पादकी समाप्तिमें भाष्यकारने दोष दियेहैं; इनमें प्रथमके चार तो पूर्व पूर्व उत्तर२से दूषित हैं और पंचममें यह वक्तव्य है कि,दो जीवात्माके या अधिकके परस्पर अदृष्टोंका या भोगका या उनके प्रदेशका समान होनाही असम्भव है; क्योंकि हमारे मतमें आत्मसमवायि अदृष्ट प्रत्यात्म असाधारण हैं और उन अदृष्टोंके भेदको अनादि होनेसे उनका किया मनके साथ आत्माका स्वस्वामिभाव लक्षण सम्बन्धभी अनादि है. एवं आत्ममनःसंयोगके सर्वात्मसाधारण होनेसेभी स्वस्वामिभावलक्षणसबन्धको सर्वथा असाधारण होनेसे पूर्वोक्त अभिसंध्यादि व्यवस्था सर्वथा उपपन्न होसकतीहै और वास्तवविचार करें तो मनका संयोगभी प्रत्यात्मसाधारण नहींहै; क्योंकि आत्मसंयोगका प्रतिसंयोग भेदसे भेद है. इसलिये मनका आत्मान्तरोंके साथ जो जो संयोग है वह स्वस्वामिआत्माके साथ नहीं किंतु दूसरा है,इति५। एवं तत्तदात्माके तत्तद्विचित्र अनाद्यादृष्टसे प्रेरित हुए तत्तत् मन—स्वस्वामि आत्माके प्रति स्वर्ग नरकादि तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन सुखदुःखादि भोगका हेतु होसकतेहैं. प्रदेशभेद होनेसेभी अदृष्ट तथा भोगका एकात्मवृत्तित्वेन परस्पर समानाधिकरण होनेसे कार्यकारणभाव निर्बाध है.

अन्यथा मनको मध्यमपरिमाण मानकर उसमें अदृष्ट सुखादिभोगके माननेवाले वेदान्तीकोभी व्यवस्था लगानी कठिन होगी; क्योंकि उसकोभी यह पूछ सकतेहैं कि अन्तःकरणमें अदृष्टव्याप्यवृत्ति उत्पन्न होतेहैं या अव्याप्यवृत्ति?यदि व्याप्यवृत्ति कहो तो"शिरसि मे वेदना पादे मे सुखं" इत्यादि प्रतीतिकी अनुपपत्तिहोगी; क्योंकि व्याप्यवृत्तिअदृष्ट व्याप्यवृत्ति सुखादिके जनकही होने चाहिये. एवं यदि द्वितीयपक्ष कहो तो क्रिया तथा अदृष्टकी अदृष्ट तथा भोगकी समानाधिकरणानुपपत्ति होगी—इत्यादि ६। जैसे आपके एकात्मवादमें आकाश दृष्टान्त है वैसेही हमारे नानात्मवादमेंभी आकाशादि दृष्टान्त होसकतेहैं ७। यदि आकाश उत्पत्तिवालाहै तो "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः"ऐसा आपभी नहीं कहसकते और"आत्मनआकाशः सम्भूतः" इत्यादि वचनोंको देखकर बुद्धिविरुद्धअर्थको श्रौत मानना भी बुद्धिमत्ता नहींहै. आकाशादि विभुहैं,अस्पर्श द्रव्य हैं तथा निरवयव हैं इसलिये उनकी उत्पत्ति माननी अयुक्त है इत्यादि ८। यद्यपि वेदान्तीके सुषुप्ति अवस्थाके तथा नैयायिकके मनःसंयोगाभावावस्थाके जीवात्मामें किञ्चिदपि विशेष नहीं तथापि दूषित करणार्थ गौतमकणाद सिद्धान्तका अनुवाद करते हुए भाष्यकार उनके आत्माको घट कुड्यादिवत् लि-

खतेहैं. क्या जाने यह कौनसे ऋषि वचनोंका अनुवाद कर खण्डन कर रहेहैं? गौतमकणाद सिद्धान्तमें तो कहीं आत्माको घटकुड्यादिवत कहानहीं प्रत्युत "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव" इत्यादि श्रुतिसिद्धज्ञानादिगुणाधिकरण कहाहै. पुरीततीबाह्यदेशावच्छेदेनात्ममनःसंयोगसे ज्ञानका प्रादुर्भाव होना अनुभवसिद्धहै.इस विलक्षणसंयोगसे विनामुक्तिमेंभी कुछ विशेष नहीं अर्थात् सुषुप्ति एकमुक्ति अवस्थाका उदाहरणरूप है. सबीजनिर्बीज समाधि तो अन्तःकरण-की अवस्था हैं इसलिये मुक्तिका उदाहरण नहींबनसकती. एवं इसके सिवाय अन्तःकरण में या अविद्यामें आभास मानकर जीवकी सुषुप्ति या जाग्रत्की व्यवस्थाके लिये प्रतिदिन अंतःकरणका कारणरूपेणावस्थान तथा अविद्याका वृद्धिरूपेण परिणाम माननाभी बुद्धि तथा शास्त्रविरुद्ध है. विना विशेष सामग्रीके कार्य्यकी कारणरूपेण परिणति या कारण की कार्य्यरूपेण परिणतिमें संसारमात्रमें कोई उदाहरण नहींहै.उदाहरणरूपेण गृहीतदधि-दुग्धादिपदार्थ स्वविकृत्यर्थ तिक्तादि विशेषपदार्थोंकी अपेक्षा रखतेहैं- इति ।

एवं संस्कृतके पूर्ण विद्वान् लोग तो यद्यपि अच्छीतरहसे इस वार्ताको जानतेहैं कि—शं-करस्वामीने सांख्यादि सर्वदर्शनोंसे विरुद्ध एक अपनी ढाईपा जुदाही पकाई है तथा सुयो-ग्यशिष्यमण्डलीने उसकी सुगन्धि पूर्णरूपसे सर्वत्र फैलाई है तथापि आर्य्यभाषाले-खसे उसी मतको मण्डन करतेहुए निश्चलादिविद्वानोंने जिन सरल पुरुषोंको महर्षि-सिद्धान्तोंसे वंचित किया है उनके बोधका उपाय वर्तमानकालमें सर्वथा अचिन्तनीय है. शंकरमतको पुष्ट करतेहुए निश्चल कहतेहैं कि—शंकरस्वामी महादेवका अवतारहैं इसमें व्यासोक्त "कलिमें वेद अर्थ बहु करिहैं । श्रीशंकर शिव तव अवतरिहैं । जैन बुद्धमतमूल उखारैं । गंगाते प्रभुमूर्ति निकारैं ।" इत्यादि पुराण वचन प्रमाणहैं १ । एवं परमपूज्य महर्षि वाल्मीकिने जिस अर्थका सविस्तर निरूपण किया है वही शंकरस्वामीभी उत्तम रीतिसे लिखतेहैं २ । एवं युक्तिसेभी भेदवाद विरुद्ध है. वह युक्ति खण्डनादि ग्रन्थोंमें लिखी है; कठिनहैं, इसलिये यहां नहीं लिखते ३ । "एवं मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति, द्वितीयाद्वै भयं भवति; अथ योऽन्यां देवतामुपासते, अन्योऽसाऽवन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेव स देवानाम्" इत्यादि श्रुतिविरुद्ध होनेसेभी द्वैतवाद अप्रमाणिक है ४ । बस, इन चार हेतुओंसे निश्चलने शंकरमतको प्रमाणित किया है. प्रथममें यह वक्तव्य है कि विज्ञानभिक्षुने इससे विपरीतार्थ बोधक पद्मपुराणके पूर्वोक्त वचन लिखेहैं. सभी पुराणोंके कर्ता व्यासही हैं. दोनोंमें कौन वचन सच्चेहैं? सो आपही कहदीजिये. और आप कौनसे पुराणके गीत गातेहैं?यदि नाम लिखते तो देखभी लेते; परन्तु आप तो श्रद्धाके उमँगमें नाम लिखनाभी भूलगए. यदि आप कहें कि व्यासभी अनेक हुएहैं तो हमभी मानतेहैं परन्तु आपकी आख्यायिकाका मूलकारक तो कोई शंकरस्वामीक

शिष्यही व्यासदेव होगा ऐसा जानिये १। और जिस वासिष्ठ के पोथेको आप महर्षिवाल्मीकिकृत मानतेहैं वह तो शंकरस्वामीकीही शिष्यमण्डिलीमेंसे किसी शंकरानन्दादि विद्वान्‌का लेख है. आप सोचें तो सही कि यदि यह ग्रन्थ शंकर स्वामीसे प्रथम होता तो जैसे मनु गीता महाभारत विष्णुपुराणादिके वचन जगह२ पर भाष्यमें आते हैं. कोई इसका वचन या प्रकरणभी न आता? परन्तु शारीरक मात्रमें योगवासिष्ठका नाम तक नहीं है; इसलिये यह ग्रन्थ सर्वथा आधुनिक है २। खण्डन मण्डनकी युक्ति तो खड्गकी तरह वादी प्रतिवादी दोनोंको समान है वह जिसके पास दृढ होगी उसीका विजय होगा. केवल अद्वैत वादको युक्तिप्रधान मानना भ्रम है ३। एवं श्रुतिविचारमें जैसे च्छान्दोग्यमें "तद्धैके आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि वचनोंसे चार्वाक सिद्धान्त का निरास कियाहै. वैसेही "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इत्यादि कठ या वाजसनेयि वचनोंसे बौद्धोंका क्षणिक विज्ञान वाद निरास कियाहै अर्थात् जो इस आत्मामें क्षणिक विज्ञानरूपेण नानापना देखता है वह वारंवार यमयातना सहनपूर्वक जन्ममरणको प्राप्तहोता है. एवं "द्वितीयाद्वै" इत्यादि श्रुति अनुवादक अर्थवादरूपा है. भय दूसरेहीसे हुआ करताहै; इसमें किसीकोसन्देह ही नहीं; परन्तु दूसरे विद्यमानकोभी भयकी भीतिसे उसको न मानना मूर्खता है.कपोत नेत्र निमीलनसे विडालाऽभाव वस्तुतो नहीं होता एवं "अथ योऽन्यां देवतामुपासते" इत्यादि वाजसनेयि वचनकाभी अभेद भावनासे उपासनामें तात्पर्य्य है. भाव यह कि भेद भावना रखने से यदि लोक में मित्र का चित्तभी स्वच्छ नहीं रहता तो सर्वज्ञ देवतासे भेदभावना रखनेसे उपासनाका क्या फल होगा? इसीलिये भेद भावना से उपासना करने वालेको अर्थात् तन मन धन से विना देवता के नामसे केवल घंटे बजानेवाले मूर्ख भक्त को श्रुति देवों का पशु कहतीहै अन्यथा एक आत्मा में उपास्य उपासक भावादि विरुद्धधर्मोंका समावेशभी तो सर्वथा बुद्धिविरुद्ध कल्पनाहै—इत्यादि।

एवं स्वदेशीयोंका परस्पर खण्डन मण्डनावलोकनसे विदेशी विद्वानोंकोभी महर्षियों के सिद्धान्त पर आक्षेप करनेका अवसर मिला है. वह यह कहतेहैं कि 'गुरुणी द्वे' यह तथा 'द्वयोर्नैमितिको द्रवः' यह इत्यादि कई एक स्थलोंमें महर्षि कणाद का सिद्धान्त अज्ञात पूर्वक है क्योंकि हम (Baroscope,) वायु मापक यंत्रसे वायुमें बोझ का अनुभव करा सकतेहैं. एवं हिम करकादिजलमें भी नैमित्तिक द्रवण नुभव सिद्ध है इत्यादि २ इसका उत्तर हम संक्षेपसे यह कहते हैं कि यह विदेशियोंके- आक्षेप महर्षि सिद्धान्त मर्माज्ञात पूर्वकहैं; क्योंकि कणाद महर्षिने पदार्थोंके स्वरूप प्रायः दो तरहके निरूपण किये हैं; एक तात्विक स्वरूप जैसे कि "शीतस्पर्शवत्य आपः; उष्ण स्पर्शवत्तेज; रूपरहितस्पर्शवान् वायुः" इत्यादि। दूसरा साधर्म्य वैधर्म्य निरू-पणप्रसङ्गमे पदार्थोंका लोकस्थितिके अनुरोधसे

श्रीः ।

अथ न्यायसिद्धान्तमुक्तावलेर्विषयानुक्रमः ।

इति न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या अनुक्रमणिका समाप्ता ।





अथ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

भाषाटीकासमेता ।

अथ प्रत्यक्षपरिच्छेदः १.

प्रज्वालितो ज्ञानतमोऽपनोदी येन प्रदीपो मधुरैर्वचोभिः ॥
सन्मानसे मानसराजहंसं वन्दे गुरुं नानकनामकं तम् ॥ १ ॥
मूढस्तु मूढ एवास्ति तत्त्वज्ञस्त्वास्ति तत्त्ववित् ॥
तस्मादर्द्धप्रबुद्धा ये ते सन्त्यत्राधिकारिणः ॥ २ ॥

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ १ ॥

भाषा—चूडामणिरूप कियाहै चन्द्र जिनने, तथा कंकणरूप किया है वासुकि सर्प जिनने ऐसे जो स्वाभाविक नृत्यमें निपुण महादेव हैं वे हम सबके कल्याणके लिये होवें ॥ १ ॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरंतनोक्तिभिः ॥
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ॥ २ ॥

भाषा—मैं अपने राजीव नामक शिष्य पर कृपा करता हुआ, प्राचीन आचार्य्योंके अतिसंक्षिप्त सिद्धान्तानुकूल, अपनी बनाई कारिकावलीको अनायासही स्फुट करता हूं ॥ २ ॥

सद्द्रव्यागुणगुम्फितासुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका-
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताऽभावप्रकर्षोज्ज्वला ॥
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥ ३ ॥

भाषा—पृथिवी जलादि नव द्रव्योंके सहित रूपरसादि चौवीस गुणोंसे गुंफित, उत्क्षेपणादि पंचविध कर्मकी बोधक, जातिरूप सामान्य तथा विशेष और

समवायसे मिश्रित, प्रागभावादि अनेकविध अभावोंकी प्रकाशक ऐसे यह बुद्धिमें विराजमान शुभयुक्तियुक्त न्यायसिद्धान्तरूप मोतियोंकी माला विश्वनाथ पण्डितने विष्णु परमात्मा के वक्षःस्थलमें अर्पण करी हुई, पण्डित लोगोंके चित्तों को बहुत काल पर्य्यन्त आनन्द विस्तीर्ण करे ॥ ३ ॥ इस पूर्व कथनसे द्रव्यादि पदार्थवत्त्वेन रूपेण मुक्तावलीनिरूपित सादृश्य ग्रन्थमें कहा अर्थात् जैसे मोतियोंकी माला द्रव्यसाध्या है तथा गुणसे(सूत्र)से गुन्थिता है एवं पुण्यवान् पुरुषोंके पूर्वकृत सत्कर्मोंको बोधिका है, और मोतियोंकी प्राचीन जातियोंसे तथा उनमें होनेवाले महत्त्व निर्मलत्व आदि धर्मोंसे निरंतर सम्बन्धवाली है तथा तेजो-अभावमें अर्थात् अन्धकारमें प्रकर्षरूपसे उजाला करती है ॥ वैसेही यह मेरा मुक्तावलीरूप ग्रन्थभी मोतियोंकी मालाकी तरह पूर्ण गुण रखता है ॥ ३ ॥

विघ्नविघाताय कृतं मंगलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति । नूतनेति ।

भाषा-ग्रन्थ लिखनेमें जो विघ्न, उनके विनाशके लिये किये मङ्गलको शिष्य लोगोंकी शिक्षाके अर्थ (अर्थात् मेरी तरह मेरी शिष्यपरंपराभी कार्य्यमात्रके आद्यमें कृष्णपरमात्माका स्मरण करे) ग्रन्थकार, ग्रन्थके आदिमें लिखता है नूतनेति ।

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥१॥

भाषा-नवीन मेघके सदृश कान्तिवाले, तथा गोपोंकी नव युवतियोंके वस्त्र चुरानेवाले, संसाररूप वृक्षके कारणभूत जगत् प्रसिद्ध श्रीकृष्ण देवको नमस्कार है ॥ १ ॥

---

१ विघाताय । यहां वि+घात=दोपद हैं. प्रथमका नाम उपसर्ग है और द्वितीयका नाम प्रातिपदिक है, उनमें द्वितीयपदको तो स्वार्थवाचकत्व सर्वतंत्रसिद्धान्त सिद्ध है परन्तु उपसर्गपदको कई आचार्य्य वाचकत्व मानते हैं, और कई पदान्तरयोगसे द्योतकत्व मानते हैं. प्रकृतमें द्योतकत्व वादीके मतमें तो यद्यपि दोष नहीं, परन्तु वाचकत्व वादीके मतमें (उत्पत्तिवाली वस्तुका अभाव) 'घात' पदहीका अर्थ होनेसे 'वि' पद अनर्थक प्रतीत होता है; तथापि आचार्य्योंका यह संकेत है कि-जहां विशिष्ट वाचक पदके समीप विशेषणवाचक पदान्तर होय वहां विशिष्ट वाचक पदको विशेष्य मात्र वाचकत्व होता है. इससे प्रकृतमें यह सिद्ध हुआ कि-केवल 'घात' पदका अर्थ शुद्ध अभाव मात्र है, और 'वि' विशेषणके मिलानेमें "उत्पत्तिवालेका अभाव" यह अर्थ हुआ. एवं दोनों मतमें कुछ दोष नहीं.

ननु[1] मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति नवा समाप्तिं प्रति कारणं, विनापि[2] मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्न परिसमाप्ति दर्शनादिति चेत् न ।

भाषा—(शंका) विघ्नध्वंसके प्रति वा समाप्तिके प्रति मङ्गलकी कारणता नहीं है, क्योंकि मङ्गलसे विनाभी नास्तिकादिकोंके ग्रन्थोंकी निर्विघ्न समाप्ति देखी जाती है.

अविगीत[3]शिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव हि फलं कल्[4]प्यते । इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत् कल्[5]प्यते। यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्न

---

(१) यहां "मङ्गलाचरणमयुक्तं निष्फलत्वात्" इस अनुमानमें यदि कोई निष्फलत्व रूप हेतुको स्वरूपासिद्ध कहे, तो "मङ्गलं निष्फलं फलविशेषशून्यत्वात्" इस प्रयोगसे उसका वारण करनेसे प्रकृत अर्थकी सिद्धि हो सकती है. इसी तात्पर्यसे 'ननु' इत्यादि ग्रन्थ कहनेवाले वादीकी शंकाभी है.

(२) "मङ्गलं विघ्नध्वंसं प्रति तथा समाप्तिं प्रति कारणत्वाभाववत् कार्याधिकरण वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् घटं प्रति वेमवत्" यह अनुमान व्यतिरेक व्यभिचारका साधक है.

३ "एवं मङ्गलं सफलं अवगीतशिष्टाचारविषयत्वात्" यह अनुमान मङ्गलकी सफलताका साधक है.

४ "मङ्गलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलत्वे सति सफलत्वात्" यह अनुमान पूर्वोक्त व्यतिरेकव्यभिचारकावारक है. "कारणसत्त्वे कार्य्यसत्त्वमन्वयसहचारः । कारणाभावे कार्य्याभावः व्यतिरेकसहचारः । एवं कारणसत्त्वे कार्य्याभावोऽन्वयव्यभिचारः । कारणाभावे कार्य्यसत्त्वं व्यतिरेकव्यभिचारः" 'विनापि मङ्गलं' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वपक्षीने मङ्गलसमाप्तिके कार्य्यकारणभावका व्यतिरेकव्यभिचारही दिखलाया है; किन्तु अन्वयव्यभिचारका प्रदर्शन नहीं किया, परन्तु सिद्धान्तीने "यत्र च सत्यपि मङ्गले" इत्यादि ग्रन्थसे अन्वयव्यभिचारका वारण किया है. इसलिये पूर्वपक्षमें अन्वयव्यभिचारके स्थल 'कादम्बरी' आदि आस्तिक ग्रंथ जानने चाहिये.

(५) "नास्तिकग्रन्थः स्वाश्रयपुरुषप्रयत्नजन्यत्वसम्बन्धेन मङ्गलवान् । स्वप्रतियोगिचरमवर्णघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात् भारतादिवत्" यहां प्रथम 'स्व' पदसे मङ्गलका ग्रहण है और द्वितीयसे समाप्तिका ग्रहण है. इस अनुमानसे जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना होसकती है.

प्राचुर्यं वा बोध्यम् । प्रचुरस्यैव चास्य बलवत्तरविघ्न निराकरणे कारणत्वम् । विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ॥

भाषा-(समाधान) अनिन्दित जो शिष्ट पुरुषोंका प्रयत्न उस प्रयत्नका मङ्गलको विषयीभूत होनेसे मङ्गलकी सफलताका अनुमान होता है. एवं (तत्र) मङ्गलमें विशेषरूपसे फलकी जिज्ञासा हुई तो दृष्ट फलका सम्भव होय तो अदृष्टकी कल्पना करनी अयोग्य है. प्रकृतमें "आरब्धं कर्म्ममे निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्" इस कामनासे प्रवृत्त पुरुषकी कामना विषयरूपसे उपस्थित होनेसे हम मङ्गलका फल ग्रन्थकी समाप्तिरूपही कल्पना करते हैं. (इत्थञ्च) इसरीतिसे मङ्गलसमाप्ति रूप फलवाला हुआ तो जिस नास्तिकादिके ग्रन्थके आद्यमें मङ्गल न देखनेमें आवे वहांभी उस ग्रन्थकर्त्ताके पूर्व जन्म जन्मान्तरके किये मङ्गलकी कल्पना अर्थात् अनुमान कर लेना होता है और जिस (कादम्बरी) ग्रन्थविशेषकी मङ्गल होनेमेंभी समाप्ति नहीं हुई है वहां कोई बलिष्ठ विघ्न किंवा विघ्नोंका समुदाय जानना चाहिये. बलिष्ठ विघ्नविशेष अथवा विघ्नोंके समुदायके विनाशार्थ, बलिष्ठ मङ्गल समुदायहीको कारणता है. और प्राचीन आचार्य्य लोग तो विघ्नध्वंसको मङ्गलका व्यापार कहते हैं.

नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलम् । समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभा[1]दिकारणकलापात् । नचैवं स्वतःसिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । विघ्नशङ्कया तदाचरणात् तथैव शिष्टाचारात्[2] । नच तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकशिष्टाचारानुमितवेदाप्रामाण्यापत्तिरितिवाच्यम् , सति[3] विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात् । अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्राय-

(१) "बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा ॥ प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥ इस वचनसे विलक्षण बुद्धिका नाम प्रतिभा है.

(२) यहां फलसाधनांशमें भ्रांतिरहित का नाम शिष्ट है; उन शिष्टोंके आचारसे अर्थात् प्रयत्नसे अनुमित " समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् " इत्यादि वेदवचन उसको अप्रमाण्यापत्ति होगी इस वचनके अनुमापक अनुमानका आकार " मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकं अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत् " इत्यादि है.

(३) एवं स्वतः सिद्ध विघ्नविरहवाले पुरुषमें विघ्नात्मक प्रतियोगिरूप कारणके न होनेसे विघ्नध्वंसरूप कार्य्यके अनुदयकी उपपत्ति हुई तो मङ्गलमें कारणताभी अबाधित रही और कारणताबोधक वेदकोभी अप्रमाणता न हुई.

श्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् । मङ्गलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणम् । विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादिः, क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं, प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात् । इत्थं च नास्तिकादिकृतग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः स्वतः सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहुः ॥

भाषा–और चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्यायादि नवीन आचार्य्योंका यह मत है कि–मङ्गलका विघ्नध्वंसही फल है. ग्रन्थसमाप्ति तो बुद्धिप्रतिभादि (स्फुर्त्याख्यसंस्कार) कारणसमुदायसे होती है. शंका– जो पुरुष अपने कार्य्य करनेमें स्वतःसिद्ध विघ्नोंके विरहवाला है उसके किये मङ्गलको निष्फलता होगी? समा०– यह वार्ता हमको इष्ट है; क्योंकि विघ्नोंकी शंकासे उस धार्मिक पुरुषने मंगल किया है और शिष्ट पुरुषोंका आचरणभी ऐसेही है. शंका– यदि मङ्गल निष्फल होगा तो उसके बोधक शिष्टाचारानुमित वेदको अप्रमाणता होगी? समा०– विघ्नोंकी विद्यमानावस्थाहीमें विघ्नोंके नाशका बोधक वेद है अन्यथा नहीं इसीसे पाप भ्रमसे किया हुआ प्रायश्चित्त निष्फलभी है परन्तु उसके बोधक वेदको अप्रमाणता नहीं है जैसे–विघ्नध्वंस विशेषमें मङ्गल कारण है, वैसेही विघ्नध्वंस विशेषमें (विनायक) गणेशस्तुतिपाठादिभी कारण हैं और किसी स्थलमें विघ्नोंका अत्यन्ताभावही समाप्तिका साधन है. तात्पर्य्य यह, कि सर्वत्र प्रतिबन्धक संसर्गाभावहीको कार्य जनकता है. इस रीतिसे नास्तिकादिकृत ग्रन्थोंमें पूर्वजन्मकृत मङ्गलजन्य पापनाश, अथवा स्वतःसिद्धविघ्नोंका अत्यन्ताभाव समझना चाहिये. एवं व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है । 'आहुः' यह क्रियापद ' नव्याः ' इस कर्तृ पदसे अन्वित है.

संसारमहीरुहस्य बीजाय इति । संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय निमित्तकारणायेत्यर्थः।एतेन ईश्वरे प्रमाणं दर्शितंभवति। तथाहि।यथा घटादिकार्य्यं कर्तृजन्यं तथा। क्षित्यङ्कुरादिकमपि। नच तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवति । इत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वर-

---

१ क्षित्यंकुरादिकं " कर्तृजन्यं कार्य्यत्वात् " घटादिवत् यह ईश्वरसाधक सिद्धान्तिका प्रयोग है ।

२ भूमण्डलकी रचना तथा अंकुरादिकी उत्पत्ति, जीवप्रयत्नसाध्य कदापि नहीं है.

सिद्धिः। नचशरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेनसत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्,अप्रयोजकत्वात्।ममं तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेनकार्य्यकारण-भाव एवानुकूलस्तर्कः। "द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः १

- संसाररूप जो महीरुह (वृक्ष) उसका बीज अर्थात् निमित्त कारणभूत । इस पूर्व कथनसे ईश्वरमें प्रणाम भी प्रदर्शन किया है । तथाहि । जैसे घटादि कार्य्य कुलालादिकर्तासे जन्य हैं, वैसेही पृथिवीअंकुरादि कार्य्यभी कर्ताही से जन्य हैं. पृथिवीअंकुरादिका कर्ता कोई अस्मदादि जीव तो बनही नहीं सकता, इसलिये तरकर्तृत्वेन ईश्वरकी सिद्धि होसकती है. शंका—कर्तासे अजन्यत्व-का साधक जो शरीराजन्यत्वरूप हेतु, उससे ' क्षित्यंकुरादि ' अनुमान सत्प्रति-पक्ष होगा. समाधान—यह कथन सम्यक् नहीं क्योंकि शरीराजन्यत्व रूप हेतुमें अनुकूलतर्कका अभाव है और सिद्धान्तानुमानमें तो कर्तृत्वेन कार्य्यत्वेन रूपेण जो परस्पर कार्य्यकारणभाव, वही अनुकूल तर्क है. एवं अनुमानसे ईश्वर सिद्ध हुआ तो "आकाश तथा पृथ्वीका प्रादुर्भावकारक एक देव परमात्मा सदा विराजमान है. वह विश्वका कर्ता है तथा संसारका पालक है " इत्यादि-अर्थबोधक वेदवाक्यभी ईश्वरसद्भावमें प्रमाण होसकते हैं ॥ १ ॥

---

१ "क्षित्यंकुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वात् । ध्वंसविशेषवत्" यह ईश्वर निराकारक वादीका प्रयोग है; इससे सिद्धान्तीका प्रयोग सत्प्रतिपक्ष है.

२ "अप्रयोजकत्वात् । व्यभिचारशंकोत्थानेऽनुकूलतर्काभावादित्यर्थः" भाव यह है कि—वादीके प्रयोगमें यदि "शरीराजन्यत्वमस्तु कर्त्रजन्यत्वं मास्तु" इत्याकारक व्यभिचार शंकाका उत्थान होय तो उसका वारक अनुकूल तर्क नहीं मिलता, क्योंकि तर्कका स्वरूप प्रायः कार्य्यकारणभावभंगप्रसंगरूप होता है; सो प्रकृतमें वादीने " यदि कर्त्रजन्यत्वं न स्यात् तर्हि शरीराजन्यत्वमपि न स्यात् " यही कहना होगा; परन्तु इससेभी वादीके प्रयोगमें व्यभिचारशंका निवृत्त नहीं होती क्योंकि कर्त्रजन्यत्वका तथा शरीराजन्यत्वका परस्पर कार्य्यकारणभाव यदि प्रथम कहीं प्रसिद्ध होय तो उसका "न स्यात् न स्यात्" कहके भंगप्रसंग दिया जाय. सो तो कहीं प्रसिद्ध हैही नहीं इसलिये वादीका प्रयोग अप्रयो-जक है.

३ और मुझ सिद्धान्तीके प्रयोगमें तो व्यभिचार शंकाका निवर्तक "यदि कर्तृजन्यत्वं न स्यात् तर्हि कार्य्यत्वमेव न स्यात्" इत्याकारका कार्य्यकारणभाव भंगप्रसंगरूप अनुकूल तर्क मिल सकता है क्योंकि कर्तृजन्यत्वका तथा कार्य्यत्वका परस्पर कार्य्यकारणभाव प्रसिद्ध है. एवं ईश्वरसाधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष नहीं है.

पदार्थान् विभजते,द्रव्यं गुण इत्यादि–

भाषा–'द्रव्यं गुणः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पदार्थोंका विभाग दिखलाता हैं–

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ॥
समवायस्तथाऽभावःपदार्थाः सप्त कीर्तिताः॥२॥

भाषा–द्रव्यं गुणं तैसे कर्मं सामान्य विशेषं समवाय तैसे अभाव. ये सात पदार्थ न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें कथन किये हैं ॥ २ ॥

सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तमिति भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः । एते च पदार्था वैशेषिकप्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविरुद्धाः प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये । अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशंकितम् । ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात् । तथाहि । मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते । तच्छून्येन तु जन्यते । तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते । उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यते इति कल्प्यते । एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः।तद्धि न षट्सु पदार्थेष्वन्तर्भवति,सामान्येऽपि सत्त्वात् । यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः । नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादितिचेत् । न ।

भाषा–सातवां पदार्थ 'अभाव' कहनेहीसे पूर्वले षट्पदार्थोंको भावरूपता अर्थसे सिद्ध हुई, इसलिये पूर्वले षट् पदार्थोंका भावरूपसे पृथक् स्थापन नहीं किया. येही सात पदार्थ वैशेषिकशास्त्रमें प्रसिद्धहैं. तथा न्यायसिद्धान्तसेभी विरुद्ध नहीं है. इसी वार्ताको कणाद मुनिकृत सूत्रभाष्यमेंभी लिखा है इसी लिये चिन्तामणिके उपमान खण्डमें, शक्ति सादृश्य आदि पदार्थोंको उक्त सात पदार्थोंसे भिन्न होनेकी प्रभाकरके मतसे शंका करी है । जैसे शंका–शक्तिसादृश्यादि अतिरिक्त पदार्थोंके होतेभी आप सातही पदार्थ कैसे कहते हैं ? तथाहि, मणि मंत्र या औषधीके समीप होनेसे अग्निसे दाह नहीं होता और मणिआदिके समीप न होनेसे अग्निसे दाह होता है.

ऐसे स्थलमें मणिमंत्रादिसे अग्निकी दाहानुकूल शक्तिका विनाश होता है. और उत्तेजक सूर्य्यकान्तमणिके समीप होनेसे किंवा चन्द्रकान्त मणिके दूर कर देनेसे अग्निमें दाहानुकूल शक्तिकी उत्पत्ति होती है, ऐसी कल्पना होसकती है. ऐसेही सादृश्यभी एक पृथक् पदार्थ है. वह सादृश्य, द्रव्यादि षट् भावपदार्थोंके अंतर्भूत नहीं है, क्योंकि जैसे गोत्वजाति नित्य है वैसेही अश्वत्वजातिभी नित्य है. इसप्रतीतिसे सादृश्यपदार्थ सामान्यमेंभी प्रतीत होता है. भाव यह है कि, द्रव्यादि षट् भावपदार्थोंमेंसे किसीका कदापि केनचिद्रूपेण सामान्यमें भान नहीं होता और सादृश्यका होता है. इस लिये पृथक् पदार्थ मानना चाहिये. ऐसेही सद्रूपसे अर्थात् भावरूपसे प्रतीत होनेसे सादृश्यको अभावके अन्तर्भूत भी नहीं कह सकते एवं शक्ति तथा सादृश्य उक्त द्रव्यादि सप्त पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थ हैं.

मण्याद्यभावविशिष्टवन्ह्यादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वकल्पनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनानौचित्यात् । नचोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात् । सादृश्यमपि न पदार्थान्तरम्, किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् । यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति ।

भाषा-चन्द्रकान्तमणि आदिके अभावविशिष्ट अग्निको, अथवा, स्वतंत्ररूपसे मणिआदि के अभाव को दाहादि के प्रति कारण कल्पनेसे सम्यक् निर्वाह होय तो मणिआदिके समवधानासमवधानसे अनेक वार शक्तिकी उत्पत्ति तथा उसके प्रागभाव ध्वंसकी कल्पना करनी अनुचित है. शंका-उत्तेजक सूर्यकान्त मणिके सत्त्व कालमें प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणिके समीप होनेसेभी अग्निसे दाह कैसे होता है ? समा०-केवल चन्द्रकान्तमणिही प्रतिबन्धक नहीं, किन्तु उत्तेजक सूर्य्यकान्तमणिके अभावविशिष्ट चन्द्रकान्तमणि दाहके प्रति प्रतिबन्धक है और उत्तेजकाभाव विशिष्टचन्द्रकान्तमणिके अभावको दाहके प्रति कारणता है. ऐसेही सादृश्य भी उक्त पदार्थोंसे कोई पृथक् पदार्थ नहीं है; किन्तु " तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्व " ही सादृश्य है अर्थात् ' तत् ' किसीएक वस्तुसे भिन्न पदार्थमें जो उस वस्तुकी अनेक धर्म्मवत्ता, वही उस पदार्थमें सादृश्य है. जैसे चन्द्रसे भिन्न सुन्दर सुखमें, चन्द्रगत (आह्लादकत्व) सुख विशेष जनकत्वादि धर्महीं चन्द्रनिरूपित

सादृश्य है; वह सादृश्य घटक धर्म्म कहीं जातिरूप है. जैसे-घट 'सदृशःपटः' और कहीं उपाधिरूप है. जैसे-"यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपि" इत्यादि.

द्रव्याणि विभजेत, क्षित्यबिति-

भाषा-' क्षित्यप् ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकारद्रव्योंका विभाग लिखताहै-

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ॥
द्रव्याणि-

एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः ।

भाषा-पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं.

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम्, नहि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् न ।

शंका-द्रव्यत्वजातिमें क्या प्रमाण है ? यदि " द्रव्यं द्रव्यं " इस अनुगत प्रतीतिसे प्रत्यक्ष प्रमाणही कहो तो सम्यक् नहीं, क्योंकि अशास्त्री लोग घृत लाक्षादि पदार्थोंमें द्रव्य व्यवहार नहीं करते; इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे सकल द्रव्य साधारण द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि नहीं होती.

कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य[2] विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति । ननु

---

(१) समवायेन कार्य्यत्वावच्छिन्नके प्रति तादात्म्येन द्रव्यको कारणता है. कारणता अवश्य किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्ना होती है । वह धर्म्मलाघवसे जातिरूप है । अनुमानप्रमाण इसका साधक है । तथाहि । समवायसम्बन्धावच्छिन्न कार्य्यत्वावच्छिन्न कार्य्यनिष्ठ कार्य्यता निरूपिततादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता; सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटगतकार्य्यतानिरूपितदण्डगतकारणतावत् १। यद्वा समवाय सम्बन्धावच्छिन्न संयोगत्वावच्छिन्नसंयोगनिष्ठ कार्य्यता निरूपिता तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नाद्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता २ । अथवा समवायसम्बन्धावच्छिन्नविभागत्वावच्छिन्नविभागनिष्ठकार्य्यता निरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता ३ । इत्यादि इन पिछले द्वयअनुमानमें साध्य हेतु तथा उदाहरणका निवेश प्रथम अनुमानवत् करलेना. प्रथम अनुमानोंमें कार्य्यत्वधर्मको कार्य्यतावच्छेदक माननेमें उपस्थितिकृत गौरव है. इसलिये द्वितीय कहा. द्वितीयमेंभी नित्यसंयोगवादीके मतसे संयोगत्वावच्छिन्ना कार्य्यता अप्रसिद्ध है, इसलिये तृतीय कहा. नित्यविभागका आश्रय कोई द्रव्य नहीं है, इसलिये विभागत्वावच्छिन्ना कार्य्यता अप्रसिद्ध नहीं है.

दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्। तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते, तस्य च रूपवत्त्वात्कर्म्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तच्चगन्धशून्यत्वात् न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्।तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत्,न, आवश्यकतेजोऽभावेनोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्म्मवत्त्वप्रतीतिरप्यालोकापसारणोपाधिकीभ्रांतिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पना गौरवं चस्यात्। स्वर्णस्य यथातेजस्यान्तर्भावस्तथाऽग्रे वक्ष्यते॥

भाषा—कार्यकी समवायि कारणताकी अवच्छेदक होनेसे संयोगकी अथवा विभागकी समवायि कारणताकी अवच्छेदक होनेसे द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि होती है. **मीमांसक शंका**—दशम द्रव्य अन्धकार क्यों नहीं कहा ? उसका नेत्रोंसे ग्रहणभी होसकता है. और नील रूपवाला होनेसे, तथा गमनादि क्रियावाला होनेसे उसमें द्रव्यरूपता सिद्ध है. गन्धशून्य होनेसे वह पृथिवीरूप नहीं है नीलरूपवाला होनेसे जलादि स्वरूपभी नहीं है. और उसके प्रत्यक्षमें प्रकाशकी सहायतासे विनाही नेत्र इंद्रियको कारणता है॥ एवं दशम द्रव्य अन्धकारभी माननीय है. **समाधान**—उष्ण स्पर्श तथा भास्वर रूपवाला होनेसे अवश्य माननीय जो तेजःपदार्थ, उसके अभावमेंही यदि अन्धकार व्यवहार होसके तो और अधिक पृथक्द्रव्यकी कल्पना करनी अनुचित है और उसमें रूपवत्ता प्रतीति तो भ्रमरूपहै. एवं कर्मवत्त्व प्रतीतिभी प्रकाशापसरण रूप उपाधिबलसे भ्रमरूपा है. अन्धकारको पृथक् द्रव्य माननेसे, उसके अनेक अवयव, तथा तिनके उत्पत्ति विनाश कल्पना करनेमें गौरवभी होता है. इसलिये अन्धकार पृथक् द्रव्य नहीं है और सुवर्ण जैसे तेजः पदार्थ के अन्तर्भूत है, वैसे तेजो निरूपण अवसरमें कहेंगे ॥ ३ ॥

गुणान् विभजते, अथ गुणा इति—

'अथगुण' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार गुणोंका विभाग दिखलाता है—

—अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ॥
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

भाषा—रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न गुरुत्व द्रवत्व स्नेह संस्कार (अदृष्ट) धर्म्म अधर्म्म और शब्द ये चतुर्विंशति गुण हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतश्च शब्देन च दर्शिताः तत्र गुणत्वादिकजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषा—शेषपद कारिकामें केवल पादपूर्तिके लिये हैं.ये चौवीस गुण कणाद मुनिने अपने सूत्रोंमें कंठसे पढ़े तथा 'च' शब्दसे दिखलाये हैं, अर्थात् "प्रयत्नाश्च गुणाः" ऐसे सूत्रके अन्तमें लिखा है.इससे यह सिद्ध हुआ कि १७गुण कंठसे पढ़े हैं और ७ 'च' शब्दसे दिखलाए हैं. उन गुणोंमें गुणत्वादि जातिकी सिद्धि गुणनिरूपणावसरमें दिखलाई जायगी ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

कर्माणि विभजते, उत्क्षेपणमिति—

भाषा—'उत्क्षेपणं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कर्म्मोंका विभाग दिखलाताहै—

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ॥
प्रसारणंच गमनं कर्म्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

भाषा—वस्तुका ऊपरको क्षेपण करना तैसे नीचेको क्षेपण करना.पटादि विस्तृत पदार्थोंको संकोचना,तैसे संकुचित पदार्थोंको विस्तृत करना एवं परिच्छिन्न पदार्थकी गमन क्रियाको मिलाकर यह पांचप्रकारका कर्म है ॥ ६ ॥

कर्म्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥

भाषा—चलनाकार अनुगत प्रत्यय ज्ञान होनेसे कर्म्मत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है. ऐसे कर्म्मत्वजातिकी व्याप्य उत्क्षेपणत्व आदि जातियांभी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ॥ ६ ॥

नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्म्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह । भ्रमणमित्यादि ।

शंका—यहां भ्रमणादि पांचकर्म्म औरभी क्यों नहीं कथनाकिये ? समाधान—इसी शंकाके उत्तरमें 'भ्रमणं' इत्यादि ग्रन्थको मूलकार स्वयं लिखताहै—

भाषा-न्यायसिद्धान्तमें घटपटादि यावत् पदार्थ अपने २ घटत्व पटत्वादि धर्म्मोंसे परस्पर पृथक् बनेरहते हैं, परन्तु विशेष पदार्थ उनसे उलटाहै; अर्थात् नित्य द्रव्योंको पृथक् करता हुआ आप स्वयं पृथक् बना रहता है. यही इसका स्वरूप है. अब इससे उलटा यदि इसमें विशेषत्व धर्म्म मानलिया जाय तो इसके 'स्वतो व्यावृतत्व' रूप वास्तव स्वरूपकी हानि होगी, याते विशेषत्व धर्म्म जातिरूप नहीं है ॥ ७ ॥ जाति अपने अधिकरणोंमें समवायसम्बन्धसे रहतीहै, यह पूर्व कहचुके हैं. एवं इसमें समवायसम्बन्धके अभावसे समवायमें समवायत्व धर्म्म जातिरूप नहीं है ॥६॥ अधिक देशमें रहनेवालीका नाम परसत्ता है; और न्यून देशमें रहनेवालीका नाम अपरसत्ता है. घटत्वादि यावत् जातियोंकी अपेक्षा अधिक देशमें रहनेवाली होनेसे सत्ता पर है इसी वार्त्ताके बोधनार्थ मूलमें "द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु" अर्थात् द्रव्यादि तीनमें रहनेवाली कहा. सत्ताकी अपेक्षासे घटत्वादि यावत् जातियां अपर हैं ॥ ८ ॥

परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परा परतयोच्यते ॥ ९ ॥
व्यापकत्वात्परापि स्याद्व्याप्यत्वादपरापि च ॥

भाषा-परसत्तासे भिन्न जातिको अपरजाति कहतेहैं और द्रव्यत्वादिक जातियां तो पर भी हैं तथा अपरभी हैं ॥ ९ ॥ जात्यन्तरकी अपेक्षया व्यापक होनेसे वही जाति पर कही जाती है. तथा व्याप्य होनेसे उसीमें अपर व्यवहार होताहै.

व्यापकत्वादिति। पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद्द्रव्यत्वादेः परत्वम् । सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वादल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम् । तथाच धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम् ।

भाषा-पृथिवीत्वादि जातियोंकी अपेक्षासे व्यापकरूपसे अधिक देशमें वर्तनेवाली होनेसे द्रव्यत्व आदि जातियोंको परत्व है. तैसे सत्ताकी अपेक्षा व्याप्यरूपसे अल्प देशमें रहनेवाली होनेसे द्रव्यत्वादि जातियोंको अपरत्व है. इस रीतिसे एक व्यक्तिमें धर्म्मद्वयका समावेश परस्पर विरुद्ध नहीं है.

विशेषं निरूपयति, अन्त्य इति—

भाषा—'अन्त्यः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार विशेषका निरूपण करता है—

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्त्तितः ॥१०॥

भाषा—नित्य द्रव्योंके अवसानमें वर्त्तनेवालेका नाम विशेष कथन किया है॥१०॥

अन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्यो यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः । एकमात्रवृत्तिरिति फलितोऽर्थः । घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात् परस्परं भेदः परमाणूनां परस्परं भेदको विशेष एव। स तु स्वत एव व्यावृत्तस्तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः ।

भाषा—अन्तमें अर्थात् अवसानमें जो वर्त्ते उसका नाम 'अन्त्य' है, अर्थात् जिसकी अपेक्षा दूसरा कोई विशेष नहीं है. फलितार्थ यह कि—विशेष पदार्थ प्रत्येक नित्य द्रव्यकी एक व्यक्तिमात्रमें रहता है. घटादि स्थूलकार्य्योंसे लेकर द्व्यणुकादि सूक्ष्म कार्य्योंपर्य्यन्त अपने २ कपालपरमाणु आदि अवयवोंके भेदसे परस्पर भेद है, परन्तु परमाणुओंका परस्पर भेदक विशेष पदार्थही है; वह आप स्वतः व्यावृत्तस्वरूप है, इससे उसमें विशेषान्तर कल्पना करनेकी अवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

समवायं दर्शयति, घटादीनामिति—

भाषा—'घटादीनां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार समवायको दिखलाताहै—

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्म्मणोः ॥
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

भाषा—घटादि कार्योंका अपने कारण कपालादिकोंके साथ, तथा गुणकर्मोंका द्रव्योंके साथ, एवं जातिका द्रव्यगुण कर्म्म तीनोंके साथ जो सम्बन्ध, उसका नाम समवाय कहाहै ॥ ११ ॥

---

१ यहां ईश्वरकी नित्यज्ञानवत्त्वेन तथा आकाशकी शब्दसमवायिकारणत्वेन व्यावृत्तिको मानते हुए विशेष पदार्थके माननेवालेभी कईएक पण्डित लोग ईश्वरमें तथा आकाशमें विशेषपदार्थकी वृत्तिता नहीं मानते हैं, और नवीन लोग तो यह कहते हैं कि—विशेषके अतिरिक्त पदार्थ माननेमें कोई प्रमाण नहीं है. जैसे—विशेष पदार्थ स्ववृत्ति धर्म्मसे विना स्वयं व्यावृत्त हैं, वैसेही नित्य द्रव्योंकोभी मान सकते हैं. एवं विशेष पदार्थके अतिरिक्त माननेका कुछ उपयोग नहीं.

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतो-र्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम् ।

भाषा-अवयव अवयवी का जाति व्यक्ति का गुण गुणी का क्रिया क्रियावालेका, नित्य द्रव्य विशेष का जो सम्बन्ध, उसका नाम समवाय है. समवाय नाम नित्य होनेवाले सम्बन्ध विशेषका है.

तत्र प्रमाणं तु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्ध विषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डीपुरुष इतिविशिष्टबुद्धिवदित्यनु मानेन संयोगादि बाधात् समवायसिद्धिः। नच स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनम् । अर्थान्तरं वा अनन्तस्वरूपाणां सम्बधत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धेः । नच समवास्यैकत्वे वायौ रूप वत्ता बुद्धिप्रसङ्गः तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाभावात् ।

भाषा-उसकी सिद्धिमें अनुमान प्रमाण है. जैसे ' दण्डी पुरुषः ' यह विशिष्ट बुद्धिः दण्डरूप विशेषण तथा पुरुषरूपं विशेष्य, दोनोंको ग्रहण करती हुई, उन दोनोंके संयोगरूप सम्बन्धकोभी विषय करती है. वैसेहि, गुण क्रियादि विशिष्ट बुद्धिभी विशिष्ट बुद्धि होनेसे गुणक्रियादि विशेषण तथा गुणक्रियादिमान् विशेष्य इन दोनोंको विषय करती हुई इन दोनोंके सम्बन्धकोभी विषय करती है.

---

१ शंका-यद्यपि लाघवसे एक समवाय सिद्ध होनेसे प्राचीनोंके मतमें दोष नहीं तथापि समवाय नाना माननेवाले नवीनोंके मतमें उक्तानुमानसे समवायसिद्धि नहीं होती। किन्तु समवाय नाना कल्पनाकी अपेक्षा स्वयं उपस्थित स्वरूप नाना मानने‌ही उचित हैं. (समा०) नव्यमतमें समवायेन पटकार्य्यके प्रति तादात्म्येन तन्तुओंको हेतुता है. पटमें रहनेवाली कार्य्यताका अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय है. शंका-समवायके स्थानमें स्वरूप सम्बन्ध मानके भी कार्य्य कारण भावकी कल्पना होसकती है (समा०) एवं जिसमें समवायेन कार्य्यकी उत्पत्ति होती है वह समवायि कारण है.) यह समवायिकारणकी व्यवस्था न रहेगी. शंका-जिसमें सम्बद्ध होकर कार्य्य उत्पन्न होय वह समवायि कारण ऐसा कहनेसेभी निर्वाह होसकता है. (समा०) ऐसे कहनेसे कपालोंमें सम्बद्ध जो घटका ध्वंस उसके प्रतिभी कपालोंको समवायि कारणता माननी होगी यह उचित नहीं इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकार्य्यमें रहनेवाला जो कार्य्यतारूप धर्म्म, उसका अवच्छे-दक सम्बन्ध समवाय है. एवं कार्य्यतावच्छेदक सम्बन्धविधया नव्यमतमेंभी समवाय की सिद्धि हुई.

इस अनुमानसे संयोगसम्बन्धका तो प्रकृतमें बाध है इसलिये समवायही की सिद्धि होती है; क्योंकि संयोग दो द्रव्यपदार्थों हीका होताहै. शंका–अयुत सिद्ध पदार्थोंका स्वरूप सम्बन्ध कहनेवाले मीमांसकके मतमें इस अनुमानसे सिद्ध साधन हुआ और समवायसाधनेके लिये प्रवृत्त नैयायिकको अर्थान्तर हुआ, अर्थात् समवायसाधनार्थ प्रवृत्त नैयायिकको स्वरूपकी सिद्धि हुई तो अर्थान्तर हुआ. समाधान–अनेक स्वरूप सम्बन्ध कल्पना करनेमें गौरव है, इससे लाघवसे प्रकृता नुमानद्वारा एक समवाय की सिद्धि माननीही उचित है. शंका–यदि समवाय एक है तो स्पर्शसमवाय तथा रूपसमवायको एक होनेसे वायुमें रूपवत्ता बुद्धिको प्रमात्व होना चाहिये. समाधान–वायुमें रूपसमवायके होनेसेभी प्रतियोगित्व सम्बन्धसे रूपके वहां न होनेसे वायुमें रूपवत्ता प्रतीति नहीं होती.

न चैवमभावस्यापि वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिद्ध्येदिति वाच्यम्, तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसंगात्, घटाभावस्य तत्र सत्वात्,तस्यच नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रीतिर्न स्यात्, वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्वात्,ममतुमतेघटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वात् न तद्वत्ताबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम्। इत्थंच तत्तत्कालीनतत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः॥११॥

शंका–इसरीतिसे अभावका भी भूतलादिकोंमें 'वैशिष्ट्य' संज्ञक सम्बन्धान्तर अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होगा. समा०–अतिरिक्त मानना यदि आपको अंगीकार होय तो हम पूछते हैं कि–क्या वह वैशिष्ट्य नित्य है अथवा अनित्य है? यदि नित्य कहो तो भूतलमें घट लानेके पश्चात्भी घटाभाव बुद्धि होनी

१ अर्थात् "घटाभाववद्भूतलं" इत्यादि ज्ञानकालीन घटाभावविषयक बुद्धिविशिष्ट तत्तद्भूतलादिक तत्तदभावोंका स्वरूपसम्बन्ध है. भाव यह कि–तत्तत्क्षणात्मक कालभी अभावके स्वरूपमें विशेषणरूपेण भान होताहै ऐसा हमको अभिमत है. एवं यद्यपि घटात्यन्ताभाव स्वरूपेण भूतलादिकोंमें नित्य है इसलिये घट विद्यमान दशामेंभी "घटाभाववद्भूतलं" इत्याकारक बुद्धि हुई चाहिये॥ तथापि "घटाभाववद्भूतलं" इत्यादि ज्ञानकालिक तत्तत्क्षणरूप विशेषणके अभाव होनेसे घटसत्त्वकालमें घटाभावावगाहनी प्रतीति नहीं होसकती क्योंकि उस कालमें तत्तत्क्षणरूप विशेषणके न होनेसे विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव कह सकते हैं.

चाहिये, क्योंकि घटाभाव नित्य है, याते घटवाले भूतलमेंभी घटाभाव सिद्ध है (अन्यथा) घटाभावको अनित्य मानो तो घटशून्यदेशमेंभी घटाभावकी प्रतीति नहीं हुई चाहिये; क्योंकि घटाभाव सर्वत्र एक जैसा है, सो वह घटके लानेसे नाश हो चुका है और अभाव का 'वैशिष्ट्य' संज्ञक सम्बन्ध तो घट के लानेसेभी भूतलमें विद्यमान है. शंका— समवायको एक माननेवाले तुम सिद्धान्तीके मतमेंभी अग्निसंयोगसे रक्त हुए घटमें प्रथम होनेवाले श्यामरूपका समवाय तो है, वहां श्यामरूपवत्ता बुद्धि होनी चाहिये? समाधान— मेरे मतमें तो घटकी पाकरक्तता दशामें श्यामरूपका नाश हुआ है, उसके समवायके होनेसेभी प्रतियोगित्वसम्बन्धसे उसके न होनेसे 'तद्वत्ता बुद्धि' नहीं होती; क्योंकि प्रत्यक्षमें विषयकोभी विषयत्वेन कारणता है और तुम यदि 'वैशिष्ट्य' को अनित्य मानो तो अनन्त वैशिष्ट्य कल्पनामें तुमको गौरवभी होगा. शंका— वैशिष्ट्यको न मानकर यदि घटाभावकाभूतलादिमें स्वरूपसम्बन्धभी माने तो तौभी पूर्ववत् घटवाले भूतलमेंभी घटाभावबुद्धि होनी चाहिये? समाधान—हमारे मतमें केवल स्वरूप मात्रही सम्बन्ध नहीं है; किन्तु, घटाभावज्ञानकालमें जिस जिस भूतलमें घटाभाव बुद्धि है वह वह भूतलादिकही उस उस अभावका स्वरूपसम्बन्ध विशेष है, इस रीतिसे पूर्वोक्त अतिप्रसंगभी नहीं है ॥ ११ ॥

अभावं विभजते, अभावस्त्विति--

भाषा—'अभावस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अभावका विभाग दिखलाता है.—

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योऽन्याभावभेदतः ॥

भाषा—संसर्गाभाव तथाअन्योन्याभाव भेदसे अभाव दो प्रकारका है.

अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योऽन्याभाववत्त्वम्[1]। संसर्गेति। संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः। अन्योन्याभावस्यैकविधत्त्वात्तद्विभागाभावात्।

भाषा—द्रव्यादि षट्कसे भिन्नका नाम अभाव है. यह सामान्यरूपसे अभावका लक्षण है. वह अभाव संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव भेदसे दो प्रकारका है. अन्योन्याभावको एक तरहका होनेसे उसका विभाग नहीं है.

---

१ यह अभावका लक्षण अन्योऽन्याभावघटित है और वक्ष्यमाण अन्योन्याभावका लक्षण सामान्यरूपसे अभावघटित है. एवं यह लक्षण परस्पराश्रयरूप दोषसे दूषित हुआ, इस लिये समवाय सामानाधिकरण्यान्यतर सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक सत्ताभावरूप ही अभावका निर्वचन मानना उचित है.

संसर्गाभावं विभजते, प्रागभाव इति—

भाषा—'प्रागभाव' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संसर्गाभावके विभागको दिखलाताहै-

प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥

भाषा—प्रागभाव तैसे ध्वंस और अत्यन्ताभाव ॥ १२ ॥ एवं तीन भेदोंको प्राप्त हुआ एकही संसर्गाभाव है.

संसर्गाभावत्वं अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योऽन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् । नित्यसंसर्गाभावत्वं अत्यन्ताभावत्वम् । यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धावटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः । तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित् ।

भाषा—अन्योन्याभावसे भिन्न अभावका नाम 'संसर्गाभाव' है और जिसकी तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता होय उसका नाम 'अन्योन्याभाव' है; विनाश होनेवाले अभावका नाम 'प्रागभाव' है. एवं उत्पन्न होनेवाले अभावका नाम ध्वंस है. अधिकरणपदार्थमें वस्तुके सदा सम्बन्धाभावका नाम 'अत्यन्ताभाव' है. जहां किसी एक भूतलदेशसे घटादि निकाल दिये और कालान्तरमें फिर वहांही स्थापन किये; वहां विशेषणरूप वर्तमान घटकालको अभावके स्वरूपसम्बन्धमें अप्रविष्ट होनेसे अत्यन्ताभावके नित्य होनेसेभी घटकालमें घटात्यन्ताभावबुद्धि नहीं होती. कई एक आचार्य्य ऐसे स्थलमें उत्पत्तिविनाशवाला चौथा अभाव मानते हैं.

अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम्। श्यामघटे रक्तो नास्तीति, रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते, नतु तदत्यन्ताभावम् । नव्यास्तु तत्र

---

१ द्वितीय नाम इसका शास्त्रमें सामयिकाभाव है- समयविशेषमें होनेवालेका नाम 'सामयिकाभाव' है.

विरोधे मानाभावाद्ध्वंसादिकालावच्छेदेनाऽप्यत्यन्ताभावो वर्तत इतिप्राहुः।नन्वस्त्वभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेत्, न,अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनामपेक्ष्यातिरिक्तकल्पनायाएव लघीयस्त्वात् । एवं चाधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते । एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते, अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात् । एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमत्यन्ताभावस्येति प्रत्युक्तम्, अप्रत्यक्षत्वापत्तेः ।

भाषा-यहां प्राचीनाचार्य्योंका यह सिद्धांत है कि-ध्वंस तथा प्रागभावके अधिकरणमें अत्यन्ताभाव नहीं रहता है. 'श्यामघटमें रक्तरूप नहीं है तथा रक्तघटमें श्यामरूप नहीं है,' इत्यादि प्रतीतिसे रक्तरूपके प्रागभावका तथा श्यामरूपके ध्वंसका अवगाहन होता है; किन्तु, उनके अत्यन्ताभावका अवगाहन नहीं होता, क्योंकि प्रागभावका तथा ध्वंसका अत्यन्ताभावके साथ विरोध है और नवीन तो यह कहते हैं कि-उनके परस्पर विरोधमें कोई प्रमाण नहीं. जिस कालमें ध्वंस तथा प्रागभाव रहते हैं उसी कालमें अत्यन्ताभावभी उसी अधिकरणमें रहताहै प्रभाकर शंका-लाघवसे अभावोंको तत्तदधिकरणस्वरूपही मानना उचित है. समा०-अनेक अधिकरणस्वरूप कल्पनाकी अपेक्षा अभावोंकी अतिरिक्त कल्पनाही लघुभूता है. एवं अभावोंको अधिकरणोंसे अतिरिक्त माननेसे उनका आधाराधेयभावभी बनसक्ता है. ऐसे माननेसे 'तत् तत्' शब्द गन्धरसादिकों के अभावका प्रत्यक्षभी बनसकता है. (अन्यथा) अभावोंको अधिकरण स्वरूप माने तो अभावोंका साक्षात्कार नहीं होगा; क्योंकि शब्द गन्ध रसादिके अभावके अधिकरण भूतलजलादि श्रोत्रघ्राणादि इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं. अभावोंको अधिकरणस्वरूप माने तो उनका ग्रहणभी नहीं होगा.इस वक्ष्यमाण कथनसे अत्यन्ताभावको ज्ञानविशेषस्वरूप, अथवा कालविशेषस्वरूप माननेवालोंका सिद्धान्तभी खण्डित किया, क्योंकि ऐसे माननेसे अत्यन्ताभावका प्रत्यक्ष नहीं होगा.

---

१ शंका-अभावाधिकरणका भावको तथा अभावप्रतियोगिताक अभावको जैसे आपने अधिकरणस्वरूप मानकेभी आधाराधेय भावकी उपपत्ति करी है वैसेही प्रत्येक स्थलमें अभावको अधिकरणस्वरूप मानकर आधाराधेय भावभी मानलिया जाय तो हानि क्या है? समा०-इस रीतिसे इस दोषके वारण कियेभी 'तत्तत्' शब्द गन्धरसादिके अप्रत्यक्ष होनेका दोष बना है इसी तात्पर्यसे मुक्तावलीकारने " एवंच "इत्यादि ग्रन्थसे द्वितीय दोष लिखाहै.

इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते, सप्तानामित्यादि–

भाषा–अब 'सप्तानां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पदार्थोंके समानधर्म्म तथा विरुद्ध धर्मोंको कहता है–

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

भाषा–द्रव्यादि सात पदार्थोंका समानधर्म्म ज्ञेयत्वादिक कहाहै ॥ १३ ॥

समानो धर्मो येषां ते सधर्माणस्तेषां भावः साधर्म्यम्, समानो धर्म इति फलितोऽर्थः । एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणस्तेषां भावो वैधर्म्यम्, विरुद्धो धर्म इति फलितोऽर्थः । ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता, साच सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात् ।एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् १२॥३१

भाषा–जितने पदार्थ परस्पर एक धर्म्मवालेहैं,उनमें रहनेवाले धर्म्मका नाम समान धर्म्म है. एवं जितने पदार्थ परस्पर विपरीतधर्म्मवाले हैं उनमें रहनेवाले धर्म्मका नाम विरुद्ध धर्म्म है. 'ज्ञेयत्व' शब्दसे ज्ञानकी विषयताका ग्रहण है. वह ज्ञानकी विषयता सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि ईश्वर और योगीकी ज्ञानीय विषयताको केवलान्वयि मानाहै. एवं 'अभिधा' नाम संकेतका है. उस संकेतीय विषयताका नाम 'अभिधेयत्व' है. एवं 'प्रमा' नाम पदार्थज्ञानका है. उसकी विषयताका नाम प्रमेयत्व है. यहां आदि शब्दसे अस्तित्व कालसम्बन्धित्व आदि धर्म्मोंका ग्रहण है. द्रव्यादिषट्का समानधर्म्मभावत्व प्रसिद्ध है; इससे उसको छोड़कर पश्चोंका कहता है ॥

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ॥

भाषा–द्रव्यादि पञ्च पदार्थ भावरूप हैं, अनेक हैं तथा समवायी हैं ॥

द्रव्येति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च । यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति, तथाऽप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम् । तथाचानेकभाववृत्तिपदार्थ-

---

१ विषयमें रहनेवाले ज्ञानादिनिरूपित धर्म्मविशेषका नाम विषयता है.

२ यावत् पदार्थोंमें रहनेवाले धर्म्मोंको न्यायसिद्धान्तमें केवलान्वयी माना है.

विभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः ।

भाषा–द्रव्य गुण कर्म्म सामान्य विशेष इन पञ्चोंका समानधर्म्म अनेकत्व तथा समवायित्व है. यद्यपि अनेकता अभावमेंभी है उसमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी तथापि अनेकत्वविशिष्ट भावत्व पञ्चोंका समान धर्म्म है; इसकाभी अनेकभाव पदार्थोंमें वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजक द्रव्यत्व गुणत्वादि उपाधि तादृश उपाधिमत्त्वं ऐसा अर्थ करना. एवं प्रत्येक घटादिव्यक्तिमें वा आकाशादि लक्षोंमें लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है. अन्यथा अनेकत्वविशिष्टभावत्व प्रत्येक घटमें तथा आकाशादिमें नहीं है. अव्याप्ति अवश्य होगी.

समवायित्वं समवायसम्बधेन सम्बन्धित्वम्, नतु समवायवत्त्वं सामान्यादावभावात्। तथाच समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः। तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः ।

भाषा–समवायिशब्दका अर्थ समवायसम्बन्धसे सम्बन्धवाला है; किन्तु अनुयोगितासम्बन्धसे समवायवाला इतनामात्र नहीं है; क्योंकि सामान्य तथा विशेषमें समवायसम्बन्धसे कोई पदार्थ नहीं रहता, इसकाभी समवेतपदार्थमें वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजकद्रव्यत्वगुणत्वादि उपाधि तादृश 'उपाधिमत्त्वं' ऐसा अर्थ करना. एवं ऐसा जातिघटित विवरण करनेसे भूतलादि चतुष्टयके परमाणु तथा आकाशादि पञ्च इन नित्य द्रव्योंमें अव्याप्ति नहीं है. यहां "समवेतसमवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं" द्रव्यादि चारोंका समान धर्म्मभी जानना चाहिये.

सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः–

भाषा–आद्यके तीन पदार्थोंका सत्तावत्त्व समान धर्म्म है.

–गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

भाषा–एवंगुणादि षट्का निर्गुणत्व निष्क्रियात्त्वरूप समान धर्म्म है ॥ १४ ॥

सत्तावन्तइति। द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः ।

भाषा–द्रव्य, गुण और कर्म्म, इन तीनोंका सत्तावत्व समान धर्म्म है.

गुणादिरिति।यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्य[1]क्षणे घटादावतिव्याप्तम्,

---

१ सह उत्पन्नोंका कार्य्यकारण भाव संसारमें अदृष्ट चर है. एवं परस्पर कार्य्यकारणभावके अनुरोधसे घटादि कार्य्यद्रव्योंसे क्षणमात्र पीछे गुणक्रियादिकी उत्पत्ति मानी है.

क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तम् । तथापि गुणवदवृत्तिधर्म-वत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं तदर्थः । नहि घट-त्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा। किन्तु गुणत्वा-दिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ।

भाषा—यद्यपि गुणशून्यता तथा क्रियाशून्यता प्रथमक्षणमें घटादि कार्य्योंमेंभी है वहां गुणादि लक्षणकी अति व्याप्ति होगी. एवं क्रियाशून्यता गगनादिमेंभी है. वहांभी उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी तथापि उक्त लक्षणका 'गुणवत् जो द्रव्य उसमें न वर्तनेवाले जो गुणत्वादि धर्म्म तादृशधर्म्मवत्त्व' ऐसा विवरण करना उचित है. किंवा 'क्रियावाला जो द्रव्य उसमें न वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजकगुणत्वादि उपाधि तादृश उपाधिमत्त्व' ऐसा विवरण करना उचित है. एवं घटादिमें दोष नहीं है. क्योंकि घटत्वादि धर्म किंवा द्रव्यत्वरूप धर्म्म गुणवालेमें वा क्रियावालेमें न वर्तनेवाला नहीं है, किन्तु वर्तनेवालाही है. गुणक्रियावालेमें न वर्तनेवाले धर्म्म गुणत्व कर्म्मत्वादि हैं तादृश धर्म्मवत्ता गुणकर्म्मादिमें सिद्ध है. आकाशत्वादि धर्म्म तो पदार्थविभाजक उपाधि नहीं हैं किन्तु द्रव्यविभाजक उपाधि हैं. एवं उनमेंभी दोष नहीं है.

यद्वा गुणवद्वृत्तित्व सति कर्मवद्वृत्तित्वे सति वा सत्ताव्याप्य-जातिशून्यभावत्वं विवक्षितम् । गुणकर्मणोरव्याप्तिवारणाय गुणवद्वृति कर्मवद्वृत्तीति वा । पुनस्तत्रैवाव्याप्तिवारणाय सत्ताव्याप्येति । व्याप्तिश्च भेदगर्भा निवेशितेत्यतो न दोषः । द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय तत्रैवाव्याप्तिवारणाय जातीति । अभावेऽतिव्याप्तिवारणाय भावत्वमिति । गुणवद्वृत्तिः सत्ताव्या-प्यजातिर्द्रव्यत्वं तच्छून्यत्वं पञ्चानामस्त्येव ।

भाषा—अथवा गुणवालेमें वर्तनेवाली तथा कर्मवालेमें वर्तनेवाली जो सत्ताकी व्याप्य 'द्रव्यत्व' रूपा जातिः तादृशजातिशून्यभावत्व' गुणादि पञ्चोंका समान धर्म है. यहां गुणमें तथा कर्म्ममें अव्याप्तिवारणार्थ गुणवालेमें तथा कर्म्मवालेमें वर्तनेवाली ऐसा कहा. केवल सत्ताके ग्रहण करनेसे पुनः गुणकर्म्ममें होनेवाली अव्याप्तिके वारणार्थ 'सत्ताव्याप्यजाति' ऐसा कहा यहां व्याप्यव्यापकभावकी व्याप्ति भेदगर्भिता विवक्षणीय है. (अन्यथा)समानाधिकरणरूप व्याप्ति माने तो 'स्व' में स्व-

व्याप्यत्वकेभी होनेसे सत्ताकी व्याप्यजाति सत्ताभी होगी. उस सत्तासे शून्यगुण कर्म्मादि नहीं हैं. उनमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होगी, उस अव्याप्तिके वारणार्थ भेदगर्भित व्याप्तिका निवेश करना उचित है "स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगित्वम्" यह उसका स्वरूप है. यहां दोनों 'स्व' पदसे व्यापकसत्ताका ग्रहण है. ऐसे द्रव्यत्वरूप व्याप्य सत्तामें द्रव्यान्तर्भावेन व्यापक सत्ताके साथ समानाधिकरणत्वभी है. और गुणान्तर्भावेन सत्तासमानाधिकरणमें जो भेद, तादृश भेदप्रतियोगित्वभी है. ऐसी व्याप्ति माननेसे पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं. सत्ताका व्याप्य द्रव्यगुणादि अन्यतरत्वस्वरूप अखण्डोपाधिरूप धर्म्मभी है उससे शून्य गुणादि नहीं हैं. लक्षणकी अव्याप्ति होगी उसके वारणार्थ 'जाति' पद कहा. अभावमें अतिव्याप्तिवारणार्थ भावत्वका निवेश किया. गुणवालेमें वर्तनेवाली सत्ताकी व्याप्य जाति (द्रव्यत्व) रूपा है. उससे शून्यत्व गुणादि पांचोंको हैं.

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ॥

भाषा-सामान्यादि सर्व पदार्थोंका सामान्यशून्यत्व समानधर्म्म है.

सामान्येति । सामान्यानाधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् सामान्यादि चारों पदार्थ सामान्यके अधिकरण नहीं हैं.

पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥१५॥

भाषा-पारिमाण्डल्यसे भिन्न पदार्थोंका कारणतारूप समान धर्म है ॥ १५ ॥

पारिमाण्डल्येति । पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं कारणत्वं तद्भिन्नानामित्यर्थः । अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम् । तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्, तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्, महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसंगात् । एवं परम-

---

१ परमाणु तथा द्व्यणुकके परिमाणका नाम अणुपरिमाण है.

२ "तद्धि अणुपरिमाणं हीत्यर्थः । यदि कारणं स्यात्तदा स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्" अर्थात् परमाणुका परिमाण द्व्यणुकके परिमाणका वा द्व्यणुकका परिमाण त्र्यणुकके परिमाणका असमवायिकारणत्वेन आरम्भक मानना होगा.

३ शंका-अणुपरिमाणसे जन्य परिमाणको अधिकअणु होनेसेभी दोष क्या है ? समाधान-त्र्यणुकका चाक्षुष ज्ञान नहीं होगा. शंका-तौ फिर द्व्यणुक त्र्यणुकके परिमाणका जनक कौन मानना चाहिये? समाधान-उसका जनक परमाणुगत संख्या है. इसी वार्ताका यथावत् स्पष्टीकरण गुणनिरूपणावसरमें होगा.

महत्परिमाणमतीन्द्रियं सामान्यं विशेषाश्च बोध्याः।इदमपि योगि-प्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्।

भाषा—पारिमाण्डल्य नाम अणुपरिमाणका है. उससे भिन्नपदार्थोंका कारणतारूप समान धर्म्म है.अणुपरिमाणको तो किसी कार्य्यके प्रतिभी कारणता नहीं है; क्योंकि यदि उसमें कारणता मानेभी तो वह (स्व) अपने आश्रय जो परमाणु तथा द्व्यणुक उनसे उत्पन्न होनेवाले द्व्यणुकत्र्यणुकरूप द्रव्यके परिमाणकाही जनक मानना होगा, सो बनता नहीं; क्योंकि परिमाणका लोकमें यह स्वभाव देखनेमें आता है कि वह (स्व) अपने सजातिसे (उत्कृष्ट) अधिक परिमाणकाही जनक होता है. जैसे कपालद्वयके महत्परिमाणसे घटका अधिक महत्परिमाण उत्पन्न होता है, वैसेही परमाणु तथा द्व्यणुकमें रहनेवाले अणुपरिमाणकोभी द्व्यणुक तथा त्र्यणुकके परिमाणके प्रति कारणता माने तो पूर्वोक्त न्यायसे द्व्यणुक तथा त्र्यणुकका परिमाण औरभी अधिक अणु होगा. ऐसेही कालादिके परम महत्परिमाणको तथा परमाणु आदिके परमाणुत्वादि अतीन्द्रिय सामान्यको तथा विशेष पदार्थकोभी किसीके प्रति कारणता नहीं है. यहभी जानने योग्य है. परन्तु यह "पारिमण्डल्यभिन्नानां" इत्यादि ग्रन्थ उन नवीन आचार्य्योंके अभिप्रायसे है कि जो आचार्य्य योगीके प्रत्यक्षमें विषयको कारणता नहीं मानते.

ज्ञायमानं[1] सामान्यं न प्रत्यासत्तिः। ज्ञायमानं लिङ्गं नानुमिति-करणमित्यभिप्रायेण। मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम्। तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्य्याणामाशयः इत्यन्ये। तन्न, ज्ञानातिरिक्ते प्रत्येवाकारणताया आचार्य्यैरुक्तत्वात्।

---

१ वर्तमान कालिक जो ज्ञान तादृश ज्ञानविषयीभूत सामान्य 'ज्ञायमानसामान्य' है.

२ यहां नवीनोंका यह सिद्धान्त है कि पार्थिवादि परमाणुओंका भेदक विशेष पदार्थ नहीं, किन्तु विशेषका ज्ञानभेदक है. ऐसे ज्ञायमानसामान्य सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति नहीं, किन्तु सामान्यका ज्ञानमात्र सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति है. ऐसेही ज्ञायमान लिङ्गभी अनुमितिका कारण नहीं, किन्तु लिङ्गका ज्ञानमात्र अनुमितिका करण है और प्राचीनोंने तो परमाणु परिमाणकोभी योगीके प्रत्यक्षमें विषयत्वेन कारण माना है; तैसे "परमाणुः अणु-परिमाणवान्" इस ज्ञानके पश्चात् "सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः" इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसे होता है. इसमें सम्बन्धरूपेण अणु परिमाणकोभी कारण माना है. तैसे 'परमाणुः द्रव्यं अणुपरिमाणात्' इस अनुमितिमें अणुपरिमाणको करणत्वेन कारण स्पष्टही माना है; परन्तु यहां मूल ग्रन्थ नवीनोंके सिद्धान्तसे लिखा है.

भाषा-तथा ज्ञायमानसामान्यको प्रत्यासत्ति नहीं मानते, तैसे ज्ञायमान लिङ्गको अनुमितिकरण नहीं मानते हैं. "ज्ञानवानहम्, इच्छावानहम्" इत्याकारक आत्माके मानसप्रत्यक्षमें आत्माके परम महत् परिमाणकोभी कारणता है. इससे कारणता शून्य परममहत्परिमाण आकाशादिकोंका जानना चाहिये. कई एक नैयायिक उदयनाचार्य्यके आशयको लेकर आत्माके महत्परिमाणकोभी कारणता नहीं मानते. सो सम्यक् नहीं;क्योंकि ज्ञानसे अतिरिक्त कार्य्यके प्रति आत्ममहत्परिमाण-की कारणताका निषेधही उदयनाचार्य्यका आशय है.

ननु कारणत्वं किमत आह, अन्यथेति-

शंका-कारणता क्या पदार्थ है ? समाधान-इसको मूलकार 'अन्यथा' इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं कहता है ॥

अन्यथा सिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ॥
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यंपरिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् ॥
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् १८

भाषा-अन्यथा सिद्धिसे शून्यनियमसे कार्य्यके प्रथम रहनेवाला कारण होता है. वह तीन प्रकारका है ॥ १६ ॥ प्रथमका नाम 'समवायिकारण' है. द्वितीयका नाम 'असमवायिकारण' है. तृतीयका नाम न्यायवेत्ता पुरुषोंने 'निमित कारण' कहा है ॥ १७ ॥ जिसमें समवायसम्बन्धसे कार्य्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण है ॥ (तत्र) समवायिकारणमें समवेत होकर जो कार्य्यका जनक हो वह 'असमवायि कारण' है. इन दोनों कारणोंसे भिन्न जो कारण है वह 'निमित्तकारण' है ॥ १८ ॥

तस्य कारणत्वस्य।तत्र समवायिकारणे।आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः । अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयो-गानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात्, एवं वेगादीनामप्याभिघा-

१ भाव यह है कि-तुरीतन्तु संयोगभी अनुयोगित्वेन तन्तुसमवेत है और पटरूप कार्य्यका जनकभी है. एवं उक्तलक्षणका लक्ष होनेसे तुरीतन्तुसंयोगभी पटका असमवायि कारण होना चाहिये.

ताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्,एवं ज्ञानादिकमिच्छाद्यसमवायिकारणं स्यात्,तथाऽपि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं[1] देयम्।तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव । एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति, तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्वं[2] देयम् ।

भाषा-(अत्र) यहां कारणलक्षणोंमेंसे असमवायि कारणके लक्षणानुसार यद्यपि तुरीतन्तुओंके संयोगोंकोभी पटका असमवायि कारण होना चाहिये. ऐसेही वेग तथा स्पर्शकोभी यथाक्रम अभिघाताख्य संयोगका तथा 'नोदनाख्य' संयोगका असमवायिकारण होना चाहिये. (एवं) ज्ञान इच्छाकोभी यथाक्रम इच्छा तथा प्रवृत्तिका असमवायिकारण होना चाहिये तथापि पटके असमवायिकारणके लक्षणमें तुरीतन्तुसंयोगसे 'भिन्न' पदका निवेश करना उचित है अर्थात् तन्तुओंमें समवेत हो और तुरीतन्तुसंयोगसे अन्य होकर पटका कारण हो, वही पटका असमवायिकारण है और तुरीतन्तुसंयोगभी तुरीपटके संयोगके प्रति तो असमवायि कारण होसक्ता है. ऐसे वेगादिकभी वेगजन्य क्रियाके असमवायि कारण हो सक्ते हैं. इसलिये तिस२विशेष कार्य्यके असमवायिकारणके लक्षणमें तिस२से भिन्न पदका निवेश करना उचित है.

आत्मविशेषगुणानां[3] तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति, तेन

१ शंका-तुरीतन्तुसंयोगकोभी पटके असमवायिकारणके लक्षणका लक्ष्यही माने तो क्या दोष है? समाधान--नैयायिकोंने असमवायि कारणके नाशसे कार्य्यनाश माना है. यदि तुरीतन्तुसंयोगभी पटका असमवायिकारण होगा तो उसके नाशसेभी पटका नाश हुआ चाहिये और यह वार्ता देखनेमें तो नहीं आती याते उससे भिन्नत्वका निवेश करना उचित है.

२ अर्थात् पटके असमवायिकारणके लक्षणमें 'तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वे सति' का निवेश करना चाहिये. ऐसे घटके असमवायिकारणके लक्षणमें 'चक्रकपालसंयोगभिन्नत्वे सति ' का निवेश करना चाहिये. तात्पर्य यह है कि-प्रत्येक कार्य्यके असमवायिकारणमें निमित्तकारण तथा समवायिकारणका जो परस्पर संयोग उससे भिन्नत्वका निवेश करना उचित है.

३ यहां यह भाव है कि-आत्माके ज्ञानरूप विशेषगुणके प्रति आत्ममनःसंयोगको असमवायिकारणता तो अवश्य माननीय है. एवं वही आत्ममनःसंयोग यदि अन्य विशेष गुणोंकाभी असमवायि कारण बनसके तो आत्मविशेषगुणोंको परस्पर एक दूसरेके प्रतिया किसी गुणान्तरके प्रति असमवायिकारणता माननी व्यर्थ है.

तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधम् । आद्यं यथा । घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकम् । तत्र कार्यैण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति । द्वितीयं यथा। घटरूपं प्रति कपालरूप-मसमवायिकारणम् । तत्र घटरूपं प्रति कारणं घटस्तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति । तथाच क्वचित् समवायसम्बन्धेन, क्वचित्स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः ।

भाषा—आत्माके ज्ञानादि विशेषगुणोंको तो किसी कार्य्यके प्रतिभी असमवायि कारणता नहींहै; इसलिये 'आत्मविशेष गुणभिन्नत्वे सति' का निवेश तो यावत् कार्य्यके असमवायि कारणके लक्षणमें करना उचित है. (अत्र) इस प्रकरणमें समवायिकारणरूप अधिकरणमें कार्य्यके साथ असमवायि कारणका समानाधि-करणरूप सम्बन्ध दो प्रकारका है. प्रथम कार्य्यके साथ एकाधिकरणमें सम्बन्ध रूपहै; दूसरा कारणके साथ एकाधिकरणमें सम्बन्धरूप है. प्रथम जैसे घटा-दि कार्य्यके प्रति कपालद्वय संयोगादि असमवायि कारण है, तहां घटरूप कार्य्य के साथ कपालसंयोगरूप कारणका कपालस्वरूप एकाधिकरणमें एकार्थसम-वेतत्वरूप सम्बन्ध है. दूसरा जैसे घटके रूपके प्रति कपालका रूप असमवायि-कारण है. तहां घटके रूपके प्रति कारण घटही है उस घटके साथ कपालस्वरूप एकाधिकरणमें कपालके रूपका 'एकार्थ समवेतत्व' रूप सम्बन्ध है. इसरीति से कारणताके नियामक दो सम्बन्ध हैं; कहीं समवायसम्बन्ध है. जैसे घटके प्रति कपालसंयोग समवायसम्बन्धसे असमवायिकारण है और कहीं स्वसमवायि समवेतत्वसम्बन्ध है. जैसे घटके रूपके प्रति कपालका रूप स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्धसे कारण है. यहां 'स्व' पदसे कपालके रूपका ग्रहण है, उसका सम-वायि कपाल है; उस कपालमें समवेत घट है. एतादृश सम्बन्धसे कपालके रूपको घट पर मान कर घटके रूपके प्रति असमवायिकारणता भी बन सकती है. यह पूर्व कथनका फलितार्थ है.

इत्थंच कार्य्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकार-

णे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्य-लक्षणं पर्य्यवसन्नम्।आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥१६॥१७॥१८॥

भाषा–इस रीतिसे 'कार्य्यके साथ अथवा कारणके साथ समवायिकारणरूप एकाधिकरणमें सम्बद्ध होकर जो ज्ञानादिकोंसे भिन्न कारण वही असमवायि कारण है, यह सामान्यरूपसे असमवायिकारणका लक्षण नियत हुआ. समवायिकारण असमवायिकारण दोनोंसे भिन्न जो कारण वह तीसरा निमित्त कारण है।१६।१७।१८

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानां तदाह, येनेत्यादिना–

भाषा–'येन' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कार्य्यके प्रति अन्यथासिद्ध पदार्थोंको कहता है–

येन सह पूर्वभावः–

भाषा–जिस रूपसे कारणकी कार्य्यसे प्रथम विद्यमानता है.

यत्कार्य्यं प्रति कारणस्य पूर्ववर्तिता येन रूपेण गृह्यते तत्कार्य्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमितिभावः।यथाघटं प्रति दण्डत्वमिति ।

भाषा–अर्थात् जिस कार्य्य के प्रति कारणको पूर्व विद्यमानता जिसरूपसे ग्रहण होती है उस कार्य्यके प्रति कारणका वह रूप अन्यथा सिद्ध है.जैसे घट कार्य्यके प्रति दण्डको कारणता दण्डत्वेन रूपेण है याते दण्डत्व अन्यथा सिद्ध है.

द्वितीयमन्यथासिद्धमाह, कारणमिति–

भाषा–'कारणं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दूसरी अन्यथासिद्धि दिखलाता है–

कारणमादाय वा यस्य ।

भाषा–अथवा कारणके ग्रहणपूर्वक जिसका ग्रहण हो वह अन्यथा सिद्ध है.

यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ नस्तः किन्तु कारणमादायै-वान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम् । यथा दण्डरूपम् ।

अर्थात् जिसकी स्वतंत्ररूपसे कार्य्य के साथ नियतपूर्ववृत्तित्वरूपा व्याप्ति न हो किन्तु मुख्य कारणके ग्रहणपूर्वक जिसका कार्य्यके साथ अन्वय व्यतिरेक ग्रहण हो वह उस कार्य्यके प्रति अन्यथा सिद्ध है. ऐसा घटकार्य्यके प्रति दण्डका रूप है.

तृतीयमाह, अन्यं प्रतीति–

भाषा-'अन्यंप्रति' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार तीसरी अन्यथासिद्धि दिखलाताहै-

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥

भाषा-दूसरेके प्रति पूर्वविद्यमानता जानकर जिसकी प्रकृत कार्यके प्रति पूर्वविद्यमानता प्रतीत हो ॥ १९ ॥

अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्य्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य ।

भाषा-अर्थात् कार्यान्तरके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहणपूर्वक जिसकी जिस कार्यके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहण हो वह उस कार्यके प्रति अन्यथा सिद्ध है. ऐसा घटादि कार्यके प्रति आकाश है.

आकाशस्य हि घटादिकं प्रत्याकाशत्वेनैव कारणत्वं स्यात्, आकाशत्वंच शब्दसमवायिकारणत्वम् । अतः शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् । शब्दाश्रयत्वेन कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरितिचेत्, पञ्चमीति गृहाण ।अथाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमितिचेत्, कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो वेति ॥ १९ ॥

भाषा-घटादिकार्यके प्रति आकाशको आकाशत्वेन रूपेण कारणता है. वह आकाशशब्दका समवायिकारणस्वरूप है. इस रीतिसे आकाशमें शब्दके प्रति कारणता ग्रहणपूर्वक घटादिकार्यके प्रति कारणता ग्रहण होती है; इससे आकाश अन्यथा सिद्ध है. **शंका**-आकाशको शब्दका समवायिकारण न कहें, किन्तु शब्दका आश्रयमात्र मानके घटादिकार्यके प्रति कारण माने तो कौन अन्यथा सिद्धि होगी? **समाधान**-इसरीतिसे पञ्चमी मानने योग्य है. **शंका**-आकाशमें शब्दकी जनकताका अवच्छेदक कौन है? **समाधान**-ककार वकारादि वर्णहैं. **शंका**-ककारादिवर्ण तो नाना तथा अनित्य हैं. उनको अवच्छेदक माननेमें गौरव होगा. **समाधान**-अथवा विशेष पदार्थको आकाशमें शब्दकी जनकताका अवच्छेदक मानना चाहिये ॥ १९ ॥

चतुर्थमन्यथासिद्धमाह ,जनकं प्रतीति-

भाषा-'जनकंप्रति' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार चौथी अन्यथा सिद्धि दिखलाताहै-

जनकंप्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ॥

भाषा—जिसकी कार्यसे पूर्वविद्यमानता कार्यके जनकको न जानकर न ग्रहण हो किंतु जान कर हो वह उस कार्यके प्रति अन्यथा सिद्धहै.

यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्, यथा कुलालपितुर्घटं प्रति। तस्य च कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्व एवान्यथासिद्धिः। कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।

भाषा—अर्थात् घटरूपकार्यका जनक जो कुलाल उसके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहणपूर्वक कुलालके पिताकी घटकार्य्यके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहण होती है.इससे घटकार्यके प्रति कुलालका पिता अन्यथासिद्ध है. कुलालका पिताभी यदि 'कुलाल पितृत्वेन' कारण माने तो अन्यथासिद्ध है और यदि कुलालत्वेन रूपेण कुलालका पिताभी घटका जनक है तो वह कारणही है; क्योंकि कुलालमात्र घटका जनक होताहै.

पञ्चममन्यथासिद्धमाह, अतिरिक्तमिति—

भाषा—'अतिरिक्तं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पञ्चमी अन्यथासिद्धि दिखलाताहै—

अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः २०

भाषा—नियमसे कार्यके अवश्य पूर्व विद्यमान पदार्थोंसे अतिरिक्त यावत् पदार्थ अन्यथासिद्ध हैं ॥ २० ॥

नियतावश्यकपूर्वभाविनोऽवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्य्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः।अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणमनेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यं क्लृप्तं तेनानेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम्। नच वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् २०

भाषा—कार्यके नियमसे प्रथम रहनेवाले कारणसमुदायसे कार्यका सम्भव हो तो उससे भिन्न यावत् पदार्थ अन्यथासिद्ध हैं. (अत एव) अवश्यक्लृप्त नियम

से प्रथम विद्यमानमें कारणता माननेहीसे प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाणको कारण और अनेक द्रव्यत्वको अन्यथासिद्ध माना है। यहां अणुपरिमाण वालेसे भिन्न द्रव्यका नाम अनेक द्रव्यत्व है। प्रत्यक्षमें महत्त्व अवश्यक्लृप्त है उससे अनेक द्रव्यत्व अन्यथा सिद्ध है. शंका-यदि कोई अनेक द्रव्यत्वको प्रत्यक्षमें कारण तथा महत्त्वको अन्यथा सिद्ध माने तो तुम्हारे पास एक पक्षके कहनेवाली युक्ति कौन है? समाधान-महत्त्वत्वजातिको कारणतावच्छेदक माननेमें शरीरकृत लाघव है॥२०॥

एते पञ्चान्यथासिद्धाः-

भाषा-ये पञ्च अन्यथा सिद्ध हैं.

दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौदण्डरूपादिद्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः ।
पञ्चमोरासभादिःस्यात्-

भाषा-घटादि कार्यके प्रति प्रथम अन्यथा सिद्ध दण्डत्वादिक धर्म्म हैं. द्वितीय दण्डके रूपादि हैं ॥ २१ ॥ तृतीय आकाश है. चतुर्थ कुलालपिता है. पञ्चम रासभादि हैं ॥

रासभादिरिति।यद्यपि यत्किंचिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपिसम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः।

भाषा-यद्यपि किसी एक घटव्यक्तिसे पूर्वविद्यमानता गर्दभकोभी होसक्ती है तथापि यावत् घटव्यक्तिके प्रति प्रसिद्ध कारणरूप दण्डादिकोंसेही उस व्यक्तिकाभी निर्वाह होसक्ता है इसलिये रासभ सर्वथा अन्यथासिद्ध है॥

एतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥

भाषा-इन सबमें यह पञ्चम अन्यथासिद्ध तो आवश्यक है ॥ २२ ॥

एतेष्विति ।एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः तेनैव परेषां चरितार्थत्वात् । तथाहि। दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्य्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम् ।

इन पूर्वोक्त अन्यथासिद्ध पदार्थोंमें पञ्चम अन्यथा सिद्ध अवश्य माननीय है । और पूर्वले चारोंकी पञ्चममें चरितार्थताभी होसक्तीहै. उसकी रीति यह है कि–कारणरूपसे अवश्य सम्बद्ध और घटादि कार्यके नियमसे प्रथम रहनेवाले दण्डादिकोंसे ही यदि कार्यका सम्भव हो तो दण्डत्वादि सभी सर्वथा अन्यथासिद्ध हैं.

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्।दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरंपरायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात् । एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति ॥ २२ ॥

शंका–घटकार्य्यके प्रति 'दण्डत्व' को कारण तथा 'दण्ड' को अन्यथासिद्ध मानें तो दण्डमें कारणताका नियामक कौन है?समाधान–दण्डत्वको कारण माननेसे 'स्वाश्रयजन्य भ्रमीवत्ता' सम्बन्धसे कारणता माननी होगी और दण्डको केवल 'स्वजन्य भ्रमीवत्ता' सम्बन्धसे कारणता है; इससे प्रथम सम्बन्धमें दण्ड घटित परम्परारूप सम्बन्ध कल्पनामें गौरव है. ऐसेही दण्डरूप, आकाश, कुलाल के पिताकाभी पञ्चम अन्यथासिद्धमेंही संग्रह हो सकता है ॥ २२ ॥

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ॥
गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्॥२३॥

भाषा–समवायिकारण होना केवल द्रव्यहीका समान धर्म्म है. एवं असमवायि कारण होना केवल गुण कर्म्महीका समान धर्म्म है ॥ २३ ॥

गुणकर्म्मेति।असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम् । अथवाऽसमवायिकारण वृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः। तेन ज्ञानादीनामसमवायिकार णत्वविरहेऽपि न क्षतिः ॥ २३ ॥

भाषा–यहां गुणकर्म्मके समान धर्मके कथनका तात्पर्य नहीं किन्तु असमवायि कारणता गुण कर्मसे भिन्न पदार्थोंका विपरीत धर्म है. इस कथनमें तात्पर्य्य है! अन्यथा आत्मविशेष गुणोंमें इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी; अथवा असमवायिकारणतावालेमें वर्तनेवाली जो सत्ताभिन्न 'गुणत्व कर्मत्व' रूपा जातिः तादृश जातिमत्त्वही गुणकर्म का समान धर्म्म है, ऐसा जातिघटित लक्षण करनेसे आत्मविशेष गुण ज्ञानादिकोंमें असमवायिकारणताके न होनेसे भी अव्याप्ति नहीं है ॥ २३ ॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ॥

भाषा-नित्य द्रव्योंसे अन्यपदार्थोंका आश्रितत्त्वरूप समान धर्म्म है.

अन्यत्रेति। नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्। विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः। कालिकसम्बन्धान्यसम्बन्धेनाऽऽवृत्तित्वमिति परमार्थः,तेन समवायेनावृत्तावपि न क्षतिः।

भाषा-पृथिवी आदि चारके परमाणु तथा आकाशादि पञ्च नित्यद्रव्य हैं. उनसे भिन्न यावत् पदार्थोंका आश्रितत्वरूप समान धर्म्म है. यहां 'आश्रितत्व' शब्दका अर्थ कालिकसम्बन्धसे भिन्न वृत्तिनियामक संयोगसमवायादि सम्बन्धसे वर्तना है. कालिक विशेषणतारूप सम्बन्धसे तो नित्य पदार्थभी कालादिकोंमें रहते हैं. कालिक सम्बन्धसे अन्यसम्बन्धसे आसमन्तात् वर्तनेवालेका 'आश्रितत्व' रूप समान धर्म कहना वास्तव अर्थ है. ऐसे कथनसे समवायसे भिन्न सम्बन्धसे वर्तनेवाले पदार्थोंमें पूर्व लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है.

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्यसाधर्म्यं वक्तुमारभते,क्षित्यादीनामिति-

भाषा-'क्षित्यादीनां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार विशेषरूपसे द्रव्यहीका समान धर्म कहता है-

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥२४॥
क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ॥
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

भाषा- पृथिवीसे आदि लेके नव द्रव्योंका द्रव्यत्वरूप किंवा गुणवत्त्वरूप समान धर्म्म है ॥ २४ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मन इन पाचों का परापरत्वरूप मूर्तत्वरूप तथा क्रियावेगाश्रयत्वरूप समान धर्म है ॥ २५ ॥

क्षितिर्जलमिति। पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम्। न च यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्। परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।मूर्तत्वमपकृष्ट-

परिमाणवत्त्वम्, तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत्कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वेगवत्त्वं, वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २४ ॥ २५ ॥

भाषा–पृथिवी,जल,अग्नि,वायु,मन इन पाँचोंका परत्वापरत्ववाले होना,मूर्त होना, क्रिया वाले होना,तथा वेगवाले होना समान धर्म है.शंका–जहां जिन उत्पन्न विनष्टादिकार्य्योंमें परत्वापरत्व बुद्धि नहीं उत्पन्न हुई; वहां घटादि कार्योंमें परत्वापरत्वके भी न उत्पन्न होनेसे अव्याप्ति होगी. समाधान–वहांभी परत्वादि समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य पृथिवीत्व जलत्व तेजस्त्व वायुत्व मनस्त्व रूप जाति तादृश जातिमत्त्वकी विवक्षासे दोष नहीं है. मूर्त्तत्व नाम परिच्छिन्न अर्थात् छोटे परिमाण वालेका है. वह परिच्छिन्न परिमाण पूर्वोक्त पाँचोंहीका है । आकाशादिके परिमाणमें किसीकी अपेक्षासेभी छोटापना नहीं है । शेष लक्षणभी पूर्ववत् जातिघटित करनेसे दोष नहीं है. अर्थात् (कर्मवत्त्वं) कर्मके समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति, तादृश जातिमत्त्व पृथिवी आदि पाचोंमें सिद्ध है.ऐसेही वेगवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति, तादृश जातिमत्ता पृथिवी आदि पाँचोंमें सिद्ध है २४॥२५॥

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ॥

भाषा–काल आकाश आत्मा दिशा इन चारोंका सर्व व्यापकता तथा परममहत् परिमाणवत्ता समान धर्म है.

कालेति।कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च, परममहत्त्वत्वं जातिविशेषः अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा ।

भाषा–जिसका यावत् मूर्तपदार्थके साथ संयोग हो वह व्यापक होता है ऐसेही 'परममहत्त्वत्व' जातिविशेष युक्त परममहत् परिमाण होताहै. अथवा मूर्तोंमें न वर्तनेवाला जो परिमाण तादृश परिमाणवत्ता पूर्वोक्त चारोंका समान धर्म है.

क्षित्यादिपञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥

भाषा–पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश, इन पाँचोंका भूतत्वरूप समान धर्म्म है. पृथिवी आदि चारोंका समवायेन स्पर्शवत्ता समान धर्म है ॥ २६ ॥

क्षित्यादीति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वम् । तच्च बाहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । अत्र ग्राह्यत्वं लौकिक[1]प्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम् । तेन ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्, तद्वत्यात्मनि नातिप्रसङ्गः । न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात् । महत्त्वलक्षणकारणान्तराऽसन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम् । अथवा[2]ऽऽत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम् । चत्वारीति । पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम् ।

भाषा—भूत नाम नेत्रादि बाह्य इन्द्रियग्राह्य रूपादि विशेषगुण वालोंका है. इस प्रसङ्गमें ग्राह्य पदसे लौकिक प्रत्यक्ष स्वरूप योग्यताका ग्रहण है. अन्यथा 'ज्ञातो घटः' इस ज्ञानमें प्रकारीभूत जो ज्ञान उस ज्ञानकाभी 'चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्व' सम्बन्धसे घटअंशमें प्रत्यक्ष हो सकता है. एवं उस ज्ञान वाले आत्मामें अतिव्याप्ति होगी; परन्तु पूर्वोक्त सम्बन्धसे ज्ञानका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अलौकिक है; याते आत्मामें अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं. स्वरूप योग्यताके निवेश करनेसे प्रत्यक्षके अविषय तथा रूपादि युक्त परमाणु आदिमेंभी अव्याप्ति नहीं है. परमाणुमें तथा द्व्यणुकमें प्रत्यक्षकी योग्यता तो है परन्तु महत्त्वरूप कारणान्तरके न होनेसे परमाणुका तथा द्व्यणुकका प्रत्यक्ष नहीं होता. अथवा आत्मामें न वर्तनेवाले जो विशेषगुण, तादृश विशेषगुणवालेकी 'भूत' संज्ञा है; पृथ्वी, जल, तेज, तथा वायु इन चारोंका स्पर्शवाले होना समान धर्म है॥ २६ ॥

द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात्—

भाषा—द्रव्यान्तरके आरम्भक होनाभी पृथिवी आदि चारोंका समान धर्म्म है.

द्रव्यारम्भेति । पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वम् ।

---

(१) वक्ष्यमाणसंयोगादि षड्विधसन्निकर्षसे लौकिक प्रत्यक्ष होता है उनसे भिन्न यावत् सम्बन्धोंसे प्रत्यक्ष योग्य पदार्थोंका अलौकिक प्रत्यक्ष होता है । एवं 'ज्ञातो घटः' यह ज्ञान अनुव्यवसाय रूप मानसिक है । विशेष्यरूपसे घट तथा विशेषणरूपसे घटका व्यवसायात्मक ज्ञान इसके विषय है । परन्तु अलौकिक सम्बन्धसे है याते ज्ञानवाले आत्मामें दोष नहीं ॥

(२) नेत्र इन्द्रियादिगत रूपादि विशेष गुणोंको अनुद्भूत होनेसे बाह्य इन्द्रियसे ग्रहणकी अयोग्यता है । याते भूतत्व लक्षणकी अव्याप्तिकी शंकासे कहा है—अथवेति ।

नच द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः। द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

भाषा–पृथिवी जल अग्नि वायु ये चारों समवायि कारण होकर द्रव्यान्तरके आरम्भक हैं. शंका–घटरूप पृथिवीमें द्रव्यान्तरारम्भकता नहीं है; अव्याप्ति होगी. समा०– द्रव्यके समवायिकारणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति; तादृश जातिमत्ता यावत् घटादिकार्योंमें सिद्ध है. एवं अव्याप्तिरूप दोष नहीं है.

– अथाकाशशरीरिणाम्।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥ २७॥

भाषा–आकाश तथा जीवात्माका अव्याप्य वृत्ति क्षणिक विशेष गुणवत्ता समान धर्म है ॥ २७ ॥

आकाशशरीरिणामिति। आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वम्। आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते, तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्[1]। योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात् प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः। एवं ज्ञानादीनामपि ज्ञानादिकं ह्यात्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव। एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। इत्थंचाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं चार्थः। पृथिव्यादौ रूपादिर्विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तिरित्युक्तम्। पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुण इत्युक्तम्॥ नच रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात्। क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम्।

भाषा–आकाशका तथा जीवात्माओंका अव्याप्यवृत्ति जो क्षणिक विशेषगुण, तादृश विशेषगुणवत्ता समान धर्म्म है. आकाशका विशेषगुण शब्द है. वह अव्याप्य

(१) जिस वस्तुका ध्वंस होय वही वस्तु ध्वंसकी प्रतियोगी कही जाती है.

वृत्ति इस रीतिसे है कि—जिस कालमें भेर्याद्यवच्छेदेन शब्द उत्पन्न होता है, उसी कालमें घटाद्यवच्छेदेन शब्दके अभावकीभी प्रतीति होती है. क्षणिक नाम तीसरे क्षणमें नाश होनेवालेका है. प्रत्यक्षके योग्य जो आकाशादि विभुद्रव्योंके शब्दादि विशेष गुण, उनका अपनेसे पीछे उत्पन्न होनेवाले विशेष गुणोंसे नाश होता है. इस रीतिसे प्रथमशब्दका द्वितीयशब्द नाशक है. ऐसेही प्रथमज्ञान इच्छादिकोंकेभी द्वितीयज्ञान इच्छादिक विनाशक हैं. व्यापक आत्मामें ज्ञान इच्छादिक शरीरावच्छेदेन उत्पन्न होते हैं और घटाद्यवच्छेदेन ज्ञानादिकोंका अभावभी सिद्ध है. इस रीतिसे ज्ञानादिकभी दो क्षण स्थित रहते हैं. इस पूर्व कथनसे 'अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणवत्ता' अथवा 'क्षणिक विशेषगुणवत्ता' आकाशका तथा जीवात्माओंका समान धर्म्म सिद्ध हुआ. रूपादि विशेष गुण पृथिवी आदिकोंमेंभी हैं, उनसे प्रथम लक्षणकी अतिव्याप्तिके वारणार्थ 'अव्याप्यवृत्ति' विशेष गुणका विशेषण दिया. अव्याप्यवृत्ति संयोगादिकभी पृथिवी आदिकोंमें रहते हैं. उनसे प्रथम लक्षणकी अतिव्याप्ति वारणार्थ विशेषगुणरूप विशेष्यका निवेश किया। रूपादि अव्याप्य वृत्ति नहीं हैं तथा संयोगादि विशेष गुण नहीं हैं. एवं उभयथा पृथिवीमें अतिव्याप्ति नहीं है. शंका—किसी एक कालमें रूपादिकोंका भी तीसरे क्षणमें नाश हो सकता है. ऐसे 'क्षणिक विशेष गुणवत्त्व' इस द्वितीय लक्षणकी पृथिवी आदिकोंम अतिव्याप्ति होगी.

चतुःक्षण[1]वृत्तिजन्या[2]वृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु किमपि जन्यज्ञानादिकं न तिष्ठति, रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति व्युदासः ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्, द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात्, परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमात्

---

(१) चतुःक्षणशब्द अधिक कालका उपलक्षिक है.

(२) यदि जन्य पदका न निवेश किया जाय. तो 'परममहत्त्वत्व' रूपजातिको चार क्षणमें रहनेवाले परम महत्त्व परिमाणमें वृत्तित्व होनेसे परममहत्त्वपरिमाणको लेकर तिस वालेकालादिकोंमें तो अतिव्याप्ति नहीं है याते विशेष पदकी सफलतार्थ ग्रन्थान्तर कहताहै चतर्थक्षणेद्वित्वादीनामिति ।

द्वित्वादीनामपि तथात्वात् तद्वारणाय विशेषेति । त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम् । द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः ॥२७॥

समाधान—चार क्षणमें वर्तनेवाले जो घट पटादि तथा रूप रसादिजन्य उनमें न वर्तनेवाली जो 'शब्दत्व ज्ञानत्व' रूपा जाति तादृश जातिमद्विशेष गुणवत्ता शब्दमें तथा ज्ञानमें विवक्षित है. याते पूर्वोक्त दोष नहीं । अपेक्षा बुद्धिरूप ज्ञानभी तीन क्षणमात्र स्थिर रहता है । चतुर्थ क्षणमें अपेक्षा बुद्धिका नाश होता है. चार क्षणतक स्थिर तो जन्यज्ञानादिक कोई भी नहीं रहते । और रूपत्वादिक जाति तो चार क्षण उपलक्षित बहुत कालतक रहनेवाले रूपादिकोंमें रहती है इसलिये उस रूपत्वादि जातिका व्युदास हुआ अर्थात् वारण हुआ. ईश्वर ज्ञानभी चार क्षण उपलक्षित्त नित्य विद्यमान है उसके संग्रहार्थ 'जन्य' पदका निवेश किया. यदि आकाश तथा जीवात्माकाही समान धर्म कहनेका तात्पर्य्य होय तो 'जन्य' पदके निवेशका कुछ प्रयोजन नहीं अर्थात् न निवेश करना चाहिये. ज्ञानत्वजातिके स्थानपर केवल जीवात्माके गुणोंमें रहने वाली (द्वेषत्वादि) जातिका निवेश करनेसे जातिघटित लक्षण संगत होगा । आकाश कालादिकोंका परम महत्त्व परिमाणभी चार क्षणमें वर्तनेवाले जन्य पदार्थोंमें वर्तनेवाली जो 'परम महत्तत्त्व' रूपा जातिः तादृश जातिमत् है । उससे अति प्रसक्तिवारणार्थ तैसे चतुर्थक्षणमें द्वित्वादिकोंका नाश आचार्य्योंने माना है. द्वित्वादिकोंकोभी तादृश जातिमद्गुण होनेसे उनसे अति प्रसक्तिवारणार्थ 'विशेष' पदार्थ गुणका विशेषण कहा । परममहत्त्व परिमाण तथा द्वित्वादि विशेष गुण नहीं हैं । किन्तु सामान्य गुण हैं इस लिये तादृश गुणवाले काल घटादिकोंमें आत्माकाश लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है. अथवा चतुःक्षणके स्थानपर 'त्रिक्षणवृत्ति' कहनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं. ज्ञानत्वजातिके स्थानपर द्वेषत्वादिक जातिका निवेश करनेसे आत्मामें लक्षण समन्वय होगा ॥ २७ ॥

रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः ॥

भाषा—रूपवत्ता द्रवत्ववत्ता प्रत्यक्षविषयता प्रथम तीनका समान धर्म्म है.

रूपेति । पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं, प्रत्यक्षविषयत्वं चेत्यर्थः । नच चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्।तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात् । एवं वाय्वानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना

रूपानुमानं बोध्यम्।नच घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम् । द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । घृतजतुप्रभृतिषु पृथिवीषु जलेषु द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्,तत्रच पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः। नच प्रत्यक्षविषयत्वं परमाणवादावव्याप्तम्, अतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम्।चाक्षुषप्रत्यक्षविषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति ।

भाषा–पृथिवी जल अग्नि इन तीनोंका रूपवत्ता द्रवत्ववत्ता प्रत्यक्ष विषयता समान धर्म्म है. शंका–नेत्र घ्राणादि इन्द्रियोंके तथा भर्जन कपालस्थ रेतेमें होने वाले अग्निके तथा तैजस भाफके रूपवाले होनेमें क्या प्रमाण है ? समाधान– इन सबको पक्ष बनाकर तेजस्त्वादिरूप हेतुओंसे रूपवत्त्वका अनुमान होसकता है;यथा "नेत्रेन्द्रियं रूपवत् तेजस्त्वात्" इत्यादि. ऐसे वायुवेगसे देशान्तरसे आयेहुए पृथिवी जल तथा अग्निके भागोंमेंभी "पृथिवीत्वात्" इत्यादि हेतुओंसे रूपका अनुमान होसकता है. शंका–घटादिरूप पृथिवीमें तथा द्रुत सुवर्णादिसे भिन्न तेजमें द्रवत्ववत्त्वके न होनेसे अव्याप्ति होगी. समा०–वहांभी द्रवत्ववद्वृत्ति जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्वादि' जाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है. घृतलाक्षादि रूप पृथिवीमें जलमें तथा द्रुत सुवर्णादिरूप तेजमें द्रवत्वके विद्यमान होनेसे तथा इनमें पृथिवीत्वादि रूपजातिके होनेसे सर्वत्र पूर्वोक्त जातिघटित लक्षण समन्वय होसकता है. शंका–पूर्वोक्त प्रत्यक्ष विषयतारूप समानधर्म्म पृथिवी आदिके परमाणुओंमें अव्याप्त है तथा रूपादिकोंमें अतिव्याप्त है. समाधान– चाक्षुष प्रत्यक्षके विषयमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्वादि' जाति तादृशजातिमत्त्वके वहांभी अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है. आत्मामें अतिव्याप्तिके वारणार्थ 'चाक्षुष' पदका निवेश है.

गुरुणी द्वे रसवती–

भाषा–बोझेवाले अर्थात् भारी तथा रसवाले दो पदार्थ हैं.

गुरुणी इति।गुरुत्ववत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः।नच घ्राणेन्द्रि-

यादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्त्वे किंमानमितिवाच्यम् । तत्रापि पृथिवीत्यादिना तदनुमानात् ।

भाषा--गुरुत्ववत्ता तथा रसवत्ता पृथिवीजलका समान धर्म्म है. शंका--घ्राणादि इन्द्रियोंके तथा वायुआनीत पार्थिवादि भागोंके रसवाले होनेमें क्या प्रमाण है? समाधान--वहांभी "पृथिवीत्वात्" इत्यादि हेतुओंसे रसका अनुमान हो सकताहै.

– द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥

द्वयोरिति पृथिवीतेजसोरित्यर्थः ।

भाषा--पृथिवी, तेज, इन दोनोंका नैमित्तिक द्रवणरूप समान धर्म है ॥ २८ ॥

नच नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमितिवाच्यम् । नैमित्तिकद्रवत्त्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ २८ ॥

शंका--नैमित्तिक द्रवत्ववत्ता घटादि पृथिवीमें तथा वह्निरूप तेजमें अव्याप्त है. समा०--वहांभी नैमित्तिक द्रवत्वके समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (पृथिवीत्वादि) जातिः तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है॥२८॥

आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः ॥
यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥२९॥

भाषा--जीवात्मा तथा पञ्चभूत विशेष गुणोंवाले हैं. हमने जो जिसका समान धर्म्म कहा वह इतरका विरुद्ध धर्म जानना चाहिये ॥ २९ ॥

आत्मान इति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वमित्यर्थः ॥ यदुक्तमिति । ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम् ।तत्तु न कस्यापि वैधर्म्यं केवलान्वयित्वात् ॥ २९ ॥

भाषा--ज्ञेयत्व प्रमेयत्व वाच्यत्व अभिधेयत्व इन चारों धर्मोंको छोड़कर जो जिसका समान धर्म कहा वह दूसरेका विपरीत धर्म है और ज्ञेयत्वादि धर्म तो केवलान्वयी हैं. याते किसी पदार्थकेभी विरुद्ध धर्म नहीं हैं ॥ २९ ॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यसंस्कारो मरुतो गुणाः ॥
अष्टौ स्पर्शादयो रूपं द्रवो वेगश्च तेजसि ॥ ३० ॥

भाषा–स्पर्शादि आठ तथा वेगाख्य संस्कार ये नव वायुके गुण हैं. स्पर्शादि आठ रूप द्रव और वेग ये एकादश तेजके गुण हैं ॥ ३० ॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ॥
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥ ३१ ॥

भाषा–स्पर्शादि आठ वेग गुरुत्व द्रवत्व रूप रस तथा स्नेह ये चतुर्दश जलके गुण हैं ॥ ३१ ॥

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ॥
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा ॥३२॥
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश ॥
संख्यादि पञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥३३॥

तेच संख्यादयः पञ्च खे आकाशे ।

जलके गुणोंमेंसे 'स्नेह' को निकाल गन्धको डालकर गिने तो वेही १४ पृथिवीके गुण हैं. बुद्ध्यादि छः, तथा संख्यादि पञ्च, भावनाख्य संस्कार, तथा धर्म्माधर्म्म ये १४ गुण जीवात्माके हैं. संख्यादि पञ्च कालके तथा दिशाके गुण हैं । संख्यादि पञ्च तथा शब्द ये छः आकाशके गुण है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे ॥
परत्वापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥३४॥

भाषा–संख्यादि पञ्च बुद्धि इच्छा यत्न ये आठ ईश्वरके गुण हैं. परत्व अपरत्व संख्यादि पञ्च तथा वेग ये आठ मनके गुण हैं ॥ ३४ ॥

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य संप्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति, तत्र क्षितिरित्यादिना–

भाषा–समान धर्म्म विपरीत धर्मोंके निरूपणानन्तर ' तत्र क्षितिः ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार प्रत्येक पृथिवी आदिका निरूपण करता है–

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुः–

गन्धहेतुरिति । गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः ।

भाषा–उन नवद्रव्योंके मध्यमें गन्धसमवायिकारणका नाम पृथिवी है.

यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम् ।तथाहि । पृथिवीत्वं हि

गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया[1] सिद्ध्यति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः। नच पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्। तत्रापि गन्धसत्त्वात्। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते, कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते। भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात् पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिद्ध्यति। यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः। दृष्टंचैतत्-खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये।

भाषा—यद्यपि पृथिवीका लक्षण गन्धवत्त्वमात्र कहना उचित है तथापि लक्षणमें समवायिकारणताका निवेश 'पृथिवीत्व' जातिमें प्रमाण उपन्यासके लिये जानना चाहिये (तथाहि) उसकी रीति यह है कि—गन्धकी जो समवायि कारणता तादृश कारणताका जो अवच्छेदक तादृश अवच्छेदकत्वेन रूपेण पृथिवीत्व जातिकी सिद्धि होती है.(अन्यथा)यदि गन्धत्वावच्छिन्नके प्रति पृथिवीको हेतुता न माने तो गन्धके प्रति नियत कारणताका नियम नहीं रहेगा. शंका—पाषाणरूपा पृथिवीमें गन्धका अभाव होनेसे 'गन्धत्व' रूप लक्षण अव्याप्तिग्रस्त है.समाधान—पाषाणरूपा पृथिवीमें गन्ध विद्यमान तो है परन्तु अनुद्भूत गन्ध है; इसलिये उसका उपलाभ नहीं होता (अन्यथा) यदि पाषाणमें गन्ध न होय तो उसकी भस्म (चूना) में गन्धका उपलाभ कैसे होय? पाषाणकी भस्म पाषाणके ध्वंससे उत्पन्न होती है; याते स्वभस्मका उपादान कारण पाषाण है और पाषाणरूप उपादान निरूपिता तद्भस्ममें उपादेयता सिद्ध होती है। जो (भस्मादि) द्रव्य जिस (पाषाणादि) द्रव्यके ध्वंससे उत्पन्न होताहै. वह (भस्मादि) द्रव्य उस (पाषाणादि) द्रव्यरूप उपादानका उपादेय होता है यह लोकमें नियम है. उपादान नाम समवायिकारणका है। उपादेय नाम कार्य्यका है. यह व्याप्तिनियम हमने महापटके ध्वंससे उत्पन्न होनेवाले खण्डपट (वस्त्रके टुकड़े) में देखा है।

इत्थंच पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम्। तथाच तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः।

---

१ 'समवायसम्बन्धावच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठकार्य्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न पृथिवीत्वावच्छिन्नपृथिवीनिष्ठा या समवायिकारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्य्यतानिरूपितकपालगतकारणतावत्' यहअनुमान पृथिवीत्वजातिका साधक है.

भाषा-ऐसेही पाषाणके परमाणुओंको पृथिवी होनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाला पाषाणभी पृथिवीस्वरूपही है । एवं पाषाणको गन्धवाला होनेमेंभी कोई बाधक नहीं है ॥

-नानारूपवती मता ।

भाषा--तथा वह पृथिवी नानाविध रूपवाली है.

नानारूपेति । शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते,नतु जलादौ।तत्रशुक्लस्यैव सत्त्वात् पृथिव्यां त्वेकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात् । नच यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिः । रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात् । वैशिषिकनये पृथ्वीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात् । न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः ।

भाषा-शुक्ल नीलादि भेदसे सात प्रकारका रूप पृथिवीहीमें रहता है; जलादिमें नहीं रहता. जलादिमें तो केवल शुक्लरूपही रहता है और पृथिवीमें तो एक व्यक्ति (घटादि) मेंभी अग्निसंयोगसे नानारूपका सम्भव होता है. शंका-जिस पृथिवीमें नानारूप उत्पन्न नहीं हुआ उसमें अव्याप्ति होगी. समाधान-वहांभी रूपद्वयवाले में वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (पृथिवीत्व) रूपजाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित है. अथवा रूप नाशवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य ' पृथिवीत्व ' रूपजातिः तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे उक्त दोष नहीं है. वैशेषिकमतमें पृथिवी परमाणुओंमें रूपका नाश तथा रूपान्तरकी उत्पत्ति मानी है और न्यायमतमें तो घटादिकोंहीमें रूपको नाश तथा रूपान्तरकी उत्पत्ति मानी है याते उभयमतमें पूर्वोक्त लक्षणमें दोष नहीं है.

षड्विधस्तु रसस्तत्र-

भाषा--षट् प्रकारका उस पृथिवीमें रस है.

षड्विधइति । मधुरकटुकाषायादिभेदेन यःषड्विधो रसः सपृथिव्यामेव,जले त्वु मधुर एव रसः।अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः ।

---

१ प्रथम लक्षण अपेक्षा बुद्धिविशेष विषयत्वरूपाद्वित्व घटित होनेसे गौरवयुक्त है या। रूपनाश ' इत्यादिसे द्वितीय कहाहै.

भाषा—मधुर कटु काषायादि भेदसे षट् प्रकारका रस पृथिवीहीमें रहता है; जलमें तो केवल एक मधुररस है. यहांभी जिस पृथिवीमें नानाविध रस उत्पन्न नहीं हुआ, उसमें अव्याप्ति वारणार्थ रसद्वयवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' रूपा जाति तादृश जातिमत्त्वरूप लक्षणार्थ जानना उचित है.

--गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥

भाषा—दोप्रकारका उस पृथ्वीमें गन्ध है ॥ ३५ ॥

गन्धस्त्विति। द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रं नतु द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥ ३५ ॥

भाषा—पृथिवीमें गन्धका द्विविध कहना केवल वस्तुकी स्थितिमात्रका बोधक है. द्विविध गन्धवत्त्व मात्र लक्षमण नहीं है. किन्तु केवल 'गन्धवत्त्व' मात्रही लक्षण सम्यक् है. 'द्विविध' पद निष्फल है. सुरभि असुरभि भेदसे वह गन्ध दोप्रकारका जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

स्पर्श इति । तस्याः पृथिव्याः ।

भाषा--अनुष्णाशीतपाकज स्पर्शभी पृथिवीकाही जानना योग्य है.

अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायावपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति । इत्थञ्च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम् । लक्षणं तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रम् । आधिकस्य वैयर्थ्यात् । यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति, तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः ।

भाषा--अनुष्णाशीत स्पर्शवत्ता वायुमेंभी है उसके वारणार्थ 'पाकज' पदका निवेश किया. वहस्पर्श वायुमें पाकज नहींहै. एवं यह पूर्व ग्रन्थ पृथिवीके लक्षणके अभिप्रायसे नहीं कहा किन्तु पृथिवीका स्पर्श अनुष्णाशीत है यह बोधनार्थ कहा है. पृथिवीका लक्षण तो 'पाकज स्पर्शवत्त्व' मात्रही साधु है;अधिक कथन निष्फल है.यद्यपि पाकज स्पर्शवत्ता पटादिरूप पृथिवीमें नहीं है यातें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होगी तथापि पाकज स्पर्शवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य'पृथिवीत्व' रूपा जाति तादृश 'जातिमत्त्व' पटादि रूप पृथिवीमेंभी प्रसिद्ध है. एवं जातिघटित लक्षण करनेसे कहीं दोष नहीं.

नित्याऽनित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा॥३६
अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी।

भाषा--नित्या तथा अनित्या भेदसे वह पृथिवी दोप्रकारकी है. उसमें परमाणु रूप पृथिवी नित्या है ॥ ३६ ॥ उसमें भिन्नकार्य्यरूपा सावयव पृथिवी अनित्या है।

नित्येति। सा पृथिवी द्विविधा नित्याऽनित्या चेत्यर्थः। अणुलक्षणापरमाणुरूपा पृथिवी नित्या ॥ ३६ ॥ तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवीद्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः। सैवानित्या पृथिव्ये-वावयववतीत्यर्थः।

भाषा--वह पृथिवी दोप्रकारकीहै,एका नित्याहै और दूसरी अनित्याहै इन दोनोंमें अणुलक्षणा अर्थात् परमाणुरूपा पृथिवी नित्या है ॥ ३६ ॥ और परमाणुओंसे भिन्न द्व्यणुकादि रूपा यावत् पृथिवी अनित्या है. वह अनित्या पृथिवी ही अवयवयोगिनी अर्थात् सावयवा कही जाती है.

नन्ववयविनि किं मानम्,परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः। न च परमाणू-नामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वसम्भवात्। यथै-कस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्। न चैकः स्थूलो महान् घट इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्।

बौद्ध--शंका--सावयवा पृथ्वीमें क्या प्रमाणहै?'अयंघटः'इत्यादि प्रतीतिका निर्वाह तो विलक्षण संस्थान विशिष्ट परमाणुपुंजसेही होसकताहै. सिद्धान्ती--परमाणु तो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं.यदि घटादि पदार्थोंको परमाणु पुञ्जस्वरूप मानें तो परमाणुओंकी तरह घटादिकाभी प्रत्यक्ष नहीं होगा.बौद्ध--यद्यपि पृथक्‌स्थित परमाणु अतीन्द्रियहैं तथापि उनके समुदायका साक्षात्कार होसक्ताहै. जैसे एक (केश) बाल दूरसे नहींभी दीखता तौभी उसके समुदायका प्रत्यक्ष होसकताहै. सिद्धान्ती--यह एक महत्त्व परिमाणवाला स्थूल घट है ऐसी बुद्धि परमाणुपुंजमें नहीं होसकती.

एको महान् धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः। मैवम्। परमाणोरतीन्द्रि-यत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात्। दूरस्थकेशस्तु नाती-न्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। नच तदानीमदृश्यपर-

माणुपुञ्जाद्दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम् । अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात् । अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचिद्दृश्यत्वं स्यात् ।

बौद्ध—यह एक महान् धान्यराशि है, इस बुद्धिकी तरह यहाँभी बुद्धि होसकतीहै. समाधान—परमाणु अतीन्द्रिय हैं उनका समूहभी प्रत्यक्षके योग्य नहीं है, दूरस्थ केश तो अतीन्द्रिय नहींहै नेत्रादिकोंके समीप होनेसे उसी केशका प्रत्यक्षभी होसक्ता है. शंका—कार्य्यउत्पत्तिकालमें दर्शनायोग्यपरमाणुपुंजसे दर्शनयोग्य परमाणुपुंजकी उत्पत्ति होतीहै. याते घटादिके साक्षात् होजानेमें कोई विरोध नहीं समाधान—अदृश्यपदार्थ दृश्यपदार्थका उपादान नहीं होसकताहै. (अन्यथा) यदि अदृश्यपदार्थसेभी दृश्यपदार्थकी उत्पत्ति होवे तो कदाचित् नेत्रइन्द्रियका तथा (ऊष्म) भाफादि अदृश्य तेजःपदार्थोंकाभी साक्षात्कार होना चाहिये ।

न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम् । तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरभ्युपगमात् । न चादृश्यद्व्यणुकेन कथं त्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यम् । यतो न वयं दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित् स्वभावादाचक्ष्महे किंतु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद्दृश्यत्वम् । तदभावेचादृश्यत्वम् । तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षं न तु द्व्यणुकादेस्तदभावात् । न हि त्वन्मतेऽपीदं सम्भवति, परमाणौ महत्त्वाभावात् ।

शंका—अतितप्त तैलादिकोंविषे कैसे अदृश्यअग्निके भागोंसे दृश्य अग्निभागोंकी उत्पत्ति होतीहै अर्थात् अतितप्त तैलादि पदार्थ पात्रव्यवहित अग्निसंयोगसेभी शीघ्र जल उठते हैं; वहां प्रथम उनमें दहनसंतति अदृश्य होतीहै, पश्चात् दृश्य होजातीहै. समाधान—वहांभी हम ऐसा मानते हैं कि, दर्शनयोग्य अग्निके भागोंने तैलादि पदार्थमें प्रविष्ट होकर स्थूलदाहकी उत्पत्ति करीहै; याते अदृश्यसे दृश्यकी उत्पत्ति नहीं है. शंका—अदृश्य द्व्यणुकसे दृश्य त्रसरेणुकी उत्पत्ति आपने कैसे मानीहै ? समा०—इसीकारणसे हम दर्शनयोग्यता अथवा अदर्शनयोग्यता किसी पदार्थको स्वरूपसे नहीं कहते किन्तु—महत्त्व परिमाण उद्भूतरूपादि कारण समुदायसे पदार्थोंमें दर्शनयोग्यता होतीहै इनके अभावसे पदार्थ अदृश्य रहताहै. इसरीतिसे त्रसरेणुका महत्त्वपरिमाण

होनेसे प्रत्यक्षहोसकताहै द्यणुकका महत्त्वपरिमाणके अभावसे प्रत्यक्ष नहीं होसकता; इसीनियमसे तुम्हारे मतमें तो निर्वाह नहीं होसकता, क्योंकि आपने परमाणुपुंजहीका प्रत्यक्ष माना है और परमाणुमें महत्त्वरूप कारणके अभावसे प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है.

इत्थं चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षत्वादनित्यत्वमूतेषांचावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसंगः । अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः । यत्र च विश्रामस्तस्याऽनित्यत्वे त्वसमवेतभावकार्य्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम्। महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः ।

भाषा--इस पूर्वोक्तविचारसे (अवयवी)कार्यद्रव्यकी सिद्धि हुई तो उन कार्यद्रव्योंको उत्पन्न विनष्ट होनेसे अनित्यत्व स्पष्ट है; इन कार्य्यद्रव्योंकी अवयवपरंपरा यदि असंख्यात मानी जाय तो मेरुपर्वत तथा (सर्षप)सरसोंके दानेकी तुल्यता होनीचाहिये; यातें किसी एक स्थलमें अवयवपरंपराका विश्राम कहना उचितहै. जहां अवयवपरंपराका पर्यवसान है यदि उसको अनित्य मानाजाय तो समवायिकारणसे विनाही भावकार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये; सो तो संभव नहीं, यातें अवयवपरंपराकी विश्राम अवधिको नित्य मानना उचित है. जैसे महत्परिमाणकी न्यूनाधिकता त्रसरेणुसे लेकर आकाशादिकोंमें विश्रामको प्राप्त होतीहै वैसेही अणुपरिमाणकी न्यूनाधिकताकी विश्रान्तिकी अवधिभी कहीं कहनी उचित है. अणुपरिमाणकी न्यूनाधिकताकी विश्रान्तिकी अवधि जहां है वही परमाणु है. इसरीतिसे परमाणुकी सिद्धि होसकतीहै.

न च त्रसरेणावेव विश्रमोऽस्त्विति वाच्यम् । त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वाद्घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवा महदवयवत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः ।

शंका-अणुपरिमाणकी विश्रामावधि त्रसरेणुहीमें मानलें तो दोष क्या है?समा०-- त्रसरेणु घटकी तरह नेत्रग्राह्य होनेसे सावयवहै.इस अनुमानसे त्रसरेणुके अवयव सिद्ध होनेसे पश्चात् त्रसरेणुके अवयवभी त्रसरेणुरूप महान्कार्यके आरम्भक होनेसे सावयव हैं जैसे कपाल घटरूप महान् कार्य्यके आरम्भक होनेसे सावयव हैं. इस अनुमानसे त्रसरेणुके अवयवोंकेभी अवयव सिद्ध होसकतेहैं.

न चेदमप्रयोजकम् । अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवधारापि सिद्ध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेः ।

शंका--इस पूर्वोक्त अनुमानमें अनुकूल तर्कका अभाव है. समाधान--अपकृष्ट महत्त्वके प्रति अनेकद्रव्यको कारणतारूपही अनुकूलतर्क प्रसिद्ध है. शंका--इसी क्रमसे उन अवयवोंकी धाराभी सिद्ध हो तो क्या हानि है? समाधान--अनवस्थारूप दोषके भयसे तथा मेरु सर्षोंके साम्यप्रसंगके भयसे अवयवोंकी धारा माननी अनुचित है. इससे अणुपरिमाणकी विश्रांतिकी अवधि परमाणुनामक पदार्थ सिद्ध हुआ.

सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

सा च त्रिधेति । सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

भाषा--वह कार्यरूपा पृथ्वी शरीरभेदसे तथा इन्द्रियभेदसे तथा विषयभेदसे तीन प्रकारकी है ॥ ३७ ॥

तत्र देहमुदाहरति, योनिजादीति--

भाषा--उनमें 'योनिजादि' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार देहके भेदको दिखलाताहै--

योनिजादि भवेद्देहं--

योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः ।

भाषा--योनिज तथा अयोनिजभेदसे वह देह दो प्रकारका है.

योनिजमपि जरायुजमण्डजं च । जरायुजं मानुषादीनाम्, अण्डजं सर्पादीनाम् । अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः, उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम् ।

भाषा--योनिजशरीरभी जरायुज तथा अण्डजभेदसे दो प्रकारके हैं. उनमें पुरुषादिकोंके शरीर जरायुज कहे जाते हैं; तथा सर्पादिकोंके शरीर अण्डज कहे जातेहैं तैसे अयोनिज शरीरभी स्वेदज तथा उद्भिज्ज भेदसे दो प्रकारके हैं. पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले कीटदंशादिक जीव स्वेदज कहेजातेहैं; तथा भूमिके भेदनसे उत्पन्न होनेवाले

वृक्षलतादिके शरीर उद्भिज्ज कहे जातेहैं. नरकमें होनेवाले जीवोंके शरीरभी अयोनिजही हैं; याते पृथक् परिगणन नहींकिये.

न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात् । न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यम्,तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलत्वादिकमेवास्तु, न तु पार्थिवत्त्वमिति वाच्यम् । क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्,गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् ।

शंका-पूर्वोक्त पुरुषादिकोंके शरीर पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले हैं इसमें क्या प्रमाणहै? समाधान-पुरुषादिकोंके शरीर पार्थिव है, गन्धवाले होनेसे किंवा शुक्लेतररूपवाले होनेसे 'घटादिवत्' इत्याकारक अनुमानही प्रमाण है. शंका-पुरुषादि शरीरोंहीमें कदाचित् स्वेदादिसे गीलापना और कदाचित् ज्वरादिकोंसे उष्णता प्रतीत होतीहै, इससे पुरुषादि शरीरोंको जलसे उत्पन्न होनेवाले किंवा तेजसे उत्पन्न होनेवालेभी कहना चाहिये. समाधान--ऐसा माननेसे जलत्व जातिका तथा पृथ्वीत्व जातिका परस्पर संकर होगा. शंका-यदि ऐसाही है तो इन शरीरोंको जलसे वा तेजसे उत्पन्न होनेवाला माननाही उचितहै और पार्थिव मानना व्यर्थ है.समाधान-शरीरसे गीलेपनेके विनाशके पश्चात् किंवा उष्णताके विनाशके पश्चात्भी पुरुषादि शरीरोंमें'यह वही देवदत्तका शरीर है' इत्याकारक शरीरत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञात्मकज्ञान होताहै और गन्धके तथा श्वेततररूपादिकोंके उपलाभ होनेसे पुरुषादिशरीरोंमें पार्थिवत्व निश्चय होताहै, पुरुषादिशरीरोंको पार्थिव सिद्ध होनेसे इनमें जलादिभूतोंको निमित्तकारण मात्र जानना चाहिये. पुरुषादिशरीरोंमें पाञ्चभौतिकत्वव्यवहारभी पञ्चभूतजन्यत्वमात्रको लेकर है किन्तु उपादान तात्पर्य्यसे नहींहै.

शरीरत्वं न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्य्यात्, किंतु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः । नच वृक्षादीनां शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम् । आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य

---

१ यहां संकरका प्रकार ऐसेहै कि-पृथ्वीत्वधर्मको छोड़कर शरीरत्वधर्म जलादिशरीरोंमें है ऐसे शरीरत्वधर्मको छोड़कर पृथिवीत्वघटादिकोंमेंहै एवं दोनों धर्मोंका समावेश मानुषादिशरीरोंमें है याते पूर्वोक्तसंकरका लक्षणसमन्वय होसकता है ।

प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेत्, भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात् ।

भाषा–पृथ्वीत्वादिजातियोंके साथ संकर होनेसे शरीरत्व जाति नहींहै,किंतु उपाधि है,चेष्टा के आश्रयका नाम शरीर है यह उसका निर्वचन है. (चेष्टा) क्रियाका व्याप्य जाति विशेष है, सो "चेष्टते२" इत्यादि व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध है वह चेष्टा वृक्षादि शरीरोंमेंभी है याते उनमें अव्याप्ति नहीं है शंका–वृक्षादिकोंके शरीर होनेमें क्या प्रमाण है? समाधान–वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका सम्बन्ध ही उनके शरीरमें प्रमाण है. शंका–वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका सम्बन्ध है. इसीमें क्या प्रमाण है?समाधान–१वृक्षादिके स्वयं फूटनेसे, २तथा वृक्षादि शरीरोंमें स्वयं (विस्फोट) गूमड़ा होजानेसे, ३ एवं वृक्षादिके परस्पर एक दूसरे पर संरोहण होजानेसे,४ तथा वृक्षादिके वर्द्धनसे, वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका अनुमान होता है.

यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति, तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् । न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशे प्रमाणाभावात् । अथवा चेष्टावदन्त्यावयविमात्रवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं तत्, मानुषत्वचैत्रत्वजातिमादाय लक्षणसमन्वयः । न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावात् । जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यम् । कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात् ॥

शंका–पूर्वोक्त क्रियाविशेषरूप चेष्टा हस्त पादादिकोंमेंभी रह सकतीहै परन्तु वहां शरीरव्यवहार कोई नहीं करता. समाधान–यदि ऐसा है तो "अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वं" ऐसा लक्षण करनेसे दोष नहीं द्रव्यान्तरके अनारम्भकका नाम 'अन्त्यावयवि' है ऐसा शरीर है; हस्तपादादि नहीं हैं. शंका–जिस शरीरमें चेष्टा नहीं उत्पन्न हुई उसमें पूर्वोक्तलक्षणकी अव्याप्ति होगी. समाधान–ऐसे शरीरमें प्रमाण

---

१ देवत्वधर्मभी संकरदोषसे दूषित होनेसे जातिरूप नहींहै. उसका प्रकार यह है कि-देवत्व धर्मको छोड़कर तैजसत्व धर्म स्वर्णादि तैजस पदार्थोंमें रहताहै. एवं तैजसत्वधर्मको छोड़ कर देवत्व जलीय देवोंमें है. उभयका समावेश तैजसदेवोंके शरीरमें है. इसलिये देवत्वधर्म जातिरूप नहीं है ।

नहीं है. शंका–मृतशरीरमें चेष्टा नहींहै परन्तु शरीर व्यवहार होताहै. समाधान–यदि ऐसा है तो चेष्टावाला जो अन्त्यावयवि उसमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (मानुषत्व आदिजाति)तादृश जातिमत्त्व पूर्वोक्त लक्षणका विवरण करना उचित है.ऐसा जातिघटित लक्षण करनेसे दोष नहीं. मानुषत्व चैत्रत्वादि जातिको लेकर लक्षणसमन्वय होसकताहै.शंका–नृसिंहके शरीरमें कैसे लक्षणसमन्वय होगा? वहां 'नृसिंहत्व' धर्मको एकव्यक्तिमें रहनेवाला होनेसे जातिरूपता नहींहै.समाधान–नृसिंहशरीरमें देवत्वजातिको लेकर लक्षणसमन्वय हो सकताहै. शंका--जलीयशरीरोंमें तथा तैजसशरीरोंमें वर्तनेवाला होनेसे देवत्वधर्मभी जातिरूप नहीं है. समाधान–कल्पकल्पान्तरोंके भेदसे नृसिंहके शरीरोंकोभी अनन्त होनेसे लक्षणसमन्वय होसकताहै.

– इन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।

इन्द्रियमिति । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः ।

भाषा–इन्द्रियोंमेंसे घ्राण नामक इन्द्रिय पृथ्वीसे उत्पन्न होताहै.

पार्थिवत्वं कथमितिचेत्।इत्थम्।घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषुमध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत् । नच दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यम् । परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् ।

शंका–'घ्राणइन्द्रिय पार्थिव है' इसमें क्या प्रमाणहै? समाधान–जैसे कुंकुम (केसर) के गन्धक अभिव्यंजक गोघृत कुंकुमके रूपादिकोंका अभिव्यंजक न होकर केवल कुंकुमके गन्धहीका व्यंजक है और पार्थिवभी है; वैसेही घ्राणइन्द्रियभी रूपादिकोंके मध्यमें केवल गन्धहीका व्यंजक होनेसे पार्थिव सिद्ध होताहै. शंका–घृतरूप दृष्टान्त कुंकुमयोगसे उसके गन्धका व्यंजक होकर अपने रूपकाभी व्यंजक है; इसलिये पूर्वोक्त हेतु दृष्टान्तमें स्वरूपासिद्ध है. समाधान–परकीयरूपादिकोंके अव्यंजक होकर केवल गन्धहीके व्यंजक होना पूर्वोक्त हेतुका अर्थ है. ऐसा हेतु घृतरूप दृष्टान्तमें सिद्ध है; क्योंकि घृत अपनेसे पर कुंकुमके रूपादिकोंका व्यंजक न होकर केवल गन्धहीका व्यंजकहै.

न च नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेनैकान्तिकत्वमिति वाच्यम्, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात्।यद्वा परकीयेति न देयं वायूपनी-

तसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात्। न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात्तत्राव्यभिचार इति वाच्यम्, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् ॥

शंका—पूर्वोक्त हेतु जलमें व्यभिचारी है; क्योंकि जलभी नवीन शराव (प्याले) के गन्धहीका व्यंजक है. समाधान—नवीन शरावके गन्धका व्यंजक जल केवल गन्धहीका व्यंजक नहींहै, किन्तु सक्तु (सत्तु) के रसकाभी व्यंजक है; याते पूर्वोक्त हेतु जलमें व्यभिचारी नहीं अथवा लाघवानुरोधसे पूर्वोक्त हेतुमें 'परकीय' यह पद न देना और घृतको दृष्टान्तभी न रखना चाहिये. वायुवेगसे देशान्तरमें प्राप्त जो पुष्पादिकोंके सुगन्धितभाग वे दृष्टान्त बन सकतेहैं; क्योंकि वे रूपादिकोंके मध्यमें केवल गन्धहीके व्यंजक हैं और पार्थिवभी हैं. शंका—घ्राणइन्द्रियका जो अपने गन्धरूप विषयके साथ 'स्वसंयुक्तसमवाय' संबन्ध है उसको केवल गन्धहीका व्यंजक होनेसे उसी संबन्धमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा. समाधान—पूर्वोक्तहेतुमें 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण देना उचित है अर्थात् द्रव्य होकर रूपादिकोंके मध्यमें गन्धहीका व्यंजक होना चाहिये. एवं पूर्वोक्त संबन्ध द्रव्य नहीं, याते दोष नहीं.

विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥ ३८ ॥

भाषा—द्व्यणुकादिसे लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त विषयरूपा पृथ्वी है ॥ ३८ ॥

विषय इति। उपभोगसाधनं विषयः। सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम्। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव। न हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति, तेन द्व्यणुकादि ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः ॥ ३८ ॥

भाषा—सुखदुःखसाक्षात्कारके प्रयोजकका नाम विषय है. साक्षात् अथवा परंपरासंबन्धसे कार्य्यसंपादकका नाम प्रयोजक है. सम्पूर्ण कार्य्यसमुदाय जीवोंके अदृष्टोंके अधीनहै. जो कार्य जिस जीवके जिस अदृष्टके अधीन है वह कार्य्य उसी जीवको उसी अदृष्टके अनुसार साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्धसे सुखदुःख साक्षात्कारका प्रयोजक होताहै. इस संसारमें कारण अथवा प्रयोजनसे विना किसी वस्तुकीभी उत्पत्ति नहीं है; याते द्व्यणुकादिसे लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त सम्पूर्ण विषय होसकताहै. विषयके

पूर्वोक्त लक्षणानुसार यद्यपि शरीर तथा इन्द्रियकी गणनाभी विषयहीके अन्तर्भूत करनी उचितहै तथापि जुदा परिगणन केवल शिष्यलोगोंकी बुद्धि विशदार्थ है॥ ३८॥

जलं निरूपयति, वर्णः शुक्ल इति-

भाषा-'वर्णः शुक्ल' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार जलका निरूपण करता है-

वर्णः शुक्लः-

भाषा-जलका शुक्ल अर्थात् सुपेद वर्ण है.

स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वं जातिः सिद्ध्यति । यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकम्, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम् । अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्, तत्र जन्यस्नेहाभावात्।नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्, न । जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः । शुक्लरूपवत्त्वमेव दर्शयितुमुक्तं 'वर्णः शुक्ल' इति । न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम् ।

भाषा-स्नेहरूप कार्य्यकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक होनेसे जलत्वरूपा जाति सिद्ध है. यद्यपि स्नेहत्वरूप धर्म नित्य जल तथा अनित्य जल उभयमें वृत्ति होनेसे कार्यताका अवच्छेदक नहीं हो सकता तथापि जन्यस्नेहत्वरूप धर्म कार्यताका अवच्छेदक जानना चाहिये. शंका-परमाणुओंमें जलत्वजातिकी सिद्धि न होगी; क्योंकि वहां जन्य स्नेह नहींहै. यदि स्नेहरूप कार्य्यके प्रति जलीयपरमाणुओंमें स्वरूपयोग्यतारूप कारणता माने तो उस स्वरूपयोग्यतारूप कारणतासे कदाचित् फलभी

१ 'समवायसम्बन्धावच्छिन्न स्नेहत्वावच्छिन्न स्नेहनिष्ठ कार्य्यता निरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जलनिष्ठा समवायिकारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इत्यादि ।

२ 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यस्नेहत्वावच्छिन्न जन्यस्नेहनिष्टजन्यता निरूपिता । तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इत्यादि ।

३ 'एवं समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यजलत्वावच्छिन्नजन्यजलनिष्ठाजन्यता निरूपिता तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्ना या शुद्धजलनिष्ठा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, इत्यादि । इन प्रयोगोंसे शुद्धजलत्वजातिकी सिद्धि होतीहै.

अवश्य होना चाहिये, सो तो नहीं होता; याते स्नेहरूप कार्यकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक एक अनुगत जलत्व जातिकी सिद्धि नहीं होसकती. समाधान—जन्यस्नेहनिष्ठ जन्यता निरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक होनेसे जन्यजलमें जलत्वजाति सिद्ध हुए पश्चात् जन्यजलनिष्ठ जन्यतानिरूपित जो शुद्ध जलनिष्ठा जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक होनेसे शुद्ध जलत्वजातिकी सिद्धि होतीहै. जलका रूप श्वेत है, केवल यह दिखलानेके लिये मूलमें "वर्णः शुक्लः" यह पाठ लिखाहै; किन्तु श्वेतरूपवत्त्व जलका लक्षण नहींहै.

अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः । तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः ।

भाषा—अथवा नैमित्तिक द्रवणवाले जो 'पृथिवी तेजः' इनमें न वर्तनेवाली तथा रूपवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य 'जलत्व' जाति तादृश जातिवाले होना जलका लक्षण है; किंवा अप्रकाशक श्वेतरूपसे इतर जो 'नीलपीतादि तथा प्रकाशक श्वेतरूप' इनका असमानाधिकरण होकर रूपवद् जो जल उसमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जलत्वजाति तादृश जातिमत्ताही पूर्वोक्त "वर्णः शुक्लः" इस ग्रन्थका अर्थ है. एवं लक्षण करनेसे स्फटिकमणिआदिमें अतिव्याप्ति नहींहै. अन्यथा शुक्लवर्णवत्त्वेन स्फटिकमणिरूप पृथिवीमें अतिव्याप्ति स्पष्टही थी.

—रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।

भाषा—जलमें रस तथा स्पर्श यथाक्रम मधुर तथा शीतल है.

रसस्पर्शाविति । जलस्य मधुर एव रसः शीत एव स्पर्शः । तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः, तेन शर्करादौ नातिव्याप्तिः । ननु शुक्लरूपवत्त्वमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलोपलब्धेरिति चेत्, न । नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात् । कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी । अतएव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः ।

भाषा-अर्थात् जलमें रस मधुरही है. तथा स्पर्श शीतही है. इसकाभी तिक्तादि रसवालेमें न वर्तनेवाली तथा मधुररसवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जलत्वजाति तादृश जातिमत्ता जलका लक्षण है, ऐसा जातिघटित लक्षण करना उचित है. ऐसा कहनेसे चीनी शर्करादिमें अतिव्याप्तिभी नहींहै. क्योंकि ये पार्थिव हैं. इनमें रहनेवाली पृथ्वीत्व जाति तिक्तादिरसवालेमें न वर्तनेवाली नहींहै, किन्तु वर्तनेवालीही है; याते जातिघटित लक्षणकी वहां प्रसक्ति नहींहै. शंका-'जलका शुक्लही रूप है' यह कैसे निश्चय किया जावे? क्योंकि यमुनाके जलमें नीलरूपभी दिखाईदेताहै. समाधान-नीलरूपनिष्ठ जन्यता निरूपिता जो जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक जो पृथिवीत्वजाति उसका जलमें अभाव होनेसे जलमें नील रूपका सम्भव नहीं होसकता.यमुनाके जलमें नीलरूपकी प्रतीति तो पृथ्वीसम्बन्धसे औपाधिकी है अर्थात् नीचेकी पृथ्वी नीली है उसीकी नीलता जलमें दीख पड़ती है. इसीसे यमुनाके जलको यादि ऊपरको फैंके तो श्वेत प्रतीत होता है.

अथ जले माधुर्ये किं मानं, न हि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते, नच नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् । तस्याश्रयोपाधिकत्वात् । अन्यथा जम्बीरजलादावम्लादिरसोपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत, न।हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात् । नच हरीतक्यामेव जलोष्णसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यम् । कल्पनागौरवात् ।

शंका-जलके मीठेपनेमें क्या प्रमाण है? रासनज प्रत्यक्षसे तो जलमें किसी रसकीभी प्रतीति नहीं होती. यदि कहो कि नारियल तथा इक्षु आदिका जल मधुर ही होताहै, तो युक्त नहीं; क्योंकि वह मधुरता पृथ्वी सम्बन्धसे पृथ्वीहीकीहै जलकी नहीं. (अन्यथा) निम्बु गरगलादिके रसमें आम्ल (खट्टा) रसभी प्रतीतहोता है वहभी जलमें मानना चाहिये.समाधान-जलमें अनुद्बुद्ध मधुर रस है. हरीतकी(हरड़) या आमला खानेके पश्चात् जल पीनेसे उसमें मधुरता उद्बुद्ध होतीहै.शंका-जल तथा ऊष्म (मुखकी भाफ) के सम्बन्धसे हरीतकीमेंही रसान्तरकी उत्पत्ति मान लीजाय तो क्या दोष है? समाधान-कल्पनागौरव है. अर्थात् फलादिरूप पृथ्वीमें रसकी उत्पत्ति तेजःसंयोगसे देखी जाती है और यदि पूर्वोक्त हरीतकीके उदाहरणके अनुरोधसे जलके संयोगकोभी पृथिवीरसका उत्पादक माना जाय तो यह एक जुदा कार्य्यकारणभाव माननेमें कल्पनागौरव है.

पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जलेनाम्लादिकम्। जम्बीररसादौ त्वाश्रयोपाधिकी तथा प्रतीतिः। एवं जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वम्, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वमिति बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततरसलिलस्यैव। तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्।

भाषा—अम्लादिनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्व पृथिवीत्वको है; याते अम्लादिक जलके धर्म नहींहैं. निम्बु गरगलादिके रसमें अम्लप्रतीति तो स्वसमवायिसंयोग सम्बन्धसेहै याते औपाधिकी है. ऐसे जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदक जन्य जलमें जलत्वजाति है और जन्यजलनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदक शुद्ध जलत्व जाति है. शंका—घिसेहुये चन्दनकाभी तो शीत स्पर्श होताहै याते जलका लक्षण चन्दनमें अतिप्रसक्त होगा. समाधान—चन्दनमें शीतलता प्रतीति चन्दनान्तर्गत जलहीकी है, चन्दन शीतल नहीं है. अग्निआदिके संयोगसें जलमें उष्णताकी प्रतीति तो औपाधिकी स्पष्टही है. जलमें पाक तो होही नहीं सकता.

स्नेहस्तत्र—

भाषा—स्नेह अर्थात् चिकनापना जलहीमें रहता है.

स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहो जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्।

भाषा—घृतादिकोंमेंभी स्नेह घृतान्तर्वर्ति जलहीका है, क्योंकि स्नेहकी समवायिकारणता जलहीमें सिद्ध है इससे जलहीमें स्नेहका मानना उचित है.

—द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

भाषा—द्रवणगुण जलमें स्वाभाविक स्वीकार किया है ॥ ३९ ॥

द्रवत्वमिति। सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धस्तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। तैलादावपि जलस्यैव द्रवत्वम्, स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ३९

भाषा—स्वाभाविक द्रवणमें स्वाभाविक द्रवणत्वरूपा जातिविशेष तो प्रत्यक्षही सिद्ध है, स्वाभाविक द्रवणत्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदकभी

ष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः । तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम् । न चोष्णस्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यम् । तत्राप्युष्णस्य सत्त्वात् । किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः। एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः।

भाषा-उष्णस्पर्शमें रहनेवाला (उष्णत्व) धर्म स्पर्शनिष्ठ जातिविशेष प्रत्यक्ष सिद्ध है. इस रीतिसे जन्य उष्णस्पर्शनिष्ठ कार्यतानिरूपिता जो तेजोनिष्ठा समवायि कारणता तादृश कारणताकी अवच्छेदक तेजस्त्व जाति विशेष है. उस तेजस्त्व जाति विशेषकी परमाणुओंमें सिद्धि पूर्वोक्त जलत्वजातिकी तरह जाननी चाहिये अर्थात् तेजःपरमाणुओंमें जन्य उष्णस्पर्श नहीं है. इसलिये जन्य स्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदक परमाणु साधारण तेजस्त्व जाति सिद्ध नहीं होसकती; किन्तु जन्यस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्वरूपसे जन्यतेजस्त्वजातिकी सिद्धि और जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्व रूपसे शुद्ध तेजस्त्व जातिकी सिद्धि होती है. शंका-उष्णस्पर्शवत्ता चन्द्रकिरणादिकोंमें अव्याप्तिग्रस्त है. समाधान-चन्द्रकिरणादिमें उष्णस्पर्श है तो सही परन्तु चन्द्रकिरणोंके बीच जल भी रहता है. जलके स्पर्शसे उष्णस्पर्श दबा रहता है इसलिये ग्रहण नहीं होता. ऐसे ही रत्नभी तेजःपदार्थ है. उनका उष्णस्पर्श पार्थिवस्पर्शसे तिरस्कृत है और नेत्रादिमें अनुद्भूत (अनुद्बुद्ध) स्पर्श है इसलिये प्रत्यक्ष नहीं होता.

—स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।

भाषा-तेजःपदार्थका रूप श्वेत तथा प्रकाशवान् है.

रूपमित्यादि । वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लत्वाग्रहः । तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत्, न । अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना । वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं किंतु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये ।

भाषा-प्रज्वलित अग्निमें तथा मणिकिरणादिमें जो रक्त (लाल) रूप दिखाई देता है वह पृथिवीका है, पार्थिवरूपसे तेजका वास्तवश्वेतरूप तिरस्कृत है; याते प्रत्यक्ष नहीं होता. शंका-यदि तेजका वास्तवरूप ग्रहण नहीं होता तो

इस रूपके धर्मी अग्नि आदिकाभी ग्रहण न हुआ चाहिये. समाधान–धर्मीका ग्रहण रूपान्तरसेभी होसकताहै. जैसे पित्तदोषदूषित नेत्रोंद्वारा श्वेतशंखका पीतरूपसे पार्थिवरूपसे अग्निका रूप तिरस्कृत (दबा हुआ) नहींहै, किन्तु अग्निके शुक्लरूपमें जो 'शुक्लत्व' जाति वह दबी है ऐसाभी कई लोग मानते हैं.

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु–

भाषा–निमित्तसे अर्थात् अग्निसंयोगसे द्रवण तेजःपदार्थमें है.

नैमित्तिकमिति । सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात् । न च नैमित्तिकद्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तेर्घृतादावतिव्याप्तेश्चेति वाच्यम् । पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

भाषा–सुवर्णादिरूप तेजःपदार्थमें नैमित्तिक द्रवण प्रसिद्ध है. शंका–नैमित्तिक द्रवण तेजःपदार्थका लक्षण नहीं होसकता;क्योंकि वह अग्निआदिकोंमें अव्याप्त है तथा घृतादिकोंमें अतिव्याप्त है. समाधान–पृथिवीमें न वर्तनेवाली जो नैमित्तिक द्रवण वालेमें वर्तनेवाली तेजस्त्वजाति तादृश जातिमत्ता यावत् तेजःपदार्थमें दिखलानेकी वक्ताकी इच्छा है; याते दोप नहीं.

–नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

पूर्ववदिति । जलस्येवेत्यर्थः ।

भाषा–तेजःपदार्थका नित्यानित्य व्यवहार जलवत् जानना चाहियें ॥ ४१ ॥

तथाहि । तद्द्विविधं नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपं तदन्यदनित्यं अवयवि च । तच्च त्रिधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमयोनिजमेव, तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

भाषा–वह यह है कि तेज दोप्रकारका है एक नित्य है,दूसरा अनित्य है. नित्य परमाणुरूप हैं, उससे भिन्न अनित्य है तथा अवयवजन्य है. वह अनित्य शरीरभेदसे तथा इंद्रियभेदसे और विषयभेदसे पुनः तीन प्रकारका है. तैजसशरीर अयोनिज सूर्य्यलोकमें प्रसिद्ध है.

अत्र यो विशेषस्तमाह, इन्द्रियमिति–

भाषा–'इन्द्रिय' इत्यादियन्थसे तेजःपदार्थमें जो औरोंसे विशेषताहै वह कहताहै.–

इन्द्रियं नयनं–

भाषा–नेत्र इन्द्रिय तेजःपदार्थसे उत्पन्न हुआ है.

चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् । प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादाद्यं परकीयेति, घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वात् व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति । अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम् । चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम् ।

भाषा—घटपटादिकोंके स्पर्शादिका न ग्राहक होकर केवल उन (घटादि) के रूपका ग्राहक होनेसे नेत्रइन्द्रिय तैजस प्रतीत होताहै. जैसे प्रदीप घटादिके स्पर्शादिका ग्राहक न होकर केवल रूपका ग्राहक है और तैजसभी है. दृष्टान्तमें प्रदीपको स्वस्पर्शका ग्राहक होनेसे हेतुकी विशेषणासिद्धि वारणके लिये प्रथम 'परकीय' पद है. परकीय स्पर्शादिकोंके ग्राहक न होकर विषयतासम्बन्धसे स्वकीयरूप ग्राहकत्व घटादिपदार्थोंमेंभी है; उनमें पूर्वोक्तहेतुका व्यभिचार होगा. उस (व्यभिचार) के वारणार्थ हेतुमें दूसरे 'परकीय' पदका निवेश है. अथवा 'प्रदीप' की जगह 'प्रभा' को दृष्टान्त रक्खें तो प्रथम 'परकीय' पदके न देनेसेभी दोष नहीं प्रभामें स्वपरस्पर्शादि ग्राहकत्व नहींहै. नेत्र घटादिके संयोगमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा इसलिये हेतुमें 'द्रव्यत्व' पदका निवेश करना चाहिये अर्थात् "द्रव्यत्वे सति स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्" इति ।

विषयं दर्शयति, वह्नीति—

भाषा—'वह्नि' इत्यादि मूलसे ग्रन्थकार तैजसविषयको दिखलाताहै—

—वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः ।

भाषा—अग्नि तथा सुवर्णादि धातु यह तैजस विषय है.

ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेत्, न । सुवर्णं तैजसम् असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवीति । न चाप्रयोजकं पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चाग्निसंयोगनाश्यत्वात् । ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वात्तेन व्यभिचार इति चेत्, न । जलमध्यस्थमसीक्षोदकवत्तस्याद्रवत्वात् ।

शंका–सुवर्णके तैजस होनेमें क्या प्रमाण है? समाधान–किसी प्रतिबन्धकके न होनेसेभी अत्यन्त अग्निका संयोग होनेसेभी सुवर्णमें अनुच्छिद्यमान द्रवण रहता है इसलिये जाना जाता है कि, सुवर्ण तैजस है. (यन्नैवं) जो प्रतिबन्धकके न होनेसे अत्यन्त अग्निके संयोग होनेसे अनुच्छिद्यमान द्रवणवाला नहींहै अर्थात् जिसके द्रवणका उच्छेद (विनाश) होजाताहै, (तन्नैवं) वह तैजसभी नहीं है; जैसे पृथ्वीहै. शंका–तुम्हारा अनुमान अप्रयोजक है अर्थात् अनुकूल तर्कके अभाववाला है. याते सुवर्णके तैजस न होनेसेभी पूर्वोक्त हेतु सुवर्णमें रहे तो दोष नहीं. समाधान–घृतलाक्षादि पृथ्वीमें जो द्रवण है तथा जन्य जलमें जो द्रवण है वह अग्निसंयोगसे नष्ट हो जाताहै. सुवर्णके द्रवणका नाश नहीं होता. यही पूर्वोक्त अनुमानमें अनुकूलतर्क है. शंका– पीतरूपके तथा गुरुत्वके आश्रय पृथ्वीके भागोंकाभी तो उसकालमें सुवर्णके साथही द्रवण होताहै. उनमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा. समाधान–जलके बीच घुले हुये स्याहीके चूर्णकी तरह सुवर्णमें होनेवाले पृथ्वीके पीत भागभी द्रवणयुक्त नहीं केवल जलके तथा सुवर्णके सम्बन्धसे उभयत्र पार्थिव भागोंमें द्रवणकी भ्रमात्मक प्रतीति होतीहै.

अपरे तु पीतिमाश्रयस्यात्यन्ताग्निसंयोगेऽपि रूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयं द्रवद्रव्यं कल्प्यते । तथाहि । अग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयो विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः,अत्यंताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणपार्थिवत्वात् । जलमध्यस्थपीतपटवत्, तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

भाषा–कई एक आचार्य ऐसेभी कहतेहैं कि, पीतरूपके आश्रय पार्थिवभागोंका अति अग्निके संयोग होनेसेभी रूप बदलता नहीं देखाजाता इसलिये अग्निसंयोगसे पार्थिवभागोंमें रूप न बदलने देनेवाला कोई विजातीय विलक्षण तथा द्रवणयुक्त द्रव्यप्रतिबन्धक कल्पना करना उचितहै उस कल्पनाका प्रकार यह है कि, जैसे जलपूरित पात्रमें पीत वस्त्र डालकर अग्निपर वह पात्र रखा जाय तो अत्यन्त अग्निका संयोग होनेसेभी वस्त्रका पूर्वरूपसे विलक्षण रूप नहीं देखाजाता; वैसेही पीतरूपयुक्त तथा गुरुत्वके आश्रय सुवर्णस्थ पार्थिवभागोंमेंभी अत्यन्त अग्निसंयोग होनेसेभी पूर्वरूपसे विलणरूपकी अधिकरणता प्रतीत नहीं होती.इससे जाना जाताहै कि वह सुवर्णस्थ पार्थिवभाग किसी विलक्षण तथा रूपके प्रतिबन्धक द्रवणयुक्त द्रव्यके साथ मिश्रित हैं; वह विलक्षण द्रव्य पृथ्वी जलसे भिन्न होनेसे नियमसे तेजःपदार्थ है.

वायुं निरूपयति, अपाकज इति ।

भाषा-'अपाकज' इत्यादिग्रंथसे मूलकार वायुका निरूपण करताहै ।

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥ ४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।

भाषा-अग्निसंयोगसे न उत्पन्न होनेवाला जो शीत उष्णसे भिन्न मध्यराशीका स्पर्श उसवाला वायु है ॥ ४२ ॥ यह वायु टेढ़ी गतिवाला है. स्पर्शादिक हेतुओंसे वायुका आनुमानिक ज्ञान होताहै.

अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति । अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीतेति । तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः। तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः ।

भाषा-अनुष्णाशीतस्पर्शयुक्त पृथ्वीभी है, उससे वायुके लक्षणकी अव्याप्ति-वारणार्थ लक्षणमें 'अपाकज' पद अनुष्णाशीतस्पर्शका विशेषण किया है. अपाकजस्पर्श जल तथा अग्निमें है; उनसे अतिव्याप्तिवारणार्थ लक्षणमें 'अनुष्णाशीत' पदका प्रवेश है. इतने कथनसे वायुमें अग्नि जल पृथ्वीसे विलक्षण स्पर्श दिखलाया है. उस विलक्षणस्पर्शनिष्ठजन्यतानिरूपित जनकता वायुमें है. जनकताका अवच्छेदक 'वायुत्व जाति है.

एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः । वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते, विजातीयस्पर्शेन विलक्षणशब्देन तृणादीनां धृत्या शाखादीनां कम्पनेन च वायोरनुमानात्। यथा च वायोर्न प्रत्यक्षं तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

भाषा-इस वायुका स्पर्शादि (लिङ्ग) हेतुओंसे आनुमानिक ज्ञान होता है. इसके अनुमापक स्पर्श शब्द, धारण, और कम्पन ये चार हेतु हैं. अर्थात् विलक्षणस्पर्शसे विलक्षण शब्दसे तृणादि गुरुपदार्थोंके धारणसे वृक्षादिकोंके कंपनसे वायुका आनुमानिक ज्ञान होता है. अनुमान रचनाका प्रकार यह है कि-जो यह रूपवाले द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे न रहनेवाला स्पर्श है वह किसीके आश्रितहै. पृथ्वी समवेतस्पर्शकीतरह स्पर्श होनेसे । इति१ । एवं रूपवाले द्रव्यका अभिघात न होनेसेभी जो यह पुष्पपत्रादि

कोंमें शब्द सन्तति है; वह किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके संयोगसे जन्य है. दण्डाभिघातसे भेरीशब्दकी तरह अवयवोंके न विभाग होनेसेभी द्रव्यसम्बन्धि शब्द सन्तति होनेसे-इति २; एवं आकाशमें तृणतूलादिकोंकी धृति किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके संयोगहेतुका है, नौका धृतिकी तरह अस्मदादिकोंसे अनधिष्ठित द्रव्यधृति होनेसे-इति ३; एवं रूपवाले द्रव्यके अभिघातसे विना जो तृणशाखादिमें क्रिया है वह किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके अभिघातसे जन्य है. नदीप्रवाह में प्रवहित तृणक्रियाकी तरह विलक्षण क्रिया होनेसे-इति ४; जिस रीतिसे वायुका प्रत्यक्ष नहीं होता वह रीति आगे आत्मानिरूपणमें कहेगा.

पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं -

भाषा-वायुका नित्य अनित्यपना जलकी तरहही कहा है.

पूर्ववदिति । वायुर्द्विविधः, नित्योऽनित्यश्च, परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्यः समवेतश्च, सोऽपि त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्, परंतु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगसाधनत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति ।

भाषा-अर्थात् वायु नित्यानित्यभेदसे दो प्रकारका है. परमाणुरूप वायु नित्य है और कार्य्यरूप अनित्य है. तथा समवायसम्बन्धसे स्वअवयवोंमें रहता है. वह अनित्यवायुभी शरीरभेदसे, इन्द्रियभेदसे तथा विषयभेदसे तीन प्रकारका है. उनमेंसे वायवीय शरीर तो अयोनिज पिशाचादिकोंका वायुलोकमें प्रसिद्ध है; परन्तु इतना विशेष है कि जलीय शरीरोंको तथा तैजस शरीरोंको तथा वायवीय शरीरोंको भोग उपकरणता पार्थिवभागोंकी मिलावटसे है. जलीयत्व आदि व्यवहार तो जलादिकों की प्रधानता होनेसे होताहै.

अत्र यो विशेषस्तमाह, देहव्यापीति-

भाषा-'देहव्यापि' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार त्वगिन्द्रियनिष्ठ विशेषताको कहताहै.

देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥ ४३ ॥

भाषा-सर्वशरीरमें व्यापक त्वगिन्द्रिय वायवीय है ॥ ४३ ॥

शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक् । तच्च वायवीयं रूपादिषु स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वादङ्गसङ्गिसलिलशैत्यव्यञ्जकव्यजनवातवत् ।

भाषा-यावत् शरीरमें व्यापक तथा स्पर्शका ग्राहक त्वक्इन्द्रिय है. वह रूपादि-कोंके मध्यमेंसे स्पर्शहीका ग्राहक होनेसे वायवीय है, जैसे व्यजन (पंखे) का पवन शरीरसम्बन्धि स्वेदरूप जलके केवल शैत्यहीका ग्राहक है तद्वत् ॥ ४३ ॥

विषयं दर्शयति, प्राणादिरिति-

भाषा-'प्राणादि' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार वायवीय विषयको दिखलाता है-

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।

भाषा-प्राणादिवायुसे लेकर महावायुपर्यंत वायवीय विषय है.

यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधस्तस्य चतुर्थी विधा तु प्राणादिरित्युक्तमाकरे । तथापि संक्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम् । प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमादिनानाक्रियावशाच्च नानासंज्ञां लभत इति ।

भाषा-यद्यपि अनित्य वायु चार प्रकारका है. उसका चौथा भेद प्राणादिवायु है; यह वार्ता प्रशस्तपादभाष्यमें लिखी है, तथापि इस ग्रन्थमें संक्षेपसे अनित्य वायुके तीन भेदही कहे हैं. प्राणवायु एकभी हृदयादि नानास्थानभेदसे तथा मुखनिर्गमनादि नानाक्रियाके भेदसे 'प्राण अपान आदि' नाना संज्ञाको लाभ करता है.

आकाशं निरूपयति, आकाशस्येति-

भाषा-'आकाशस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आकाशका निरूपण करे है-

आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥ ४४ ॥

भाषा-शब्दात्मक विशेष गुणवाला आकाश जानना योग्य है ॥ ४४ ॥

आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाशत्वादिकं न जातिः किंत्वाकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम् । वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय । एतेन प्रमाणमपि दर्शितम् ।

भाषा-आकाश काल तथा दिशाको एक एक व्यक्ति होनेसे आकाशत्वादिधर्म जातिरूप नहीं है, किंतु समवायसम्बन्धसे शब्दका आश्रयही आकाश है. मूल कारिकामें 'वैशेषिक' यह कथन तो विशेष गुणान्तर व्यवच्छेदके वास्ते है; अर्थात् आकाशमें शब्दके सिवाय विशेष गुणान्तर नहीं है; इतने कथनसे आकाशमें प्रमाणभी दिखलाया है; वह प्रमाण अनुमान है.

तथाहि । शब्दो विशेषगुणश्चक्षुर्ग्रहणायोग्यवहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्, शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् संयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणोऽग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति । जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति ।

भाषा–उसका प्रकार यह है कि-शब्दभी स्पर्शकी तरह गुणहै. नेत्रसे ग्रहणके अयोग्य होकर बाह्य इन्द्रियसे ग्रहण योग्य'शब्दत्व'जातिवाला होनेसे–इति.इस अनुमानसे शब्दको गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमांसकके मतका खण्डन किया और अग्रिम अनुमानमें स्वरूपासिद्धिका परिहारभी किया है. दूसरा अनुमान यह है कि–शब्द संयोगकी तरह गुण होनेसे किसी एक द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहता है, इस अनुमानसे 'शब्द' को द्रव्यसमवेतत्वसिद्धिके पश्चात् 'शब्द' स्पर्शवाले द्रव्योंका विशेष गुण नहीं है, सुखकी तरह अग्निसंयोगरूप असमवायिकारणत्व अभावविशिष्ट अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्ष होनेसे; इस अनुमानसे यह सिद्ध हुआ कि 'शब्द' पृथ्वी आदि चतुष्टयका विशेष गुण नहीं है, पृथ्वीनिष्ठ पाकजरूपका प्रत्यक्ष अकारण गुणपूर्वकहै उससे प्रकृत हेतुका व्यभिचार वारणार्थ "अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावेसति" यह सप्तमीअन्त हेतुका विशेषण कहा. पार्थिवरूपका असमवायिकारण अग्निसंयोग है, याते व्यभिचार नहीं है. एवं यदि सप्तमीअन्तमात्र हेतु रक्खें तो पटादिके रूपमें हेतु व्यभिचारी होगा,क्योंकि पटके रूपमें अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभाव सिद्ध है, इसलिये 'अकारण गुणपूर्वक प्रत्यक्षत्व' कहा. पटके रूपका प्रत्यक्ष अकारण गुणपूर्वक नहीं है;किन्तु पटका कारणीभूत जो तन्तु उनके रूपग्रहणपूर्वक पटके रूपका प्रत्यक्ष है, याते व्यभिचार नहीं है. एवं यदि हेतुमें 'प्रत्यक्ष' पद नहीं देवें तो समग्र हेतुका व्यभिचार जलीय परमाणुओंके रूपमें होगा; क्योंकि जलीय परमाणुभी अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावविशिष्ट अकारणगुणपूर्वक है; परन्तु प्रत्यक्ष नहीं है याते व्यभिचार नहीं है–इति ॥

शब्दो न दिक्कालमनोगुणो विशेषगुणत्वात् । नात्मविशेषगुणो

१ जो लौकिक सम्बन्धसे इन्द्रियग्राह्य हो और लौकिक सम्बन्धहीसे द्विइन्द्रियसे ग्रहणकी योग्यता न रखता हो तथा गुणत्वव्याप्य जातिवाला हो वह 'विशेषगुण' कहाताहै. इस लक्षणके लक्ष जो विशेषगुण हैं उनका निरूपण 'बुद्ध्यादिषट्कं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं करेगा.

बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत् । इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमद्रव्यं गगननामकं सिद्ध्यतीति । न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम् । अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ॥ ४४ ॥

भाषा-तत्पश्चात् 'शब्द' दिशाका तथा कालका तथा मनकाभी गुण नहीं है; रूपकी तरह विशेष गुण होनेसे-इति. ऐसा अनुमान करना उचित है. एवं शब्द आत्माका विशेष गुणभी नहीं है, रूपकी तरह बाह्य इन्द्रियसे ग्रहणकी योग्यतावाला होनेसे-इति. इसरीतिसे शब्दका अधिकरण नवम द्रव्य 'गगन' नामकासिद्ध होता है. शंका-यदि ऐसा मानलें कि, वायुके अवयवोंमें प्रथम सूक्ष्मशब्द उत्पन्न होता है; पश्चात् क्रमसे स्थूलवायुमें कारणगुणपूर्वक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है तो क्या दोषहै? समाधान-पृथ्वीआदि चतुष्टयमें जो गुण रहता है वह सभी अपने आश्रयके नाश होनेसे नाश होता है और शब्द अयावत् द्रव्यभावीहै अर्थात् शब्द के आश्रय द्रव्यके नाशसे जन्य जो नाश उस नाशका प्रतियोगी शब्द नहीं है; याते शब्दवायुका विशेष गुणभी नहीं है-

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति,इन्द्रियमिति-

भाषा-आकाशीय शरीर तथा विषयका अभाव होने से. 'इन्द्रियं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार इन्द्रियको दिखलाता है ।

इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रं -

भाषा-श्रवण इन्द्रिय आकाशसे उद्‌बुद्ध हुआ है.

नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धम्,श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं तत्कथमाकाशं स्यादत आह, एकः सन्नपीत्यादि-

शंका-आकाश लाघवसे एक सिद्धहै और श्रोत्र तो पुरुषभेदसे भिन्न२है वहकैसे आकाश हो सकताहै?समाधान-'एकइत्यादि'ग्रन्थसे मूलकार समाधान लिखताहै-

- एकः सन्नप्युपाधितः ।

भाषा-आकाश एकभी उपाधि भेदसे भिन्न २ है.

आकाश एक एव सन्नप्युपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद्भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः ।

भाषा-एकही आकाश (कर्णशष्कुली) श्रोत्रछिद्ररूप उपाधिके भेदसे भिन्न २ श्रोत्रात्मक होता है-इति ।

कालं निरूपयति, जन्यानामिति-

भाषा-'जन्यानां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कालका निरूपण करे है-

जन्यानां जनकः कालः-

भाषा-जन्य पदार्थोंका (जनक) साधारण निमित्त कारण काल है,

तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह, जगतामिति-

भाषा-जगतां 'इत्यादि' ग्रन्थसे मूलकार कालमें प्रमाण दिखलाता है-

-जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥

भाषा-वह काल सर्व जगत्का आधार है ॥ ४५ ॥

तथाहि । इदानीं घट इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं विषयीकरोति तदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः । स च संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते । इत्थं च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

भाषा-उसका प्रकार यह है कि "इदानींघटः-अर्थात् इसकालमें घटहै" इत्याकारक (प्रतीति) ज्ञान यदि सूर्य्यकी क्रियाको विषय करता है तो सूर्य्यकी क्रियाके साथ घटादिकोंका कोई सम्बन्ध कहना चाहिये; वह सम्बन्ध संयोगसमवाय तो नहीं है. किन्तु 'स्वाश्रयतपनसंयोगि संयोग' रूपसम्बन्ध है. 'स्व' पदसे सूर्य्यकी क्रियाका ग्रहण है, उसका आश्रय सूर्य्य है,उसका संयोगि काल है, उसका संयोग घटादिके साथ है.इत्याकारक सम्बन्धका(घटक)मध्यपातिरचक कालही कल्पना किया जाताहै. इस रीतिसे उक्त पदार्थोंसे भिन्न काल सिद्ध हुआ तो उसको पूर्वोक्त जगत्का आधार भी कहना उचित है ॥ ४५ ॥

प्रमाणान्तरं दर्शयति, परापरत्वेति-

भाषा-'परापरत्व'इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कालमें प्रमाणान्तर दिखलाता है,

परापरत्वधीहेतुः-

भाषा-परत्व तथा अपरत्व बुद्धिका हेतुभी कालही है.

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव । परत्वापरत्वयो-

रसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः कल्प्यत इति भावः ।

शंका–ज्येष्ठभ्रातामें 'परत्व' ज्ञान होता है, तथा कनिष्ठ भ्रातामें 'अपरत्व' ज्ञान होता है. ऐसे परत्व अपरत्वके ज्ञानका असाधारण निमित्त कारण केवल 'काल' है. कालिक परत्व अपरत्वका असमवायिकारण जो काल पिण्डका संयोग उसका(अनुयोगिता सम्बन्धसे) आश्रय लाघवसे एक पृथक् काल कल्पना हो सकता है.

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह, क्षणादिरिति–

शंका–कालके एकसिद्ध होनेसेभी क्षण दिवस मास वर्ष तथा युग इत्यादि भेदरूप व्यवहार नहीं होसकेगा.

–क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

समाधान–कालमें क्षणादिव्यवहार उपाधि प्रयुक्त है.

कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म । पूर्वसंयोगावच्छिन्न विभागो वा । पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगप्रागभावो वा । उत्तरसंयोगावाच्छिन्नं कर्म वा ।

भाषा–काल एकही उपाधिके भेदसे क्षणादिव्यवहारका विषय होसकताहै. उपाधि तो यहां'स्व'शब्दसे क्रियाका ग्रहण है. सूर्यनिष्ठा किंवा मूर्तमात्रनिष्ठा जो क्रिया उस क्रियासे जन्य जो विभाग उस विभागका जो प्रागभाव उस प्रागभावाच्छिन्न कर्मरूपहै १। अथवा पूर्वसंयोगावच्छिन्न विभागरूप है२। अथवा पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगप्रागभावरूप है ३ । किंवा उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्मरूप है ४ ।

न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यम् । कर्मान्तरसत्त्वादिति । महाप्रलयक्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदाऽनागत्या ध्वंसेनोपपादनीयः । दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति ।

शंका–एक क्रियासे पूर्वोक्त उपाधि उपहित चारक्षणोंमें उत्तरसंयोग हुआ.पुनःउसके पश्चात् क्रियाकी समाप्ति होनेसे क्षणादिव्यवहार नहीं होना चाहिये.समाधान–एक

क्रियाकी समाप्तिके पश्चात् उसी मूर्तद्रव्यमें क्षणादिव्यवहारकी नियामिका क्रियान्तर उत्पन्न होतीहै. सिद्धान्त तो यह है कि महाप्रलयमें क्षणादिव्यवहार नहीं होता,परन्तु यदि कोई महाप्रलयमेंभी क्षणादिव्यवहार किया चाहे तो वहां सिवाय 'तत् तत्' पदार्थ ध्वंसके और कोई उपाधि नहीं बनसकती अर्थात् (अनायत्या) उपायान्तरके अभाव होनेसे महाप्रलयकालमें क्षणव्यवहारका नियामक 'तत् तत्' पदार्थका ध्वंसही है. दिवस मासादि व्यवहार उन क्षणोंके समुदायविशेषोंसे होताहै—इति.

दिशं निरूपयति, दूरान्तिकेति—

भाषा'—दूरान्तिक' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दिशाका निरूपण करताहै—

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥ ४६ ॥

भाषा—पदार्थोंमें दूर तथा समीप बुद्धिका नियामक एक तथा नित्य 'दिशा' पदार्थ है ॥ ४६ ॥

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम् । तद्बुद्धेर-साधारणं बीजं दिगेव। दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसं-योगाश्रयतया दिक् सिद्ध्यतीति भावः ॥ ४६ ॥

भाषा—दूरता तथा समीपता दैशिक परत्व अपरत्वरूपा जाननी चाहिये। (तद्बुद्धेः) दैशिकपरत्व अपरत्वबुद्धिका असाधारणरूपसे प्रयोजक 'दिशा' है. दैशिकपरत्व अपरत्वका असमवायिकारण जो दिशाका तथा वस्तुका संयोग उसका (अनुयोगितासम्बन्धसे) आश्रयलाघवसे एक पृथक् दिशा पदार्थ सिद्ध होताहै॥ ४६॥

नन्वेकैव दिग् यदि तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुप-पद्यतामित्यत आह, उपाधीति—

शंका—दिशा पदार्थ यदि एक है तो उसमें 'प्राची' तथा 'प्रतीची' इत्यादि व्यवहार कैसे होगा?

उपाधिभेदादेकाऽपि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

समाधान—वह दिशा एकही उपाधियोंके भेदसे 'प्राची प्रतीची' इत्यादि संज्ञाको लाभ करतीहै.

यत्पुरुषस्योदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची । उ-दयगिरिव्यवहिता च प्रतीची । एवं तत्पुरुषीयसुमेरुसन्निहिता

दिगुदीची। तद्व्यवहिता त्ववाची। सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित इति नियमात्।

भाषा-१जिस पुरुषसे जो देश उदयाचलके समीप है वह देश उस पुरुषकी अपेक्षासे 'प्राची' दिशा है. २ इस प्रकरणमें 'पुरुष'पद वस्तुमात्रका बोधक है. एवं जिस पुरुषसे जो देश अस्ताचलके समीप है वह देश उस पुरुषकी अपेक्षासे 'प्रतीची' दिशा है. ३ एवं जिस पुरुषसे जो देश सुमेरुपर्वतके समीप है वह देश उस पुरुषकी अपेक्षासे 'उदीची' दिशा है. ४ एवं (तद्व्यवहिता) सुमेरुपर्वतसे व्यवधानवाला जो देश है अर्थात् पूर्वमुख स्थित पुरुषके दहिने हाथका जो देश है वह उस पुरुषकी अपेक्षासे 'अवाची' दिशाहै. जम्बुद्वीपके जो भारतादि ९ वर्ष (खण्ड) उन सबके उत्तर भागमें सुमेरुकी स्थिति नियमसे रहती है याते पूर्वोक्तग्रन्थ सम्यक् है-इति ।

आत्मानं निरूपयति, आत्मेंद्रियेति ।

भाषा-'आत्मेन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आत्माका निरूपण करे है--

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता-

भाषा-इन्द्रिय तथा शरीरादिके धारण करनेहारा आत्मा है.

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति ।ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव, अदृष्टादिरूपकारणाभावात्तु न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः, नित्यस्य स्वरूपयोगत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात् ।

भाषा-सुख दुःख ज्ञान इच्छादि कार्योंकी समवायिकारणताका अवच्छेदक जो आत्मत्वरूप धर्म तद्रूपसे आत्मत्वजातिकी सिद्धि होतीहै. वह आत्मत्वजाति ईश्वरमें भी रहतीहै. अदृष्ट तथा शरीररूप कारणके अभावसे ईश्वर आत्मामें सुख दुःखादिकी उत्पत्ति नहींहै. यदि कहो कि, नित्यआत्मामें स्वरूप योग्यतारूप कारणता सदा रहतीहै याते कदाचित् सुखादिउत्पत्तिरूप फलभी अवश्य होना चाहिये. तो यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि यह नियम जलके परमाणुओंमें व्यभिचारी होनेसे दूषित है, अर्थात् जलीयपरमाणुओंमें स्वरूपयोग्यतारूप कारणता होनेसेभी स्नेहकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु नित्य है, याते "नित्यस्य०" इत्यादि नियम अप्रयोजक अर्थात् कारणताका संपादक नहीं है.

परेत्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव, प्रमाणाभावात् । नच दशम-

द्रव्यत्वापत्तिः । ज्ञानवत्त्वेन विभजनादिति वदन्ति इन्द्रियादीति । इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसम्पादकः ।

भाषा—कई नैयायिक कहते हैं कि–ईश्वरमें 'आत्मत्व' जातिके माननेमें प्रमाणका अभाव होनेसे ईश्वरमें 'आत्मत्व' जाति नहींहै. शंका–उनके मतमें ईश्वरको दशम द्रव्य मानना होगा. समाधान–वे आचार्य आत्माका और द्रव्योंसे विभाग (समवायेन) ज्ञानवत्त्वरूपसे करते हैं; याते दशम द्रव्यत्वकी आपत्तिरूप दोष नहीं.(इन्द्रियादीति) इन्द्रियोंमें तथा शरीरमें परंपरा अर्थात् अवच्छेदकतासम्बन्धसे ज्ञानका सम्पादक है. यहां शरीर इन्द्रिय 'अवच्छेदक' हैं और आत्मा'अवच्छेद्य' है.

यद्यप्यात्मन्यहं जानेऽहं सुखीत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव,तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणं दर्शयति, करणमिति–

भाषा—यद्यपि आत्मामें 'मैं जानता हूं, मैं सुखी हूं' इत्यादि प्रतीति होनेसे प्रत्यक्ष विषयताभी है तथापि विवाद करनेवाले पुरुषके प्रति प्रथमही यह नहीं कह सकते कि शरीरादिसे भि 'मैं सुखी' इत्यादि प्रतीतिका विषयही आत्मा है इसलिये मूलकार उसमें प्रमाण दिखलाताहै–

—करणं हि सकर्तृकम् ॥ ४७ ॥

भाषा—यह नियम है कि जो करण होताहै वह कार्यसम्पादनमें कर्ताकी अपेक्षा रखता है ॥ ४७ ॥

कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम् । एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ॥ ४७ ॥

भाषा—छेदनादि क्रियाके करण जो कुठारादि,उनको कर्तातक्षादिसे विनाफल छिदि क्रियाके अनुत्पादक देखा है. ऐसेही नेत्रादि इन्द्रियभी प्रत्यक्षज्ञानके करण हैं. इनकोभी प्रत्यक्षज्ञानरूप फलजनकता विनाकर्तासे नहीं बनसकती;इससे इन्द्रियोंसे जुदा कर्ताकी कल्पना हो सकतीहै ॥ ४७ ॥

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह, शरीरस्येति–

शंका—शरीरहीको कर्ता मानलें तो कुछ दोष नहीं.

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।

समाधान-कर्ता चेतन होताहै और शरीर चेतन नहींहै; क्योंकि मृतशरीरोंमें चेतनताका अभाव देखाजाताहै.

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेत् । न । शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः । शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।

चार्वाक शंका-चैतन्य नाम ज्ञान इच्छादिका है; सो वह जैसे तुम्हारे मतमें मुक्त आत्मामें नहीं रहते वैसेही हमारे मतमें शरीररूप आत्मामें मृतअवस्थामें न रहें तो दोष नहीं क्योंकि हमारे मतमें मृत शरीरमुक्त आत्मा है और आपको शरीरमें ज्ञानाभाव प्राण तथा आत्मा उभयके अभाव प्रयुक्त मानना पड़ता है. हमारेको केवल प्राणके अभावसे शरीरमें ज्ञानाभाव माननेमें लाघव है. समाधान-यदि शरीर चेतन हो तो बालपनमें देखे पदार्थोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण न होना चाहिये, शरीर पुष्टिक्षीणताकारक अवयवोंके बढ़ने घटनेसे शरीरसे उत्पत्ति विनाश स्वभाववाले अनुभव सिद्ध हैं.

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम् । अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात् । एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तनपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । मन्मते जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः ।

शंका-प्रथम शरीरके संस्कार दूसरे शरीरके संस्कारोंके जनकहै,याते पूर्व देखे पदार्थके स्मरणकी अनुपपत्ति नहीं है. समाधान-अवयव वृद्धिक्षीणताप्रयुक्त यावत् शरीर क्षणक्षणमें बदलते हैं; उनमें यदि पूर्व २ शरीरमें उत्पन्न संस्कारोंसे उत्तर २ शरीरमें संस्कारोंकी उत्पत्ति माने तो अनेकसंस्कार कल्पनाओंसे अति गौरव होगा. ऐसेही यदि शरीरही चेतन हो तो प्रथम उत्पन्न हुये बालककी अपनी माताके स्तनसे दूध पीनेमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये;क्योंकि प्रवृत्तिका कारण इष्ट साधनताका "इदं मदिष्टसाधनं" इत्याकारक ज्ञान है और प्रथम उत्पन्न स्तनपानप्रवृत्तिके पूर्वकालमें इष्ट-

साधनताका अनुभावक वा स्मारक कोई आपके मतमें है नहीं याते प्रवृत्ति बन नहीं सकती और मेरे मतमें तो पूर्वजन्ममें अनुभवकिये इष्टसाधनत्वका (तदानीं) प्रथम उत्पन्न स्तनपानप्रवृत्तिके पूर्वकालमें स्मरण होनेसे स्तनपानमें बालककी प्रवृत्ति बन सकती है.

न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यतामिति वाच्यम् । उद्बोधकाभावात् । अत्र त्वनायत्त्या जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते । इत्थं च संसारस्यानादितयाऽऽत्मनोऽप्यनादित्वसिद्धावनादि भावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वं सिद्ध्यतीति बोध्यम् ।

शंका–यदि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका ज्ञानही संस्कारद्वारा प्रवृत्तिमें कारण है तो जन्मान्तरानुभूत और पदार्थोंका स्मरणभी होना चाहिये. समाधान–यदि कोई उद्बोधक हो तो ज्ञानजनित संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मृतिके जनक होते हैं प्रकृतमें पदार्थान्तरोंके संस्कारोंका कोई उद्बोधक नहीं है और स्तनपान प्रवृत्तिमें तो (अनायत्त्या) गति अन्तराभावसे बालकके जीवनके अदृष्टही उद्बोधक कल्पना कर सकते हैं. इस रीतिसे संसारको अनादि होनेसे जीवात्माभी अनादि सिद्धहुआ तो अनादिभावपदार्थको विनाशी न होनेसे आत्मा नित्य सिद्ध होसकताहै.

ननु चक्षुरादीनां ज्ञानादौ करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु विरोधे साधकाभावादत आह, तथात्वमिति–

शंका–ज्ञानादि कार्योंके प्रति नेत्रादि इन्द्रियही यदि करण तथा कर्ता मानलिये जायँ तो क्या विरोध है? तथा विरोधका साधक युक्ति प्रमाण कौन है ?

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥ ४८ ॥

चैतन्यमित्यर्थः ।

समा०–यदि नेत्रादि इन्द्रियही (तथात्वं) चेतनकर्ता स्वरूप हों तो 'तत्तत्' इन्द्रियके विनाशसे तत्तत्अनुभूत पदार्थका स्मरण कैसे होवे? ॥ ४८ ॥

उपघाते नाशे सति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव । कथमिति । पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात् । अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासंभवात् । अनुभवस्मरणयोः समानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ॥ ४९ ॥

भाषा-अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियोंके विनाश होनेसे प्रथम नेत्रादिद्वारा साक्षात्कृत पदार्थका स्मरण नेत्रादि विनाशसे पश्चात् नहीं होना चाहिये; क्योंकि उसकालमें अनुभव करताका अभाव है और दूसरेके देखे पदार्थको दूसरा स्मरण करही नहीं सकता क्योंकि अनुभवका तथा स्मरणका (समानाधिकरण) एक आत्मरूप अधिकरणमें कार्यकारणभावका नियम है,अर्थात् जैसे-चैत्रके अनुभूत पदार्थको चैत्रही स्मरण कर सकता है,मैत्र नहीं करसकता; वैसेही नेत्रानुभूत पदार्थका श्रोत्र स्मरण नहीं करसकता. यही दशा सभी इन्द्रियोंमें जाननी चाहिये; परन्तु स्मरणइन्द्रिय विनाशसे पश्चात्भी होता है, याते इन्द्रियोंसे पृथक्चेतन कर्ताकी कल्पना होसकती है.

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह, मनोऽपीति-

शंका-मत हो नेत्रादिकोंमें चेतनता; परन्तु मनको चेतन तथा कर्ता मानले तो क्या दोष है ?

मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।

न तथा न चेतनमित्यर्थः ।

समाधान-मनभी चेतन नहींहै यदि मन चेतन हो तो ज्ञानादिकोंका साक्षात्कार नहीं हुआ चाहिये.

ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः।यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते ।

भाषा-अर्थात् मुनियोंने मनको अणुपरिमाणवाला माना है और प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाणको कारणता है. एवं ज्ञानसुखदुःखादि गुण यदि मनहीमें मान लिये जायँ तो उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा.जिस युक्तिसे मन अणुपरिमाणवाला है वह युक्ति मूलकार स्वयं ८५ की कारिकामें कहेगा.

नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा, तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्। ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाकारविशेषः, तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वम्, पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव

पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत् । न ।

विज्ञानवादी बौद्ध–शंका–बुद्धिहीको आत्मा मानना उचित है. वह स्वयं प्रकाशरूपा होनेसे चेतनाभी है.बुद्धिहीके स्वरूपविशेष ज्ञानसुखदुःखादिभी हैं.वह बुद्धि भी भावपदार्थ है याते बाह्य'दीपशिखादि पदार्थोंवत्' क्षण२परिणामवाली है. प्रथम२ क्षणमें उत्पन्न हुआ विज्ञान पीछेपीछे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानमें यथाक्रम कारणीभूत है. वही विज्ञान ' प्रवृत्तिविज्ञान१ आलयविज्ञान२' भेदसे दोप्रकारका है. उनमें "अयं घटः" इत्यादि प्रवृत्तिविज्ञान है और "अहमहम्" इत्याकारक आलयविज्ञान है. उक्त आलयविज्ञानकी क्षण २ परिणामिनी धारा (सुषुप्ति)गाढ निद्रावस्थामेंभी विद्यमान है. जैसे वस्त्रकी कईएक तहमें लपेटी (मृगमद) कस्तूरीकी वासना वस्त्रोंमें एकसे दूसरेमें दूसरेसे तीसरेमें यथाक्रम जातीहै,वैसेही पूर्व २ विज्ञानके अनुभवजन्य संस्कारोंका उत्तर २ विज्ञानोंमें संचार होताहै याते पूर्वविज्ञानसे अनुभूत पदार्थका उत्तर विज्ञानसे स्मरणभी बन सकताहै.

तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तेः । यत्किञ्चिद्विषयत्वे विनिगमनाभावात् । सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात् । तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेत् । न । तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्।अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः ।

समाधान–वह तवाभिमतविज्ञान यावत् जगत्को विषय करता है कि (यत्किंचित) किसीएक पदार्थको विषय करता है यदि यावत् जगत्को विषय करता है तो पुरुषको सर्वज्ञ होना चाहिये;यदि किसी एक पदार्थको कहो तो (विनिगमनाविरह) एक पक्ष प्रतिपादकयुक्तिका अभाव है अर्थात् तुम 'यत्किंचित्'पदसे घट ग्रहण करो तो हम उसीसे पट या मठ ग्रहण करें तो आपके पास घटग्रहण पक्षमात्रको कहनेवाली कोई प्रबलयुक्ति नहीं है और तुम्हारे मतमें गाढ निद्राकालमेंभी विषयोंकी प्रतीति होनी चाहिये; क्योंकि विज्ञानस्वरूपसे सविषयकही होताहै वह आलयविज्ञान धारारूपेण सुषुप्तिमेंभी विद्यमान है. बौद्ध–हमलोग सुषुप्तिकालमें निर्विषयाही विज्ञानसंतति मानतेहैं. नैयायिक–निर्विषय विज्ञानसंततिके प्रकाशरूप होनेमें कोई प्रमाण नहींहै; (अन्यथा) प्रमाणसे विनाही यदि सुषुप्तिकालमें ज्ञानस्वरूपता स्वीकृत हो तो घटपटादि पदार्थोंकोभी विज्ञानस्वरूप मान लेनेमें कोई बाधक नहींहै.

न चेष्टापत्तिः, विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यम् । घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात् । आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत् । किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्, तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन । नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्, स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात् ।

बौद्ध–घटादि यावत् पदार्थोंमें विज्ञानस्वरूपता हमको अभिमत है; क्योंकि हमारे मतमें वस्तुमात्र विज्ञानस्वरूपही है; पृथक् नहीं. नैयायिक–बाह्य विषयरूपेण अनुभव किये घटादि पदार्थोंका केवल विज्ञानरूप मानके निराकरण करना अयोग्य है. बौद्ध–यह घटपटादि पदार्थजात विज्ञानहीके आकारविशेष हैं, याते विज्ञानस्वरूपही हैं. नैयायिक–क्या वह विज्ञानका आकारविशेष विज्ञानके स्वरूपसे जुदा है कि विज्ञानस्वरूपही है. यदि जुदा कहो तो घटपटादि पदार्थ जातविज्ञानसे भिन्न स्वयंसिद्ध हुए. यदि कहो कि जुदा नहीं है तो "नीलपीते" इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञानमें नीलाकारभी पीताकारही प्रतीत होना चाहिये अथवा पीताकारभी नीलाकारही प्रतीत होना चाहिये; क्योंकि स्वरूपसे विज्ञानमें कुछ भेद नहीं है किन्तु एकही है.

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेत् । नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात् । इतरथा विरोधस्यैव दुरुपपन्नत्वात् । नवा वासनासंक्रमः संभवति । मातृपुत्रयोरपि वासनासंक्रमप्रसङ्गात् । न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनायाः संक्रमासंभवात् । उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव संक्रम इति चेत् । न । तदुत्पादकाभावात् ।

बौद्ध–नीलत्वपीतत्वादि उसी विज्ञानके धर्म विशेष (अपोहरूप) अनीलव्यावृत्तित्वादिरूपसे प्रतीत होते हैं. नैयायिक–नीलत्वादि विरुद्धधर्मोंका एक विज्ञानरूप धर्मीमें समावेश अयुक्त है. (इतरथा) परस्पर विरुद्ध धर्मोंको एकधर्मिनिष्ठ मान लेनेसे संसारके पदार्थोंमें विरोधका निश्चयही नहीं होगा और पूर्व कहा जो वासना संचार वहभी नहीं होसकता; यदि हो तो माताके देखे पदार्थका गर्भनिष्ठ बालकको भी स्मरण होनाचाहिये. बौद्ध–उपादानरूप कारणकी वासनाका उपादेयरूप कार्य–

में संचार होता है और माता अपने पुत्रका निमित्त कारण है याते दोष नहीं है. नैयायिक–वासनाका संचार होना असम्भव है. बौद्ध–पूर्व २ विज्ञानवासनाकी उत्तर२ विज्ञानमें उत्पत्ति होनी इसीका नाम संचार है. नैयायिक–उत्पन्न करनेवाले कर्ता के अभाव होनेसे वासनाकी उत्तर२ उत्पत्ति नहीं हो सकती.

उत्तरविज्ञानस्यैवोत्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः। क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेत् । न । मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च ।

बौद्ध–उत्तर २ विज्ञानही पूर्व२ विज्ञानवासनाका उत्पादक होसकता है. नैयायिक–यदि विज्ञानोंहीको वासना उत्पादक मानो तो विज्ञानोंके असंख्यात होनेसे वासनाओंकोभी असंख्यातही मानना होगा याते अत्यन्त गौरव होगा. बौद्ध–हम लोग उत्तर २ क्षणिक विज्ञानमें वासनासंचारार्थ (अतिशय) शक्ति विशेषकी कल्पना करते हैं. नैयायिक–ऐसी निर्मूल कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है और क्षणिक अनन्तशक्ति तथा उसके अनेक प्रागभाव और ध्वंस कल्पनेमें कल्पना गौरवभी है.

एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यमपि प्रत्युक्तम् । गौरवादतिशये मानाभावाच्च । बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनाच्च ।

भाषा–कई एक वादी क्षणिक शरीरोंहीको चेतन मानते हैं. सो इस पूर्व कथनसे उनका कथनभी खण्डन किया पूर्वोक्त रीतिसे वासनासंचार नहीं होसकेगा; गौरव होगा और संचारक (अतिशय) शक्ति विशेष माननेमें कोई प्रमाण नहीं है. बौद्ध–लोकमें ऐसा देखनेमें आताहै कि–क्षेत्रमें बोएहुये बीजहीसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है. कसूलमें पड़ेहुए बीजसे नहीं होती याते अंकुररूप कार्य्यके प्रति "कुर्वद्रूपता" अर्थात् अंकुरजननयोग्य जाति विशेषको हम कारणता मानते हैं. वह फलोत्पादक क्षणिक समर्थ बीजमात्रमें रहती है. ऐसेही प्रकृतमेंभी क्षणिक शरीरोंमें 'कुर्वद्रूप' उत्तर२ वासना जनक जाति विशेषहीको कारण माननेसे निर्वाह होसकता है. वह कुर्वद्रूप जातिविशेष दृष्टान्तमें तो बीजत्वके साथ समव्याप्त है और दार्ष्टान्तमें विज्ञानत्वके साथ समव्याप्त है; याते वासनासंचार होसकता है. नैयायिक–दृष्टान्तरूप बीजहीमें 'कुर्वद्रूप' अंकुर जनन योग्य जाति विशेषकी कल्पना करनी अनुचित है. अंकुरादिकी उत्पत्ति तो (सहकारी) भूमिजलादिके संयोगसेभी बनसकती है.

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा "अविनाशी वा अरे अयमात्मा" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतेश्च, इति चेत्। न। तस्य सविषयत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्,सविषयत्वस्याप्यननुभवात्। अतो विज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्।

वेदान्ती शंका—यदि आत्माके क्षणिक विज्ञानस्वरूप माननेमें गौरव है तो नित्य विज्ञान स्वरूपही मानना उचित है और इसम "अरे मैत्रेयी यह आत्मा अविनाशी है" "सत्यस्वरूप है ज्ञानस्वरूप है, तथा आनन्दस्वरूप है" इत्याद्यार्थक उपनिषद्वाक्य भी प्रमाण हैं. नैयायिक—वह नित्य विज्ञानभी सविषयक है कि निर्विषयक है? यदि सविषयक कहो तो यावत् प्रपंचविषयक है कि, यत्किंचित् वस्तुविषयक है? प्रथम पक्षमें सर्वज्ञत्वापत्ति और द्वितीय पक्षमें विनिगमनाविरहा पूर्वोक्त रीतिसे जान लेना. और यदि कहो कि नित्यविज्ञान निर्विषयक है तो निर्विषयक विज्ञानमें कोई प्रमाण नहीं, अर्थात् ऐसा कोईभी प्रत्यय नहीं जो कि किसी एक वस्तुको विषय न करे [और यदि कहो कि जिस जिस वस्तुको जो जो आत्मा ग्रहण करताहै उस २ विज्ञान स्वरूप आत्माको तत्तद्विषयकत्व है तो यहभी युक्त नहीं] क्योंकि 'नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा सविषयक है' इत्याकारक अनुभव होनाभी दुर्घट है इसलिये विज्ञानादिकोंसे भिन्न नित्य आत्मा स्वयं सिद्ध होताहै.

सत्यं ज्ञानमिति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते। ज्ञानाज्ञानसुखित्वदुःखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति। अभेदभावनयैव च यतितव्यमिति वदति। अत एव 'सर्व एवात्मनि समर्पिताः' इति श्रूयते।

भाषा—और पूर्व कहे श्रुतिवाक्योंमें प्रथम वाक्य जीवको अविनाशी कहता है सो हमको इष्टहै. द्वितीय वाक्य परमात्माको सत्यस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप कहता है उसका जीवोंमें कुछ उपयोगही नहीं. हरएक जीवके ज्ञान अज्ञान सुख दुःख इच्छा आदिके भिन्न२होनेसे जीवोंका परस्पर भेद सिद्ध होता है. एवं जीव परस्पर भिन्न सिद्ध हुए तो

ईश्वरका जीवोंसे भेद स्वयं सिद्ध हुआ; (अन्यथा) यदि ईश्वरको जीवात्मास्वरूप माने तो बन्धमोक्षकी व्यवस्था नहीं होगी अर्थात् सब जीवोंका आत्मा ईश्वर स्वरूप माननेसे कोई संसारी बद्ध है और कोई ज्ञानी मुक्त है यह व्यवस्था नहीं बनेगी और जो जीव ईश्वरके अभेद कहनेवाले "तत्त्वमसि—तुम ब्रह्मस्वरूपहो" इत्याद्यर्थक उपनिषद्वाक्य हैं; वेभी अभेदरूपसे स्वामि सेवकभाव सम्बन्धको बोधन करते हुए जीवकी प्रशंसाकरतेहैं 'अभेदभावनासे परमात्मामें प्रेमाभक्ति करनी चाहिये' ऐसी शिक्षादेतेहैं. अर्थात् जैसे अपना आप हरएकको प्रिय है वैसाही प्रेम ईश्वरसेभी करना उचित है. इसी तात्पर्यसे " विद्वान् अपने पुत्ररूप आत्माको तथा शरीररूप आत्माको तथा मुख्य आत्माको ईश्वरमें समर्पण करता है" ऐसा उपनिषद्में श्रवण होताहै.

मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत इत्यपि न । भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात् । भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव । न च द्वित्वमपि नश्यतामिति वाच्यम् । तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद्द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात् ।

वेदान्ती—भेद अज्ञानकृत है, मोक्षअवस्थामें अज्ञान निवृत्त होनेसे अभेद उत्पन्न होताहै. नैयायिक—भेद केवलान्वयी होनेसे नित्य है, इसका नाश होना असम्भव है. वेदान्ती—औपाधिक भेदका नाशही मान लिया जाय तो क्या दोष है? नैयायिक—मोक्षकालमें औपाधिक भेद नाश हुएभी व्यक्तिद्वय भिन्न२ रहती हैं. वेदांती—व्यक्तिद्वयमें द्वित्वकाभी नाश माने तो क्या दोष है? नैयायिक—जैसे तुमारे मतमें यावत् धर्मशून्य ब्रह्ममें सत्यत्वधर्म नहींभी है परंतु तोभी ब्रह्म सद्रूप है वैसे हमारे मतमेंभी मोक्षकालमें जीव ईश्वरनिष्ठ द्वित्वरूप धर्मके नाश हुएभी वह परस्पर द्वयात्मक हैं; यह कहना सुवच है.

मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेत् । एकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमप्युच्यताम् । प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथिवीजलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात् । योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, संपदाधिक्ये पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त इतिवत् । अत एव " निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रूयते ।

वेदांती-हमारे मतमें मिथ्या प्रपंचके अभावका अधिकरण जो ब्रह्म तत्स्वरूप ही सत्यत्व है, पृथक् नहीं. नैयायिक-हमारे मतमेंभी एकत्व संख्याका अभाव स्वरूप व्यक्तिद्वयात्मक द्वित्व मोक्षकालमें जानो. जैसे, लोकमें यह प्रत्यय होता है कि--पृथ्वी तथा जल दोनों गन्धवाले नहीं हैं किन्तु एक पृथ्वी है, वैसेही हरएक व्यक्तिमें एकत्व हैभी परन्तु दोनों एक नहीं यह प्रत्यय सर्वजन सिद्ध है और जो मोक्षदशामें अभेद कहनेवाला "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति--अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप होता है" इत्यादि शास्त्र है, वहभी मोक्षकालमें दुःखादिकोंके अभावको बोधन करताहुआ जीव-को ईश्वर सदृशता कहताहै. जैसे, धनादिसंपदाके अधिक होनेसे परोहित आदिकोंमें लोग राजा व्यवहार करने लगजाते हैं वैसेही मोक्षकालमें यावत् दुःखाभाव प्रयुक्त जीवमें ईश्वरतुल्यताका व्यवहार है. (अतएव) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इस श्रुतिको मोक्षकालमें साम्य प्रतिपादक होनेहीसे यह जीव (निरंजन) निर्दुःखित हुआ ईश्वर की परमतुल्यताको प्राप्त होता है; इत्याद्यर्थ बोधक श्रुतिवाक्यभी एकवाक्यता-पन्न होसकता है.

ईश्वरोऽपि न ज्ञानसुखात्मा, किंतु ज्ञानाद्याश्रयः । "नित्यं वि-ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः,"यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यनुरोधात्।आनन्दमित्यस्याप्यानन्द-वदित्यर्थः ।

भाषा-ईश्वरभी ज्ञानसुखादिस्वरूप नहीं किन्तु ज्ञानसुखादिका आश्रय है. "नित्य विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म है" इत्याद्यर्थक 'श्रुतिवाक्योंमें' विज्ञान पद अधिकरणार्थक 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है; यातें 'विज्ञान' पदसे ज्ञानके आश्रयहीका बोध होता है "जो सर्व पदार्थोंके सामान्यरूपसे ज्ञानवाला है, वही विशेषरूपसे ज्ञान-वाला है" एतदर्थक श्रुतिसेभी ज्ञानवाला प्रतीत होता है; ज्ञानस्वरूप नहीं. इसीके अनुकूल 'विज्ञान'पदका अर्थभी विज्ञानवालाही करना उचित है श्रुतिनिष्ठ 'आनन्द'पद काभी आनन्दवाला यही अर्थ करना उचित है.

अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात् । अन्यथा पुंलिङ्गत्वापत्तिः आनन्दोऽपि दुःखाभाव उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तो ऽहमितिवद्दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययात् ।

भाषा-"अर्शआदिभ्योऽच् । ५ । २ । १२७ ।" इस सूत्रसे मतुप् अर्थक 'अच्' प्रत्यय करनेसे "आनन्दोऽस्यास्मिन् वाऽस्तीति आनन्दम्" ऐसी व्यु-त्पत्ति हुई तो 'आनन्द' शब्द समवायेन आनन्दआश्रयका बोधक नपुंसकलिङ्ग तथा

ब्रह्मशब्दका विशेषण साधुरीतिसे होसकता है; (अन्यथा) यदि पूर्वोक्त रीतिसे 'आनन्द' शब्दकी सिद्धि नहीं माने किन्तु "भावे ३।३।१८" इस सूत्रसे 'घञ्' प्रत्ययान्त माने तो नियत पुँल्लिङ्ग होना चाहिये;क्योंकि घञ्प्रत्ययान्त शब्दोंको"घञबन्तः ३५' यह लिङ्गानुशासनका सूत्र नियमसे पुलिङ्गता बोधन करता है. आनन्दशब्दभी लक्षणावृत्तिसे दुःखाभावहीका बोधक है. जैसे, भारवाही पुरुष भार त्यागनेसे अपनेको सुखी मानताहै वैसेही दुःखाभाव होनेसे सुख प्रत्यय होता है.

अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो नत्वसावानन्दोऽसुखमिति श्रुतेः । न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेत् । न । क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्त्वर्थीयप्रत्ययविरोधाच्च ।"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन" इत्यत्र भेदस्य स्पष्टत्वाच्च इति संक्षेपः ।

भाषा–अथवा वह ईश्वर आनन्दका अधिकरणभी रहो तो हमारे मतकी हानि नहीं तथापि वह आनन्दस्वरूप नहीं;क्योंकि श्रुतिमें उसको"असुखम्"ऐसा सुना है.यहां 'नञ्' ब्रह्मसे सुखका भेद बोधन करता है और अपनेमें अपना भेद असम्भव है याते ब्रह्म आनन्दस्वरूप नहीं किन्तु आनन्दका अधिकरण है.वेदान्ती शंका–विद्यमान नहींहै सुख जिसमें किसी सम्बन्धसे वही 'असुख' अर्थात् 'सुखस्वरूप' यह अर्थ बहुव्रीहि समाससे लाभ होता है;इसके माननेमें क्या दोष है ? नैयायिक–बहुव्रीहिसमासमें अन्य पदार्थ प्रधान होताहै, प्रकृतमें अन्यपदार्थमें 'नञ्'की लक्षणा माननी क्लिष्ट कल्पना है; (प्रकरणविरोधात्) अर्थात् " अस्थूलमनणु अदीर्घमह्रस्वम्--ब्रह्म स्थूल पदार्थोंसे तथा अणुदीर्घ ह्रस्व पदार्थोंसे भिन्न है" इत्याद्यर्थक एक बृहदारण्यक उपनिषद्का वाक्य है, इसके प्रत्येक पदमें 'नञ्तत्पुरुष' समास स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है और इसी श्रुतिके मध्यमें'असुखम्' इस पदका पाठभी है. यदि इस पदमें बहुव्रीहि मानेंगे तो प्रकरणविरोध अवश्य होगा और यादि यहां बहुव्रीहि मानके 'सुखस्वरूप' ऐसा अर्थ करभी लें तो 'आनन्दम्'इस शब्दमें'मतुप्'अर्थक'अच्'प्रत्ययके साथ विरोध तो अवश्य होगा; क्योंकि यह प्रत्यय सुखके अधिकरणका बोधक है और बहुव्रीहिसे सुखस्वरूपका बोधन हुआ याते परस्पर विरोध स्पष्ट है, और जो पुरुष ब्रह्मके आनन्दको जानता है वह कदापि किसीसे भयको प्राप्त नहीं होता. इस वाक्यमें आनन्दका तथा उसके अधिकरणका भेद षष्ठी विभक्तिसे स्पष्टही प्रतीत होता है. यह वेदान्तीके प्रति संक्षेपसे कहा है–इति ॥

एतेन प्रकृतिः कर्त्री,पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः,कार्यकारणयोरभेदात्कार्यनाशे सति कार्यरूपतया नाशः स्यादित्यकारणत्वं तस्य।

भाषा-'एतेन' इस पदका 'इति मतमपास्तम्' इस अग्रिम पाठके साथ सम्बध है; अर्थात् 'एतेन' इस पूर्वोक्त युक्तिद्वारा आत्माको ज्ञानाधिकरण सिद्ध करनेसे तथा आगे कथनीय युक्तिसे (इति मतं) सांख्यशास्त्रमें कहा कपिलमुनिका मतभी (अपास्तम्) खण्डन किया है. सांख्योंके मतमें मूलप्रकृतिही आद्यकर्तारूप है और (पुरुष) जीवात्मा जलगत कमलपत्रकी तरह अलिप्त है; परन्तु चेतन है. इस मतमें कार्यका तथा उपादानकारणका परस्पर अभेद है कार्यके नाश होनेसे कार्यरूपहीसे कारणकाभी नाश मानना पड़ता है इसलिये पुरुष किसी कार्यका उपादानकारण नहीं, याते विनाशीभी नहीं.

बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथाऽनुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः,सैव महत्तत्त्वमन्तःकरणमित्युच्यते। तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ।

भाषा-इस मतमें बुद्धिनिष्ठ चेतनताकी अभिमाति (अन्यथा) प्रकारान्तरसे बन नहीं सकती; उसीसे पुरुषकी कल्पना होती है अर्थात् जड प्रधानके कार्यरूप बुद्धिको जडरूप होनेसे विना किसी चेतनके सम्बन्धसे स्वयं चेतन होना असम्भव है; क्योंकि आरोपका यह नियम है कि कहीं प्रसिद्धवस्तुकाही वस्तुअन्तरमें आरोप होता है जैसे जपाकुसुमगत रक्तताका स्फटिकमणिमें. एवं पुरुषचैतन्यका बुद्धिमें इति. 'बुद्धि' नाम प्रकृतिके प्रथम परिणामका है उसीकी 'महत्तत्त्व' तथा 'अन्तःकरण' भी संज्ञा है. (तत्) बुद्धिके सत्त्वकालमें पुरुषको संसार प्रतीत होताहै. एवं बुद्धिके असत्त्वकालमें पुरुष स्वयं शुद्ध मुक्तस्वरूप होताहै.

तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात् ममेदं कर्त्तव्यमिति मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेःस्वच्छतया चेतनप्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः।इदमिति विषयोपरागः,इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्त्तव्यमिति व्यापारावेशः।

भाषा—उस बुद्धिहीका नेत्रादि इंद्रियरूप प्रणालिका द्वाराज्ञानरूप परिणाम घटादि पदार्थोंके साथ सम्बंध है, पुरुषमें कर्तृत्व—'मैं कर्ता हूं' यह अभिमान, एवं बुद्धिमें चैतन्य 'मैं चेतनाहूं' यह अभिमान बुद्धिका तथा पुरुषका परस्पर भेद न जाननेसे है. "ममेदं कर्तव्यम्—अर्थात् मेरेको यह कार्य करने योग्य है" इत्याकारका बुद्धिमें "मम, इदं, कर्तव्यम्" ये तीन अंश हैं. उनमें प्रथम अंश (पुरुष) जीवात्माका है; वहभी जैसे (दर्पण) शीशेके स्वच्छ होनेसे उसमें मुखकी प्रतीति मिथ्याही होजाती है, वैसेही बुद्धिके स्वच्छ होनेसे पुरुष प्रतिबिंबद्वारा (अतात्त्विक) झूँठा (उपराग) सम्बंध रूप है. एवं द्वितीय अंश विषयका है. वही बुद्धि (इंद्रिय) नेत्रादिद्वारा परिणामको प्राप्त हुई विषयको ग्रहण करती है; जैसे शीशेपर (निःश्वासाभिहत) फूत्कार मारनेसे (मलिनिमा) छाईका सम्बन्ध (तात्त्विक) सच्चा हो जाता है; वैसेही बुद्धिका परिणाम रूपसे विषयके साथ सम्बन्ध वास्तव है. एवं तृतीय व्यापार अंशका भान है. वह बुद्धिका अपना तथा तात्त्विक है.

तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानवत् सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः ।

भाषा—इस रीतिसे बुद्धि तीन अंशवाली है और बुद्धिके परिणामरूप ज्ञानके साथभी पुरुषका अतात्त्विक संबंध है. जैसे—शीशेकी छाईके साथ मुखका संबंध वस्तुतः नहीं किन्तु मिथ्या है; वैसेही बुद्धि परिणाम ज्ञानके साथभी पुरुषका सम्बन्ध वास्तव नहीं किन्तु अतात्त्विक है. उसी अतात्त्विक सम्बन्धकी सांख्यशास्त्रमें (उपलब्धि) संज्ञा कही है. जैसे—परिणामी ज्ञान बुद्धिका धर्म है, वैसेही सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न, धर्म और अधर्म ये सातभी बुद्धिहीके धर्म हैं; क्योंकि इन सबकी "अहं कर्ता, अहंसुखी" इत्यादि प्रत्ययोंसे (कृति) प्रयत्नके साथ एकाधिकरणत प्रतीत होती है.

न च बुद्धिश्चेतना, परिणामित्वात्, इति मतमपास्तम्। कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च ।

भाषा—और प्रयत्न बुद्धिका मुख्य धर्म है. वह बुद्धि(परिणामिनी)अनित्य धर्मोंवाली होनेसे चिद्रूपा नहीं है. यह सब सांख्याचार्यका मत है. पूर्वोक्त तथा अग्रि मयुक्ती

योंसे यहभी खण्डित है; क्योंकि जैसे "अहं कर्ता, अहं धार्मिकः, अहं भोक्ता" इत्यादि प्रत्यय एकाधिकरणमें प्रतीत होते हैं वैसेही 'अहं चेतनः' यह प्रत्ययभी उसी अधिकरणमें प्रतीत होता है याते (तद्) कर्तासे भिन्न चेतन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है.

चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत् कृत्यंशेऽपि किं नेष्यते । अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः ।

सांख्यी-शंका-'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति चेतनअंशमें भ्रमरूपा है क्योंकि चेतन 'पुरुष' है उसके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करतीहुई बुद्धि अपनेमें मिथ्याही चेतनताका अभिमानकरती है. नैयायिक-यदि पूर्वोक्ता प्रतीति चेतनांशमें भ्रमरूपा है तो प्रयत्न अंशमेंभी भ्रमरूपाही माननी उचितहै,क्योंकि उक्तप्रतीतिमें दोनोंका अधिकरण एकही प्रतीत होता है; (अन्यथा) यदि कर्ता तथा चेतनका परस्परभेद मानों तो हम पूँछतेहैं कि-वह बुद्धि आपकी नित्या है अथवा अनित्या है? यदि नित्या कहो तो मोक्षका अभावहोगा क्योंकि बुद्धिरूपकर्तासे भिन्न चेतनमें सुखदुःख का अभाव होनेसे उसमें बन्ध मोक्ष व्यवहार अनुपपन्न है. शेष रहा बुद्धिरूप कर्ता तो इसीके सत्त्व तथा असत्त्वसे बन्ध तथा मोक्ष मानना होगा एवं यदि बुद्धिको नित्य माने तो उसके सत्त्व निबन्धन संसारभी नित्यही मानना होगा; एवं मोक्षाभाव होगा. एवं यदि बुद्धिको अनित्य मानो तो वह उत्पत्तिवालीभी माननी होगी क्योंकि अजन्य भावपदार्थका नाश नहीं होता. एवं बुद्धिकी उत्पत्तिसे प्रथमकालमें संसार नहीं हुआ चाहिये अर्थात् बुद्धिकी उत्पत्तिसे पूर्व बुद्धिमें अदृष्ट नहीं रहसकते अदृष्टोंके न होनेसे बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं होसकती. एवं संसार कदापि न होना चाहिये.

नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद्बुद्धेरचैतन्यं, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेत् । न, असिद्धेः । कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावाद्वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम् । अनादेर्नाशासम्भवान्नित्यत्वम् । तत् किं प्रकृत्यादिकल्पनेन ।

सांख्यी-हमारे मतमें कार्यकारणका परस्पर अभेद है;इसलिये अचेतनप्रकृतिका कार्यरूप बुद्धिभी चेतन नहीं है. नैयायिक-तुम्हारा कथन असिद्धहै; क्योंकि बुद्धि प्रकृतिका कार्य नहीं है और कर्ता नियमसे जन्य होता है. इसमें कोई

अनुकूल तर्कभी नहीं है. प्रत्युत "वीतरागजन्मादर्शनात्–३ अ, १ आ, २५ सू०–अर्थात् विरक्त पुरुषका जन्म नहीं होता किंतु रागवाले पुरुषका जन्म होताहै" इस गौतमसूत्रसे कर्ता अनादि प्रतीत होता है, एवं भावरूप अनादिका नाश नहीं होता; याते कर्ता नित्य मानना उचित है, एवं अप्रमाणिक प्रकृति आदि पदार्थोंकी कल्पनासे क्या लाभ है ?

नच"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्,प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्त्ताऽहं कर्त्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात् । "तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः" इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति संक्षेपः।

सांख्यी–श्रीकृष्णदेवने (गीताके तृतीयाध्यायके २७ श्लोकमें) यह कहा कि– "क्रियमाण यावत् कर्म प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंसे होते हैं उन कर्मोंको 'मैं कर्ता हूं' इत्याकारक अहंकारसे विमूढ चित्तवाला जीवात्मा पुरुष'मैंही कर्ताहूं' ऐसा मानताहै" इस भगवद्वाक्यसे आपके कथनका विरोध होगा, क्योंकि इस वाक्यसे भगवान्ने पुरुषको कर्ता नहीं मानाहै. नैयायिक–इस भगवद्वाक्यमें 'प्रकृति' नाम अदृष्टोंका है,'गुण'नाम अदृष्टजन्य इच्छादिकोंका है. एवं अदृष्टजन्य इच्छादि गुणोंद्वारा 'मैंही कर्ता हूं' ऐसे अहंकार विमूढ होकर जीवात्मा मानताहै. इस वाक्यका येही अर्थ है. इस वाक्यसे भगवान्ने यह नहीं कहा, कि जीवात्मा कर्ता नहीं है किन्तु यह कहा है कि–अकेला जीवात्मा कर्ता नहीं है; क्योंकि इसी अर्थको भगवान्ने अष्टादशाध्यायके १५ वें तथा १६ वें श्लोकमें लिखा है. वहां ऐसे कहा है कि "आश्रय १ कर्ता २ अनेकप्रकारके करण ३ अनेक प्रकारकी चेष्टा ४ और जीवोंके अदृष्ट ५," यह पांचों मिलकर कार्यमात्रके प्रति कर्ता हैं. एवं इन पांचोंमेंसे जो पुरुष केवल अपने आपकोही कर्ता मानताहै उस मलीनबुद्धि पुरुषको यथार्थ ज्ञान नहीं है इन वाक्योंसे भगवान्का आशय जीवके कर्तापनेमें स्पष्ट प्रतीत होता है यह संक्षेपसे सांख्यमत खण्डन कियाहै.

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥

भाषा–आत्मा धर्म तथा अधर्मका आश्रय है. एवं सुखदुःखादि विशेष गुणोंके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्षभी हो सकताहै ॥ ४९ ॥

धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुषज्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः । विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणसम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षं भवति, न त्वन्यथा । अहंजानेहंकरोमीत्यादि प्रतीतेः ॥ ४९ ॥

भाषा-यहां 'आत्मा' शब्दका सम्बध पीछे ग्रन्थसे करलेना. यदि शरीरहीको धर्माधर्मका आश्रय मानें तो (देहान्तर) पुरुषशरीरसे किये कर्मोंका (देहान्तर) वार्द्धिशरीरसे भोगनहीं बनसकेगा.प्रत्यक्षके योग्य ज्ञानसुखादि विशेष गुणोंके सम्बन्ध-हीसे जीवात्माका प्रत्यक्ष होताहै. विशेषगुणोंके सम्बन्धसे विना नहीं होता. 'मैं जानताहूं, मैं करताहूं' इत्यादि प्रतीतियोंसे ज्ञानप्रकारक प्रयत्नादि प्रकारक जीवात्माका भान होताहै ॥ ४९ ॥

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।

भाषा-जैसे रथकी गतिसे रथवाहीका अनुमान होताहै वैसेही यह आत्मा दूसरे पुरुषके शरीरमें चेष्टाद्वारा अनुमेय है.

प्रवृत्तीति । अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते । प्रवृत्तिरत्र चेष्टा, ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात् । चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माऽप्यनुमीयत इति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह । रथेति । यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्माऽपीति भावः ।

भाषा-इस आत्माका दूसरे पुरुषकी देहमें प्रवृत्तिनिवृत्तिसे अनुमान होताहै. यहां'प्रवृत्ति'शब्दसे चेष्टाका ग्रहण है. ज्ञान इच्छा प्रयत्नादि गुणोंका शरीरमें अभाव "शरीरस्य न चैतन्यं" इत्यादि ग्रन्थसे पीछे कह चुकेहैं और चेष्टा प्रयत्नसाध्य होती है इसलिये चेष्टावत्त्वरूप हेतुसे प्रयत्नवाले आत्माका अनुमानभी होसकताहै. यहां रथसारथिका दृष्टान्तरूपसे कथन है. यद्यपि दृष्टान्तमें रथकी क्रिया चेष्टा नहीं है; क्योंकि चेष्टा नाम ' हिताहितपरिहारार्था क्रिया ' का है. वह क्रिया सिवाय चेतनके रथादि जड़पदार्थोंमें होही नहीं सकती; तथापि जैसे रथकी क्रियासे रथवाहीका अनुमान होताहै वैसेही चेष्टारूप कर्मसे आत्माका अनुमानभी होसकताहै.

अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥ ५० ॥

भाषा—वह आत्मा अहंकारका आश्रय है, एवं मनोमात्र इन्द्रियसे आत्माका ग्रहण होता है ॥ ५० ॥

अहङ्कारस्येति । अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषय आत्मा, न शरीरादिरिति। मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः । रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

भाषा—अहंकार नाम 'अहं' इत्याकारक प्रत्ययका है. इस प्रत्ययका विषय आत्माही है; शरीरादि नहीं वन सकते. एवं मनसे भिन्न सभी इन्द्रियोंका अविषय है, केवल मानस प्रत्यक्षका विषय है; क्योंकि मनसे भिन्न सभी इन्द्रियरूप रसादिवाले पदार्थको ग्रहण करतेहैं और आत्मामें रूपरसादि गुण नहीं हैं;याते नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्षयोग्य आत्मा नहींहै ॥ ५० ॥

विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्—

भाषा—वह आत्मा व्यापक है तथा बुद्धिआदि गुणोंवाला है.

विभुरिति । विभुत्वं परममहत्परिमाणवत्त्वं, तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः ।

भाषा—विभु नाम परममहत् परिमाणवालेका है. यह यद्यपि "कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् (२६ का०)" इस ग्रन्थसे कह चुके हैं, तथापि स्पष्टार्थ बोधनके लिये उसी अर्थको फिर कहाहै. बुद्ध्यादि पदसे "बुद्ध्यादिषट्कं ३२" इत्यादि कारिकोक्त आत्माके १४ गुण जान लेने.

अत्रैव प्रसङ्गाद्बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति, बुद्धिस्त्विति—

भाषा—यहांही बुद्धिके प्रसंगसे ग्रंथकार बुद्धिके कईएक भेद दिखलाता है—

—बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥

भाषा—एवं वह बुद्धि दो प्रकारकी है; एक अनुभवरूपा है और दूसरी स्मृतिरूपा है. एवं अनुभवरूपा बुद्धि पुनः चार प्रकारकी है ॥ ५१ ॥

द्वैविध्यं व्युत्पादयति, अनुभूतिरिति । अनुभूतिश्चतुर्विधेति । ए-

तासां चतसृणां करणानि चत्वारि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥ ५१ ॥

भाषा-उस बुद्धिके द्वैविध्यको प्रतिपादनकरताहै अर्थात् वह बुद्धि पहले अनुभूति तथा स्मृतिभेदसे दो तरहकी है. उनमें अनुभूति पुनः चार तरहकी है. इन चारों बुद्धियोंके साधन " प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ३ " अर्थात् प्रत्यक्ष १ अनुमान २, उपमान ३,शब्द ४ यह गौतमसूत्रोक्त चारप्रमाण जानने चाहिये ॥५१॥

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।

भाषा-एक प्रत्यक्षरूपा है, दूसरी अनुमितिरूपा है, तीसरी उपमितिरूपा है और चौथी शब्दजन्या है.

प्रत्यक्षमिति। इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानम्, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्।ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। " इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इति सूत्रे तथैवोक्तत्वात् ।

भाषा-नेत्रादि इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानका नाम प्रत्यक्ष है. यद्यपि मनोरूप इन्द्रियजन्यता अनुमिति आदि यावत् ज्ञानोंको है; याते पूर्वोक्त लक्षण अतिव्याप्ति ग्रस्त है, तथापि इन्द्रियत्वरूपसे इन्द्रियोंको जिस ज्ञानके प्रति कारणता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है 'इन्द्रियत्व' का स्वरूप " शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम् " इत्यादि ग्रन्थसे ५८ कारिकाकी व्याख्यामें ग्रन्थकार स्वयं लिखेगा. ज्ञानमात्रके प्रति मनको कारणता इन्द्रियत्वेन रूपेण नहीं किन्तु मनस्त्वेन रूपेण विशेषधर्मसेहै.सुखादि साक्षात्के प्रति मनको इन्द्रियत्वेन रूपेण कारणता है; याते मनमें इन्द्रियत्व धर्मकी हानिभी नहीं.प्रकृतमें जीवके जन्य प्रत्यक्षका विचार है " ईश्वरका प्रत्यक्षजन्य नहीं किन्तु नित्य है याते पूर्वोक्त लक्षणका लक्ष नहीं है; क्योंकि "नेत्रादि इन्द्रिय तथा घटादिरूप अर्थके परस्पर सम्बन्धसे उत्पन्न हो निर्विकल्पस्वरूप हो पुनः व्यभिचार रहित निश्चयात्मक हो उस ज्ञानका नाम प्रत्यक्षहै " इस गौतम ४ सूत्रमें जन्यप्रत्यक्षहीका लक्षण किया है.

अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम् । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञानस्य शा-

ब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मरणेऽनुभवस्य च हेतुत्वान्न तत्र तत्रातिव्याप्तिः ।

भाषा-अथवा जिस ज्ञानका ज्ञानान्तर करण नहीं वह ज्ञान प्रत्यक्ष है. इस लक्षणका लक्ष ईश्वरज्ञानभी हो सकताहै; अनुमितिरूप ज्ञानके प्रति व्याप्तिज्ञानको करणता है; एवं उपमितिज्ञानके प्रति सादृश्यज्ञानको करणता है; एवं शाब्दबोधके प्रति पदज्ञानको करणता है; ऐसेही स्मृतिरूप ज्ञानके प्रति अनुभवात्मक ज्ञानको करणता है; याते यह सभी ज्ञान ज्ञानान्तर करणक हैं, और प्रत्यक्ष ज्ञानका कोई ज्ञानान्तर करण नहीं है; इसलिये पूर्वोक्त लक्षणजन्य प्रत्यक्षमें समन्वय होताहै और अनुमिति आदि ज्ञानोंमें अतिव्याप्तिभी नहींहै.

परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः ।यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः।न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमितावव्याप्तिरिति वाच्यम् । तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः ।

भाषा—व्याप्तिकरणक परामर्शद्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानका नाम 'अनुमिति' है. यद्यपि परामर्शका प्रत्यक्ष तथा परामर्शका ध्वंसभी परामर्शजन्य है, क्योंकि अपने प्रत्यक्षमें परामर्शको विषयविधया कारणता है तथा अपने ध्वंसमें परामर्शको प्रतियोगिविधया कारणता है तथापि हेतुको न विषय करनेवाला जो परामर्श जन्य "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक ज्ञान वह अनुमिति है. परामर्शात्मक ज्ञानमें हेतुका भान होताहै इसलिये परामर्श ज्ञानके विषय करनेवाले ज्ञानमेंभी हेतु का भान अवश्य होगा, याते उसको अनुमिति कहना योग्य नहीं. शंका—किसी २ स्थलमें हेतुकाभी भान पक्षतावच्छेदकरूपसे अनुमितिमें होता है;जैसे"धूमवान्पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमितिमें धूमरूप हेतुका पक्षतावच्छेदक रूपसे भान है; याते हेतुकोभी विषय करनेवाली इस अनुमितिमें पूर्वोक्तलक्षणकी अव्याप्ति होगी. समा०— (तादृश) व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य जो अनुमितिआत्मक ज्ञान उस ज्ञानमें वर्तनेवाली जो अनुभवत्वकी व्याप्य 'अनुमितित्व' जाति तादृश जातिमत्ता अनुमितिको विवक्षित है याते पूर्वोक्त दोष नहीं अथवा लाघवसे व्याप्ति ज्ञानकरण हो जिस ज्ञानका वह अनुमिति ज्ञान है ऐसा लक्षण करना उचित है.

एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः ।

भाषा-एवं सादृश्य ज्ञानकरण हो जिस ज्ञानका, वह उपमिति रूप ज्ञान है.

पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः ।

भाषा-एवंही पद ज्ञान करण हो जिस ज्ञानका, वह ज्ञान शाब्दबोध रूप है.

वस्तुतो यां कांचिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तित्वे सति यां कांचित् प्रत्यक्षव्यक्तिमादाय तदवृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् । एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्तित्वे सति यां कांचिदनुमितिव्यक्तिमादाय तदवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षादिकं वाच्यमिति ।

भाषा-वास्तवमें तो किसी एक अनुमिति व्यक्तिमें वर्तनेवाली तथा किसी एक प्रत्यक्ष व्यक्तिमें न वर्तनेवाली जो अनुमितित्वजाति तादृश जातिवाली अनुमिति है. एवं किसी एक प्रत्यक्ष व्यक्तिमें वर्तनेवाली तथा किसीएक अनुमिति व्यक्तिमें न वर्तनेवाली 'प्रत्यक्षत्व' रूपा जाति तादृश जातिवाला प्रत्यक्ष है. ऐसेही उपमिति ज्ञानका तथा शाब्दबोधका लक्षणभी करलेना.

घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥५२॥

भाषा-पूर्वोक्त प्रत्यक्ष घ्राणज आदिभेदसे षट् प्रकारका है ॥ ५२ ॥

घ्राणजादीति । घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम् । नचेश्वरप्रत्यक्षस्याविभजनान्न्यूनत्वम् । जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वात्, उक्तसूत्रानुसारात् ।

भाषा-घ्राणद्वारा १, रसनाद्वारा २, नेत्रद्वारा ३, त्वचाद्वारा ४, श्रोत्रद्वारा ५, और मनद्वारा ६. ऐसे छः तरहका प्रत्यक्ष है. शंका-ईश्वर प्रत्यक्षका विभाग न करनेसे ग्रन्थकारकी न्यूनता है. समाधान-पूर्वोक्त गौतम सूत्रानुरोधसे इस प्रकरणमें जन्य प्रत्यक्षहीका निरूपण है ॥ ५२ ॥

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।

गोचर इति । ग्राह्य इत्यर्थः ।

भाषा-गन्ध गुण तथा गन्धत्वादि जातियोंका घ्राण इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है.

गन्धत्वादिरिति । आदिपदात् सुरभित्वासुरभित्वपरिग्रहः । गन्ध

स्य प्रत्यक्षत्वात्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा । गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम् ।

भाषा–मूलोक्त 'आदि'पदसे 'सुरभित्व' 'असुरभित्व' धर्मोंका ग्रहण है. गन्धके प्रत्यक्ष होनेसे उसमें रहनेवाली 'गन्धत्व' जातिभी प्रत्यक्षसिद्ध है. गन्धका आश्रय जो पृथ्वीरूप द्रव्य है उसके ग्रहण करनेमें घ्राणका सामर्थ्य नहीं है–इति ।

तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥५३॥

तथा रस इति । रसत्वादिसहित इत्यर्थः ।

भाषा–ऐसेही रसगुणका तथा रसत्वादि जातियोंका रसना इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है. एवंही शब्दगुणका तथा शब्दत्वादि जातियोंका श्रोत्र इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है.

गन्धो रसश्चोद्भूतो बोध्यः । तथाशब्दत्वादिसहितः ॥ ५३ ॥

भाषा–इस प्रकरणमें (उद्भूत) प्रत्यक्षके योग्य गन्ध तथा रसका ग्रहण है.

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो
द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये ।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ५४
क्रियां जातिं योग्यवृत्तिं समवायं च तादृशम् ।
गृह्णाति चक्षुःसंबन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥

भाषा–उद्भूतरूपका तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्यका, एवं पृथक्त्व तथा संख्याका विभागका तथा संयोगका, परत्वका तथा अपरत्वका, स्नेहका तथा द्रव्यत्वका,परिमाणका, प्रत्यक्षके योग्य द्रव्यकी क्रियाका,जातिका तथा समवायका ग्रहण नेत्रइन्द्रियद्वारा होताहै. प्रकाशसम्बन्ध तथा उद्भूतरूप पूर्वोक्त प्रत्यक्षमें सहकारी हैं ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतरूपमिति। ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति नचाक्षुषं प्रत्यक्षम् । तद्वन्ति उद्भूतरूपवन्ति । योग्येति । पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया ग्राह्यम् । तादृशं योग्यव्यक्तिवृत्तीत्यर्थः ।

चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह,गृह्णातीति—आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षंप्रति कारणम् ।

भाषा—ग्रीष्मऋतुमेंहोनेवाली(उष्मा)भाफमें रूप अनुद्बुद्ध होनेसे प्रत्यक्ष नहीं होता पृथक्त्वसंख्यादिकभी प्रत्यक्षयोग्य पदार्थमें प्रत्यक्ष होते हैं. अन्यथा नहीं. समवायभी प्रत्यक्षयोग्य पदार्थमें प्रत्यक्ष होताहै एवं प्रकाशका संयोग तथा उद्भूतरूप नेत्रजन्य प्रत्यक्षके प्रति कारण है.

तत्र द्रव्यचाक्षुषंप्रति तयोः समवायसम्बन्धेन कारणत्वं द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षं प्रति स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन । द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

भाषा—उसमेंभी (द्रव्य) घटादिप्रत्यक्षके प्रति प्रकाशसंयोग तथा उद्भूतरूपको समवायसम्बन्धसे कारणता है, क्योंकि घटका तथा प्रकाशका संयोग घट प्रकाश उभयमें समवायसम्बन्धसे रहताहै और घटका रूपभी घटमें समवायसम्बन्धहीसे रहताहै; याते दोनोंको विषयनिष्ठ समवायसम्बन्धसे विषयसाक्षात्कारमें कारणता है. एवं घटादि समवेत रूपादि प्रत्यक्षके प्रति प्रकाशसंयोग उद्भूत रूपको (स्व) रूपादिका (आश्रय) अधिकरण जो घटादि द्रव्य तन्निष्ठ समवायसम्बन्धसे कारणताहै.एवं घटादिद्रव्यमें समवेत जो रूपादि उन रूपादिकोंमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षमें प्रकाशसंयोग उद्भूतरूपको (स्व) प्रकाशसंयोग उद्भूतरूपका (आश्रय) अधिकरण जो घटादिद्रव्य उस द्रव्यमें समवेत जो रूपादि उन रूपादिकोंमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षमें एतादृश परंपरासम्बन्धसे कारणताहै—इति ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।

भाषा—जिस द्रव्यका स्पर्श उद्भूत हो उसको त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करता है:

उद्भूतेति । उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः । सोऽप्युद्भूतस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहितः ।

भाषा—उद्भूत स्पर्शवाले द्रव्यको त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करता है. उद्भूतस्पर्शको तथा उसमें रहनेवाली स्पर्शत्वादि जातिकोभी त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करताहै.

रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं —

भाषा–रूपको छोड़कर जो पदार्थ नेत्रसे ग्रहण होताहै उसीको त्वगृइन्द्रियभी ग्रहण कर सकताहै.

रूपान्यदिति । रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च चक्षुषो यद्योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथा च पृथक्त्वसंख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इति ।

भाषा–रूपसे तथा रूपत्वादि धर्मोंसे भिन्न जिस २ वस्तुको नेत्र ग्रहण करताहै, उसी २ पदार्थको त्वगृइन्द्रियभी ग्रहण करताहै. एवं नेत्रोंद्वारा ग्रहणयोग्य पूर्व कहे जो 'पृथक्त्व-संख्यादि गुण' तथा प्रत्यक्ष योग्यद्रव्योंकी 'क्रिया' और 'जातियां' उन सबको त्वगृइन्द्रियभी ग्रहण करताहै.

द्रव्याध्यक्षे– रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥

भाषा–द्रव्य त्वाचप्रत्यक्षमेंभी रूपहीको कारणता है ॥ ५६ ॥

अत्रापि त्वागिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि, रूपं कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणमिति । नवीनास्तु बहिरिंद्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं न कारणं प्रमाणाभावात्, किंतु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात् ।

भाषा–यहां त्वगृइन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्षमेंभी रूप कारण है; अर्थात् रूपसे विना द्रव्यका त्वाचप्रत्यक्षभी नहीं होता. इसरीतिसे बाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति लाघवसे रूप कारण है और नवीन आचार्य गांगेशोपाध्यायादिकोंका यह मत है कि–बाह्य द्रव्य प्रत्यक्षके प्रति रूपको कारणता माननेमें कोई प्रबल युक्ति प्रमाण नहींहै किंतु नेत्रजन्य प्रत्यक्षमें रूपको और त्वाच प्रत्यक्षमें स्पर्शको भिन्न २ कारणता है. इस कार्य्यकारणभावका ग्रहण अन्वयव्यतिरेक द्वारा होताहै अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे रूपसत्त्वसे चाक्षुषप्रत्यक्ष सत्त्व रूपके अभावसे चाक्षुषप्रत्यक्षका अभाव सिद्ध है. ऐसेही स्पर्शसत्त्वसे त्वाचप्रत्यक्षसत्त्व स्पर्शाभावसे त्वाचप्रत्यक्षका अभाव अनुभव सिद्ध है.

बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमितिचेत् । न किंचित्।आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु । रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेत् । न। वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात्।इष्टापत्तिरिति चेत्।उद्भूतस्पर्श एव लाघवात् कारणमस्तु प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरित्येव किं नेष्यते।

प्राचीन-बाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्षमात्रमें अनुगत एक कारण कौन है?नवीन-कोई नहीं. अथवा आत्मामें न वर्तनेवाले जो शब्दसे भिन्न विशेष गुण, तादृश गुणवत्त्व बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षके प्रति कारण है; अर्थात् आत्मामें न वर्तनेवाले शब्दभिन्न विशेषगुण पृथ्वी आदि चारहीमें रहते हैं तादृश गुणवत्त्व धर्म उन चारहीमें है; याते वही बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षमें कारण हैं. प्राचीन-यदि बाह्य प्रत्यक्षमात्रके प्रति केवल रूपको कारणता माने तो लाघव है. नवीन-वायुका त्वगइन्द्रियसे साक्षात्कार नहीं होगा. प्राचीन-हमको वायुका न प्रत्यक्ष होना इष्ट है; क्योंकि हमारे सिद्धान्तमें वायुका स्पर्श रूपलिंगसे अनुमान होताहै. नवीन-बाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति यदि उद्भूतस्पर्शहीको लाघवसे कारणता मान लें तो क्या दोषहै? प्राचीन-(प्रभा) प्रकाशका प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि उसमें स्पर्शरूप कारण नहीं है. नवीन-प्रभाका नाभी प्रत्यक्ष हो तो आपकी क्या हानि है? जैसे आपने वायुके प्रत्यक्षाभाव में इष्टापत्ति मानी है वैसेही प्रभाके प्रत्यक्षाभावमेंभी इष्टापत्ति माननी उचित है.

तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवद्वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य सत्त्वाद्वायोरपि प्रत्यक्षत्वं भवत्येव । बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे तु न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम् । वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचित् द्वित्वादिकमपि, क्वचित् संख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥ ५६ ॥

भाषा-इसलिये यही उचित है कि जैसे "मैं प्रभाकूं देखताहूं" यह बुद्धि होती है, वैसेही "मैं वायुको स्पर्श करताहूं" यह बुद्धिभी साक्षात्कारात्मिका है. इससे वायुका प्रत्यक्षभी होताही है, कोई बाधक नहीं बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षमात्रमें न केवलरूप कारण है और न केवल स्पर्शकारण है. प्रभागत एकत्व संख्याको जैसे नेत्र ग्रहण करता है वैसेही वायुगत एकत्व संख्याको त्वचा ग्रहण करतीहै और कहीं सजातीय प्रत्यय

न हो तो वायुगत द्वित्व परिमाणादिकोंका ग्रहणभी होताहै. जैसे 'द्वितीयोऽयं महान् वायुः' इस प्रत्ययमें द्वित्व तथा परिमाण उभयका भानहै और कहीं सजातीय प्रत्ययरूप दोषसे संख्यापरिमाण आदिकोंका ग्रहण नहींभी होता ॥ ५६ ॥

— त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

भाषा—मनके साथ त्वगृइन्द्रियका सम्बन्ध ज्ञान सामान्यमें कारण है.

त्वचो योग इति । त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः । किं तत्र प्रमाणम्, सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीततिवर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति ।

भाषा—त्वचामनका संयोग जन्यज्ञानमात्रमें कारण है. शंका—इसमें क्या प्रमाण है? समाधान—गाढनिद्राकालमें त्वचासम्बन्धको त्यागके पुरीततीनामा नाडीमें मन प्रवेश करता है तो ज्ञान नहीं होता. यही प्रमाण है.

ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति, अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा । नाद्यः, अनुभवसामग्र्यभावात् । तथाहि । चाक्षुषादिप्रत्यक्षे चक्षुरादिना सह मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्, तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्,ज्ञानादेरभावादेव न मानसप्रत्यक्षम्,ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षम्, एवं व्याप्तिज्ञानाभावान्नानुमितिः, सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः, पदज्ञानाभावान्न शाब्दबोध इत्यनुभवसामग्र्याभावान्नानुभवः,उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। मैवम् । सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् ।

शंका—सुषुप्तिकालमें यदि त्वङ्मनःसंयोग मानभी लिया जाय तो उस कालमें कैसा ज्ञान होसकताहै? अनुभवरूप, अथवा स्मरणरूप? यदि अनुभवरूप कहो तो युक्त नहीं; क्योंकि उस कालमें अनुभवजनकसामग्रीका अभाव है. अनुभवजनक सामग्री मनका नेत्रादि इन्द्रियोंके साथ संयोगरूपा है. चाक्षुषत्वाचादि प्रत्यक्षमें चक्षुर्मनःसंयोग तथा त्वङ्मनःसंयोग आदिकोंको हेतुता है. सुषुप्तिकालमें त्वङ्मनःसंयोगादिके अभावसे त्वाचचाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होता; सुषुप्तिकालमें आत्माके ज्ञानादि गुणोंकाभी तिरोधान है. यातें मानसप्रत्यक्षभी नहीं होसकता और आत्माकाभी मा-

नसप्रत्यक्ष ज्ञानादि गुणोंद्वाराही होताहै. उसकालमें ज्ञानादिगुणोंके न होनेसे आत्मा-का मानसप्रत्यक्षभी नहीं हो सकता. ऐसेही सुषुप्तिकालमें व्याप्तिज्ञानके न होनेसे अनुमितिज्ञानभी नहीं हो सकता. साहश्यज्ञानके न होनेसे उपमितिज्ञानभी नहीं हो सकता. एवं सुषुप्तिकालमें पदज्ञान न होनेसे शाब्दबोधात्मक ज्ञानभी नहीं हो-सकता.इस पूर्वोक्तरीतिसे सुषुप्तिकालमें अनुभव सामग्रीके न होनेसे अनुभव ज्ञान नहीं होसकता. एवं सुषुप्तिकालमें संस्कारोंका उद्बोधक कोई पदार्थ नहीं है याते स्मृतिरूप ज्ञानभी नहीं होता. समाधान–सुषुप्तिके प्रथमक्षणमें उत्पन्न हुई (इच्छादि) अ-र्थात् इच्छाके आदिमें होनेवाली ज्ञानव्यक्तिका तथा उस ज्ञानके सम्बन्धसे आत्माका साक्षात्कार होना चाहिये. शंका–सुषुप्तिके प्रथमक्षणमें ज्ञानव्यक्ति अतींद्रिय उत्पन्न होती है इसलिये उसका तथा उसके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता–समा-धान–उस ज्ञानव्यक्तिके अतीन्द्रिय माननेमें कोई प्रमाण नहीं है.

सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावा-त् । अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रास-नचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले स्पार्शनप्रत्यक्षं स्यात्, विषयत्वक्संयो-गस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात् परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति ।

शंका–सुषुप्तिके पूर्वक्षणमें उत्पन्नहुआ ज्ञान नियमसे (निर्विकल्पक) प्रकारतादि रहित होता है. याते उसका प्रत्यक्ष तथा उसके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्ष बन नहीं सकता. समाधान–सुषुप्तिके प्रथम लक्षणमें ज्ञानके नियमसे (निर्विकल्प) प्रकारतादि शून्य उत्पन्न होनेमेंभी कोई प्रमाण नहीं है. शंका–यदि ज्ञानमात्रके प्रति त्वचा मनका संयोग कारण है तो रसनाजन्य प्रत्यक्षकालमें तथा नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष कालमें त्वाच प्रत्यक्षभी होना चाहिये; क्योंकि विषय घटादिके साथ त्वचाका तथा त्वचाके साथ मनका संयोग विद्यमान है. समाधान–चाक्षुषादि ज्ञान जनका सामग्री त्वचा जन्य स्पर्शन ज्ञानमें प्रतिबन्धका है इसलिये चाक्षुष ज्ञानकालमें स्पार्शनज्ञान नहीं होता. शंका–यदि ज्ञानकी सामग्रियोंमें प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भावकी कल्पना की जाय तो विषयइन्द्रियसंयोग तथा इन्द्रियमनःसंयोगरूपा ज्ञान सामग्री सर्वत्र उपस्थित है, वह सामग्री यदि (परस्पर) एक दूसरीकी प्रतिबन्धका होगी तो कोई ज्ञानभी उत्पन्न नहीं होगा.

अत्र केचित् । पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात् कल्प्यत इति । अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यम्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले च त्वङ्मनःसंयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ।

समाधान–यहां कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि–"सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीततिवर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति" अर्थात् सुषुप्तिकालमें त्वगूइन्द्रियको त्यागके पुरीततीनामक नाडीमें वर्तमान मनसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता.इति।इस पूर्वोक्त युक्तिसे त्वचामनःसंयोगको ज्ञानहेतुता सिद्ध है और एककालमें नाना ज्ञानकी उत्पत्ति भी अनुभवसे विरुद्ध है. इसलिये अनुभवके अनुरोधसे चाक्षुषादि ज्ञानकी सामग्रीको स्पार्शन ज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक कल्पना करसकते हैं. इस पूर्व प्रकरणमें 'त्वचा' शब्दसे त्वगूइन्द्रियका ग्रहण है. इसी स्थलमें (अन्येतु) पक्षधरमिश्र ऐसे कहतेहैं कि–सुषुप्तिके अनुरोधसे (चर्म) त्वगू इन्द्रियके गोलकके तथा मनके परस्पर संयोगको ज्ञान सामान्यके प्रति कारणता, कल्पना करनी उचित है. ऐसे माननेसे पूर्व दिया जो चाक्षुषादि प्रत्यक्षकालमें त्वाच प्रत्यक्ष आपत्तिरूप दोष वहभी नहीं है; क्योंकि चाक्षुषादि प्रत्यक्षकालमें त्वगू इन्द्रियका तथा मनका संयोग नहीं है इसलिये त्वाचप्रत्यक्षकी योग्यता नहीं है.

मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥५७॥

भाषा–सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा यत्न इन छहको मन इन्द्रिय ग्रहण करता है ॥ ५७ ॥

मनोग्राह्यमिति।मनोजन्यप्रत्यक्षविषय इत्यर्थः ।मतिर्ज्ञानं,कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम् । एवमात्मापि मनोग्राह्यः, किंतु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः ॥ ५७ ॥

भाषा–यह सब मानस प्रत्यक्षके विषय हैं ऐसेही इन सबमें रहनेवाली 'सुखत्व' आदि जातियोंकाभी मानस प्रत्यक्षही होता है. ऐसेही आत्माकाभी मानस प्रत्यक्षही होता है "मनोमात्रस्य गोचरः५०" इस ग्रन्थसे पूर्व कहआये हैं; इसलिये यहां नहीं कहा ॥ ५७ ॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।

भाषा-और जो निर्विकल्पात्मक ज्ञान है उसका किसी इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता.

ज्ञानं यदिति।चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टज्ञानं न सम्भवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाहि एव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पकात्मकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् ।

भाषा--उसमें प्रमाण यह है कि-नेत्रइन्द्रियके संयोगआदिके पश्चात्‌ही 'अयं घटः' इत्याकारक घटत्वादि प्रकारक घटादिविशेष्यक विशिष्ट ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उससे पहले विशेषणीभूत घटत्वादिका ज्ञान नहीं है. और 'अयंघटः' इत्याकारक विशिष्टबुद्धिमें ' घटत्वादि ' विशेषणज्ञानको कारणताका नियम है; इसलिये पहले घटघटत्वादि उभयका (वैशिष्ट्यानवगाहि) जुदा जुदा "इमे घटघटत्वे" इत्याकारक ज्ञानही होताहै उसीका नाम निर्विकल्प ज्ञान है. वह निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता ।

तथाहि । वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमहं जानामीति प्रत्ययात् । तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते,ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम् । यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते । विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने कारणम् ।

भाषा-वह इसरीतिसे है कि (वैशिष्ट्यानवगाहि) 'विशेष्यता' प्रकारता, संसर्गता को न विषय करनेवाले ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि ज्ञानका प्रत्यक्ष तो "घटमहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक प्रतीतिमें होता है. इसप्रतीतिमें आत्मामें ज्ञान विशेषणरूपसे प्रतीत होता है और ज्ञानमें घट विशेषणरूपसे भासता है. एवं घटमें घटत्वविशेषण रूपसे भासता है. प्रकार और विशेषण ये एक अर्थको कहनेवाले दो शब्द हैं. घटादिविशेषणोंमें जो घटत्वादि विशेषण है उनहींको विशेषणताके अवच्छेदक धर्मभी कहते हैं.उन घटत्वादिधर्मोंका जो विशेषणतावच्छेदक प्रकारकरूपसे ज्ञान वही 'घटमहं जानामि' इत्याकारक विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमें कारण है.

निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारः तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न सम्भवति।घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं न सम्भवति,जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात् ।

भाषा–और निर्विकल्पकज्ञानमें घटत्वादिधर्मोंका प्रकारतारूपसे भान नहीं है इसलिये घटत्वादि विशिष्ट जो घटादि, उन घटादिकोंका (वैशिष्ट्य) विशेषणरूपसे भान निर्विकल्पक ज्ञानमें नहीं होता और घटत्वादिप्रकारका जिसमें न भान हो किन्तु केवल घटही प्रकाररूपसे जिसमें भान हो ऐसा घटादिविशिष्ट ज्ञान होही नहीं सकता; क्योंकि जाति तथा अखण्ड उपाधिसे भिन्न पदार्थोंका किसी एक धर्महीसे अवश्य भान होताहै, अन्यथा नहीं घटादि पदार्थ जाति तथा अखण्डोपाधिसे भिन्न हैं इसलिये उनका घटत्वादि धर्मोंद्वारा भान होताहै, केवल नहीं. अखण्डउपाधि नाम प्रतियोगित्व अनुयोगित्व आदि अनिर्वचनीय धर्मोंका है–इति ।

महत्त्वं षड्विधे हेतुः–

भाषा–पूर्वोक्त षड्विध प्रत्यक्षमें महत्त्वपरिमाणको कारणता है.

महत्त्वमिति । द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेतानां जातिगुणकर्मणां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वरूपत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति ।

भाषा–द्रव्यके प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाण समवायसम्बन्धसे कारण है अर्थात् जिस द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे महत्त्वपरिमाण है उसीका प्रत्यक्ष होसकताहै, अन्यका नहीं और द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले जाति गुण कर्म आदिकोंके प्रत्यक्षमें महत्त्वपरिमाणको 'स्वाश्रयसमवाय' सम्बन्धसे कारणता है. 'स्व' शब्दसे महत्त्वपरिमाण उसका आश्रय द्रव्य, उसमें समवायसम्बन्धसे जातिगुणादि रहतेहैं. ऐसेही द्रव्यमें समवेत जो गुण कर्मरूपादि उन गुणकर्मरूपादिकोंमें समवेत जो गुणत्वकर्मत्व रूपत्वादि उन गुणत्वकर्मत्व रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षके प्रति महत्त्वपरिमाणको 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय' सम्बन्धसे कारणता है. 'स्व' शब्दसे महत्त्वपरिमाण उसका आश्रय द्रव्य उसमें समवेत गुण कर्म रूपादि उनमें गुणत्व कर्मत्व रूपत्वादिकोंका समवायसम्बन्ध है. एतादृश सम्बन्धसे महत्त्व परिमाणको गुणत्वादि प्रत्यक्षके प्रति कारणता है–इति.

-इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

भाषा-पूर्वोक्त षट्विध प्रत्यक्षमें नेत्रादिइन्द्रियोंको असाधारण कारणता है ॥ ५८ ॥

इन्द्रियमिति। अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते। इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। किंतु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्। आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्, उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति, विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुषि सत्त्वादुद्भूतेति। उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना सङ्करात्।

भाषा-इन्द्रियोंमें इन्द्रियत्वरूप धर्मका पृथ्वीत्व जलत्वादिधर्मोंके साथ संकर है इसलिये 'इन्द्रियत्व' धर्मजातिरूप नहींहै,किन्तु सखण्डोपाधिरूप है.बहुपदार्थघटित धर्मका नाम सखण्डोपाधि है.यह 'धर्म' शब्दसे इतर (रूपसुखादि) उद्भूत विशेषगुणके अनाश्रय तथा ज्ञानके कारणीभूत मनःसंयोगके आश्रयरूप इन्द्रियमें रहता है यही इन्द्रियका निर्वचन है, ज्ञान कारणीभूत मनःसंयोगका आश्रय आत्माभी है उसके वारणार्थ 'शब्देतरोद्भूत विशेषगुणानाश्रत्वे सति' कहा. आत्मा शब्देतरउद्भूत विशेषगुण 'सुखादि' का आश्रय है,याते दोष नहीं. शब्दरूप उद्भूतविशेषगुण श्रोत्र इन्द्रियमें है. श्रोत्र संग्रहार्थ शब्देतरउद्भूत गुणका अनाश्रय कहा, अनुद्भूतरूपादि विशेषगुण नेत्रादि इन्द्रियोंमें विद्यमान हैं, उनके वारणार्थ उद्भूतविशेषगुण कहा अर्थात् 'उद्भूत' पदके न देनेसे नेत्रादि इन्द्रियोंमें अव्याप्ति होगी. उद्भूतत्वरूप धर्मका शुक्लत्वादि धर्मोंके साथ संकर है. इसलिये 'उद्भूतत्व' धर्मजातिरूप नहीं है.

न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्। उद्भूतरूप

१ संकरका प्रकार यह है कि-पृथ्वीत्वरूप धर्मको छोड़कर इन्द्रियत्व धर्म नेत्रादिकोंमें रहताहै और इन्द्रियत्वरूप धर्मको छोड़कर पृथ्वीत्वरूप धर्म घटादिपृथ्वीमें रहताहै. एवं पृथ्वीत्व इन्द्रियत्व उभयधर्मका एकत्र समावेश घ्राणइन्द्रियमें है-इति. ऐसेही; जलत्वादि धर्मोंके साथ संकर जानलेना.

२ संकरका प्रकार यह है कि-शुक्लत्वधर्मको छोड़कर उद्भूतत्व उद्भूतगन्धमें है एवं उद्भूतत्व धर्मको छोड़कर शुक्लत्वधर्म अनुद्भूत शुक्लमें है एवं धर्मद्वयका समावेश उद्भूतशुक्लमें है. ऐसेही नीलत्वादिधर्मोंके साथ जानलेना.

वत्त्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः । किंतु शुक्लत्वादिव्याप्यमनुद्भूतत्वं नाना तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम्,तच्च संयोगादावपि। तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरस्त्यतो विशेषेति । कालादिवारणाय विशेष्यदलम् ।

शंका–शुक्लत्वादि जातियोंके व्याप्यधर्म उद्भूतत्व अनेक माने तो क्या दोष है? समाधान–यदि अनेक मानें तो चाक्षुषप्रत्यक्षमें उद्भूतरूपत्वादि धर्मोंसे जनकता नहीं बन सकेगी क्योंकि उन उद्भूतरूपत्वादिकोंको यदि एक एक व्यक्तिको कारणतावच्छेदक मानें तो एक व्यक्तिके सत्वकालमेंभी द्वितीय 'उद्भूतत्व' व्यक्तिका अभाव होनेसे उद्भूतरूपत्वादिकोंका चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ कार्यकारणभावका व्यभिचार होगा और अनेक उद्भूतत्व किसीएक व्यक्तिमेंभी नहीं रहसकते इसलिये कारणताके अवच्छेदक नहीं होसकते; (किन्तु) परन्तु ऐसा कह सकते हैं कि शुक्लत्वादिधर्मोंके व्याप्य 'अनुद्भूतत्व' धर्म अनेक हैं और उन सबके अभावका पुंजरूप एक 'उद्भूतत्व' है. वह उद्भूतत्वरूप धर्म संयोगादिगुणोंमेंभी है. एवं शब्दसे इतर उद्भूत गुणसंयोगादिक नेत्रादि इन्द्रियोंमें विद्यमान हैं, इसलिये 'उद्भूतविशेषगुण' कहा. संयोगादि विशेषगुण नहीं है यांते अव्याप्तिरूप दोष नहीं है. शब्दइतरउद्भूत विशेष गुणके अनाश्रय कालादिभी हैं उनके वारणार्थ उत्तर विशेष्यदल कहाहै. कालादि शब्देतरउद्भूतविशेषगुणके अनाश्रयहैंभी परन्तु ज्ञानकारणीभूत मनःसंयोगके आश्रय नहींहै यांते दोप नहीं.

इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाद्याश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनःपदम् । ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय । करणमिति । असाधारणं कारणं करणम् । असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम् ॥ ५८ ॥

भाषा–प्राचीन आचार्य नेत्रादिइन्द्रियके अवयवोंको तथा घटादि विषयके परस्पर संयोगकोभी प्रत्यक्षके प्रति कारण मानतेहैं पूर्वोक्त इन्द्रियके लक्षणकी इन्द्रियके एकदेश अवयवमें अतिव्याप्तिवारणार्थ 'मनः' पदका निवेश है.अथवा नवीन आचार्य कालादिकोंमें रूपाभावका चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं उसमें कारणीभूत चक्षुःसंयोगका आश्रय होनेसे संबन्धका सम्पादक कालभी है । इसलिये " काले रूपं नास्ति " इ

रूपाभावात्मक ज्ञानका कारण जो ' चक्षुःकाल संयोग ' उसका आश्रय कालभी है उसमें पूर्वोक्त लक्षण अतिप्रसक्त होगा. उसके वारणार्थ ' मनः ' पदका निवेश है. 'ज्ञानकारण' इस पदके न देनेसेभी पूर्वोक्त सम्पूर्ण लक्षणकी कालादिकोंमें अतिप्रसक्ति होती है; इसलिये सार्थक है. ' करणमिति ' यह मूलकारिकाकी प्रतीक है असाधारण कारणका नाम करण है, व्यापारवालेका नाम असाधारण कारण है.

विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।

भाषा-पूर्वोक्त षट्विध प्रत्यक्षमें घटादिविषयोंके साथ नेत्रादिइन्द्रियोंका सम्बन्ध रूप व्यापारभी षट्प्रकारका है.

विषयेन्द्रियेति । व्यापारः सन्निकर्षः ।

भाषा-प्रकृतमें व्यापार नाम सन्निकर्ष विशेषका है.

षड्विधं संनिकर्षमुदाहरणद्वारा दर्शयति, द्रव्यग्रह इति-

भाषा-उस छः प्रकारके सन्निकर्षको मूलकार उदाहरण पूर्वक दिखलाता है-

द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः ॥ ५९ ॥
द्रव्येषु समवेतानां,तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेतानां,शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।

भाषा-घटादि द्रव्यका ग्रहणसंयोग सम्बन्धसे होता है; द्रव्यसमवेत रूपादिकोंका ग्रहण 'संयुक्तसमवाय' सम्बन्धसे होता है॥५९॥ एवं द्रव्यसमवेत समवेत रूपत्वादि-कोंका ग्रहण 'संयुक्तसमवेत समवाय' सम्बन्धसे होता है; शब्दका ' समवाय ' सम्बन्धसे ग्रहण होता है ॥ ६० ॥ शब्दमें रहनेवाले शब्दत्वादि धर्मोंका 'समवेत समवाय' सम्बन्धसे ग्रहण होत है; समवायका ' विशेषणता ' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है ॥ ६१ ॥ तथा अभावोंका ' विशेषणता ' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है.

द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यमेवमग्रेऽपि। वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगःकारणम् ।द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवायः ।

द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषंप्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः । एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभावः ।

भाषा-घटादि द्रव्यका लौकिक प्रत्यक्ष नेत्रादि इन्द्रियोंके संयोगसे होता है. एवं घटादि द्रव्य समवेत रूपादिकोंका लौकिक प्रत्यक्ष 'इन्द्रियसंयुक्त समवाय' सम्बन्धसे होता है.ऐसेही आगेभी जानलेना.वास्तवम तो ऐसा कहना उचित है कि-घटादि द्रव्य चाक्षुषके प्रति चक्षुःसंयोगको कारणताहै.एवं घटादिसमवेतरूपादि चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय संसर्गकोकारणता है. एवं घटादि द्रव्यमें समवेत जो रूपादि उनमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादि चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवेत समवाय' संसर्गको कारणता है ऐसेही त्वाचादिलौकिक प्रत्यक्षमेंभी विशेषरूपसेही कार्यकारण भाव मानना उचित है.

परंतु परमाणुनीले नीलत्वं पृथिवीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते,तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च विद्यमानत्वात् ।

भाषा-(परंतु) इसमेंभी यह विचारणीय है कि पृथ्वीके नील परमाणुओंमें नीलत्व जातिका तथा पार्थिवपरमाणुओंमें पृथ्वीत्वजातिका नेत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण क्यों नहीं होसकता ? वहां 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वादि' परम्परा सम्बन्धसे उद्भूतरूप तथा महत्त्व परिमाणरूप कारणभी विद्यमान है.यहां 'स्व' शब्दसे उद्भूत रूप तथा महत्त्वपरिमाण उभयका ग्रहण है. उनके आश्रय त्रसरेणु आदिहैं;त्रसरेणु द्व्यणुकमें समवेत है द्व्यणुकपरमाणुओंमें समवेत है, इत्याकारक परंपरासम्बन्धसे उद्भूतरूप तथा महत्त्व परिमाण परमाणुओंमें विद्यमान है इसीको स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं-

तथाहि। नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्त्तते।तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादायवर्त्तते उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैव वर्तते । एवं पृथिवीत्वे घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः।एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात् ।

भाषा-तथाहि नीलमें नीलत्वजाति एकही है वहीघट नीलमें तथा परमाणु नीलमें विद्यमान है. एवं महत्त्व परिमाणका सम्बन्ध घट नीलको लेकर परमाणुनीलमें विद्यमान है और उद्भूतरूपका सम्बन्ध तो घटनील तथा परमाणु नील उभयको लेकर

परमाणुओंमें विद्यमान है ऐसेही पार्थिव परमाणुनिष्ठ पृथ्वीत्वके साथभी महत्त्वपरिमाणका सम्बन्ध घटादिकोंको लेकर पूर्वोक्त परम्परा सम्बन्धसे विद्यमान है. ऐसेही वायुमें तथा वायुके स्पर्शमें रहनेवाली सत्ताकाभी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये; क्योंकि घटादिकोंको लेकर उद्भूतरूपका तथा महत्त्वपरिमाणका सम्बन्ध सत्ताके साथ वायु तथा उसके पर्श, दोनोंमें बना सकता है.

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे तादृशचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषे कारणत्वं वाच्यम्। इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः,परमाणुचक्षुःसंयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात् । एवं वाय्वादौ न सत्वादिचाक्षुषं तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात् ।

भाषा—इसलिये द्रव्यसमवेत ' रूपादि ' चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्वावच्छिन्नके साथ 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' सम्बन्धको कारणता कहनी चाहिये. एवं द्रव्यसमवेतसमवेत ' रूपत्वादि ' चाक्षुष प्रत्यक्षक प्रति (तादृश) उद्भूतरूप विशिष्टमहत्त्वावच्छिन्नके साथ ' चक्षुःसंयुक्त समवेत समवायसम्बन्धको कारणता कहनी उचित है. इस रीतिसे परमाणु नीलमें नीलत्वादि प्रत्यक्षकी आपत्ति नहीं बन सकती;क्योंकि परमाणुओंमें महत्त्व परिमाणके न होनेसे परमाणुनिष्ठ चक्षुःसंयोगमहत्त्वावच्छिन्नके साथ नहींहै; ऐसेही वायुआदिकोंमें सत्त्वादिचाक्षुषप्रत्यक्षकी आपत्तिभी नहीं बन सकती क्योंकि वायुआदिनिष्ठ चक्षुःसंयोग रूपावच्छिन्नके साथ नहीं है.

एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम् । एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्, द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्व-

१ (पूर्ववदेवेति) अर्थात् परमाणुघटित त्वक्सन्निकर्षसे स्पर्शत्व स्पार्शनके वारणार्थ महत्त्वावच्छिन्नका तथा प्रभाघटित सन्निकर्षसे स्पर्शत्व स्पार्शन वारणार्थ उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नत्वादिविशेषणोंकाभी पूर्ववत् निवेश अवश्य करना चाहिये.

वदेव बोध्यम् । एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः। गन्धसमवेतस्य घ्राणजप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् ।

भाषा—ऐसेही जहां अन्धेरमें घटके बीच दीप जलाकर रक्खाजाय तो उसका चांदना घटके मध्यदेशमें होगा और नेत्रसंयोग अन्धकारमें घटके बाह्य देशमें हुआ है. वह नेत्रसंयोग पूर्वोक्त रीतिसे उद्भूतरूप विशिष्ट महत्त्वावच्छिन्नभी है; परन्तु ऐसे स्थलमें घटका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता. इसलिये नेत्रसंयोगमें 'प्रकाशसंयोगावच्छिन्नत्व' भी विशेषण देना चाहिये अर्थात् जहां उद्भूतरूप महत्त्वपरिमाण प्रकाशसंयोगविशिष्ट चक्षुःसंयोग होगा वहां द्रव्य प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नहीं १ । ऐसेही द्रव्यस्पार्शन प्रत्यक्षके प्रति त्वक्–संयोगको कारणता है.द्रव्यसमवेत'उष्णादि'स्पार्शनप्रत्यक्षके प्रति 'त्वक्संयुक्त समवाय' सम्बन्धको कारणता है. एवं द्रव्यसमवेतसमवेत 'उष्णत्वादि' स्पार्शन प्रत्यक्षके प्रति त्वक्संयुक्तसमवेत समवायसम्बन्धको कारणता है. यहांभी पूर्ववत् चाक्षुषप्रत्यक्षकी तरह महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नके साथ त्वक्सयुंक्त समवेतादिसम्बन्धकोही कारणता है २ । ऐसेही गन्धप्रत्यक्षके प्रति घ्राणसंयुक्त समवायसम्बन्धको कारणता है; गन्धसमवेत 'गन्धत्वादि' प्रत्यक्षके प्रति घ्राणसंयुक्त समवेतसमवायको कारणता है ३ ।

एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः, रससमवेतस्य रासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायःकारणम्।शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायःकारणम्।शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।अत्र सर्वत्र प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि संभवति । एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् ।

भाषा—एवं रसप्रत्यक्षके प्रति रसनासंयुक्त समवायसम्बन्धको कारणता है. रससमवेत (रसत्वादि) रासन प्रत्यक्षके प्रति रसनासंयुक्तसमवेत समवायको कारणता है ४ । एवं शब्दप्रत्यक्षके प्रति श्रोत्रावच्छिन्न समवायसम्बन्धको कारणता है.शब्दसमवेत (शब्दत्वादि) श्रावणप्रत्यक्षके प्रति श्रोत्रावच्छिन्न समवेतसमवायको

कारणता है ५ । इस प्रकरणमें सब जगह प्रत्यक्षशब्दसे लौकिकप्रत्यक्षहीका ग्रहण करना चाहिये (वक्ष्यमाण) आगे कथनीय अलौकिकप्रत्यक्ष तो चक्षुरादि इन्द्रियसम्बन्धसे विनाभी होसकता है. एवं स्वात्म प्रत्यक्षके प्रति मनःसंयोगको कारणता है, स्वात्मसमवेत ' सुखादि ' मानस प्रत्यक्षके प्रति मनःसंयुक्त समवायसम्बन्धको कारणता है. स्वात्मसमवेतसमवेत ' सुखत्वादि ' मानसप्रत्यक्षके प्रति मनःसंयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्धको कारणता है ६ ।

अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताहेतुः । वैशेषिकमते तु न समवायः प्रत्यक्षः । अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा ।

भाषा-अभावका तथा समवायका 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होताहै नेत्रादिसम्बद्धभूतलादिकोंमें घटादिकोंका अभाव तथा समवेत रूपादिकोंका समवाय उभय विशेषणीभूत हैं; इसलिये इन्द्रियसम्बद्ध जो भूतलादि उसमें विशेषणीभूत अभावादिकोंका'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता'से ग्रहण होता है; परन्तु समवायका प्रत्यक्ष वैशेषिकसिद्धान्तमें स्वीकृत नहीं है. इस प्रकरणमें वह अभावनिरूपित विशेषणता यद्यपि अनेक प्रकारकी है.

तथाहि । भूतलादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते, संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया, संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया,शब्दाद्यभावःकेवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया,कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया, एवं कत्वावच्छिन्नाभावे खत्वाभावादिकं विशेषणविशेषणतया, एवं घटाभावादौ पटाद्यभावः चक्षुःसंयुक्त विशेषणविशेषणतया ।

भाषा-जैसे भूतलादिमें घटाभावका प्रत्यक्ष संयुक्त विशेषणता सम्बन्धसे होता है, संख्यादिकोंमें रूपादिका अभाव'संयुक्तसमवेत विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होता है. एवं संख्यात्वादि धर्मोंमें रूपादिका अभाव ' संयुक्तसमवेत समवेत विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होताहै.शब्दका अभाव केवल'श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता'से ग्रहण होता है. एवं ककारादि वर्णोंमें खत्वादि धर्मोंका अभाव 'श्रोत्रावच्छिन्न समवेत विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होता है. एवं कत्वावच्छिन्नाभावमें खत्वादिधर्मोंका अभाव ' विशेषण

विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होता है; ऐसेही घटादिके अभावमें गो पटादिका अभाव उसका संयुक्त 'विशेषण विशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है.

एवमन्यदप्यूह्यम् । तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते, अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति ।

भाषा—इसी तरह अभावप्रत्यक्षमें स्थलानुसार और सम्बंधोंकीभी कल्पना कर-लेनी. इसरीतिसे विशेषणता यद्यपि अनेकप्रकारकी है तथापि विशेषणतात्वरूपधर्मसे वह विशेषणता एकही है. (अन्यथा) यदि विशेषणता अधिक मानलीजाय तो "सन्निकर्ष छःही प्रकारका है" यह कथन प्राचीन आचार्य्योंका असंगत होगा—इति ।

यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

भाषा—यदि यहां वस्तु होय तो उसका उपलाभ होना चाहिये. इस रीतिसे जहां प्रसक्ति होसकती है वहां अभावका प्रत्यक्ष विशेषणतासम्बन्धसे होताहै ॥ ६२ ॥

यदि स्यादुपलभ्येतेति । अभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम् । तथाहि । भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते, तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम् । तत्र योग्यताऽप्यपेक्षिता ।

भाषा—यहां अभावके साक्षात्कारमें योग्यानुपलब्धिकी कारणता है; वही दिखला-तेहैं कि—भूतलादि अधिकरणोंमें घटादिकोंके भ्रम होनेसे घटादिकोंके अभावका ज्ञान नहीं होता; इसलिये अभावमात्रकी उपलब्धिमें तत्तत्प्रतियोग्युपलम्भाभावको कारणता अवश्य माननी चाहिये. (तत्र) उस प्रतियोग्युपलम्भाभावमें योग्यताभी अपेक्षित है.

सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा । तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य स उपलम्भाभावोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः ।

भाषा—वह योग्यता प्रतियोगिके सत्त्वापादनसे आपादित प्रतियोगिकत्वरूपा है, अर्थात् घटादि प्रतियोगियोंकी प्रसक्तिद्वारा जिसके प्रतियोगिका उपलम्भरूपसे आपादन होसके वह उपलम्भाभाव अभावप्रत्यक्षमें हेतु है. [तात्पर्य यह कि—प्रतियो-गिके उपलम्भके आरोपका जहां सम्भव होसके वहां तत्प्रातियोगिक अभावका प्रत्यक्ष होताहै, अन्यथा नहीं. ऐसा कहनेसे जलीय परमाणुओंमें पृथिवीत्वाभावके

प्रत्यक्षकी प्रसक्तिभी वारण हुई; क्योंकि वहां प्रतियोग्युपलम्भके आरोपका सम्भव नहींहै. आरोपका प्रकार यह है कि "जलीयपरमाणुषु यदि पृथिवीत्वं स्यात् तर्ह्युपलभ्येत" इसरीतिसे पृथिवीत्वके आरोपसे पृथिवीत्वके उपलम्भका आरोप जलपरमाणुओंमें होसकता नहीं क्योंकि आश्रयप्रत्यक्ष प्रयुक्तजातिका प्रत्यक्ष होताहै; यह नियमहै. इसलिये जैसे जलीय परमाणुमें जलत्वजातिका प्रत्यक्ष नहीं होता वैसेही आरोपित पृथिवीत्वके उपलम्भके आरोपकाभी सम्भव नहीं है. इसलिये जलीय परमाणुओंमें पृथिवीत्वाभाव नहीं है.] इससे यही सिद्ध हुआ कि—जिस अधिकरणमें जिस अभावके प्रतियोगिके आरोपसे उपलम्भका आरोप होसके उस अधिकरणमें वह अभाव प्रत्यक्ष होताहै.

तथाहि। यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादयितुं शक्यते तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति, अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यत इति न घटाभावादेरन्धकारे चाक्षुषं प्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्।

भाषा—(तथाहि)यही दिखलातेहैं कि—जहां आरोपित विषय स्थलमें प्रकाशसंयोगादि सामग्री विद्यमान होय वहां "यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकते हैं; ऐसे स्थलमें घटाभावादिकोंका प्रत्यक्षभी होसकताहै. अन्धकारस्थलमें ऐसा आपादन कर नहीं सकते इसलिये अन्धकारमें घटाभावादिका चाक्षुषसाक्षात्कार नहीं होसकता; परन्तु घटादिका (स्पार्शन) त्वाचसाक्षात्कार अन्धकारमेंभी होसकताहै; क्योंकि प्रकाशसंयोगसे विनाभी "यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि स्पर्शेन उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकतेहैं.

गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षः, तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्।

भाषा—गुरुत्वधर्म अधर्म आदि जो सर्वथा प्रत्यक्षके अयोग्यपदार्थ हैं, उनका अभावभी प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि "घटे यदि गुरुत्वं स्यात् तर्हि उपलभ्येत"ऐसा आपादन यहां होय नहीं सकता; कारण यह कि—गुरुत्वधर्म सर्वथाही प्रत्यक्षके योग्य नहीं किन्तु (तोलनी) तकड़ीके ऊपर नीचे होनेसे अनुमेय है. ऐसेही "मयि धर्मो यदि स्यात् अधर्मो वा स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा धर्माधर्मका आपादनभी नहीं होसकता क्योंकि धर्माधर्म सर्वथा प्रत्यक्षके योग्य नहीं किन्तु

सुखदुःखादिके भोगसे अनुमेय हैं; परन्तु जिस अधिकरणमें जिस अभावके प्रतियोगिका आपादन होसकता है उस अधिकरणमें उस अभावका प्रत्यक्ष अवश्य होता है.

वायौ रूपाभावः, पाषाणे सौरभाभावः, गुडे तिक्ताभावः, वह्नावनुष्णत्वाभावः, श्रोत्रे शब्दाभावः, आत्मनि सुखाभावः। एवमादयस्तत्तादिन्द्रियैर्गृह्यन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्।

भाषा–जैसे (१) "वायौ यदि रूपं स्यात्तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकतेहैं; क्योंकि जहां जहां महत्त्वपरिमाण विशिष्ट उद्भूतरूप है वहां२ अवश्य प्रत्यक्ष होताही है, यह वार्ता घटादिकोंमें प्रसिद्ध है और वायुमें स्पार्शन प्रत्यक्ष होनेसे महत्त्वपरिमाण तो विद्यमानही है परन्तु रूप नहीं है; इसलिये रूपाभावका चाक्षुष प्रत्यक्ष होसकताहै. (२) एवं "पाषाणे यदि सौरभं स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन करसकतेहैं; क्योंकि पुष्पादिकोंमें जहां जहां गन्ध है उसका घ्राण इन्द्रियद्वारा सर्वत्र ग्रहण होताहै. पाषाणमेंभी यदि गन्ध होता तो उसका घ्राणइन्द्रियद्वारा ग्रहण अवश्य होता; इसलिये पाषाणमें गन्धाभावका घ्राणज प्रत्यक्ष होवेहै. (३) एवं गुडे तिक्ताभावका रासन प्रत्यक्ष होता है क्योंकि "गुडे यदि तिक्तरसः स्यात् तर्हि रसनेन्द्रियेणोपलभ्येत नास्त्यतो नैवोपलभ्यते" इस रीतिसे गुडमें तिक्तरसके आरोपसे रसनजन्य तिक्तरसोपलम्भका आरोप होसकता है, अन्य इन्द्रियजन्य उपलम्भका आरोप होसकता नहीं इसलिये रसाभावका प्रत्यक्ष रसनाइन्द्रियजन्यही होवे है अन्यथा नहीं. (४) एवं अग्निमें अनुष्णस्पर्शाभावका त्वाच प्रत्यक्ष होताहै; क्योंकि "अग्नौ यदि अनुष्णस्पर्शः स्यात् तर्हि त्वगिन्द्रियेणोपलभ्येत" इस रीतिसे अग्निमें अनुष्ण स्पर्शके आरोपसे त्वक्जन्य उपलम्भका आरोप होताहै; इसलिये स्पर्शाभावका प्रत्यक्ष केवल त्वगिन्द्रियजन्य है अन्यथा नहीं. (५) एवं श्रोत्रमें शब्दाभावका श्रोत्रज प्रत्यक्ष होताहै; क्योंकि "श्रोत्रे यदि शब्दः स्यात् तर्हि उपलभ्येत" इसरीतिसे श्रोत्रमें शब्दके आरोपसे श्रोत्रजन्य उपलम्भका आरोप होसकताहै; इसलिये शब्दाभावका प्रत्यक्ष केवल श्रोत्रइन्द्रिय जन्य है, अन्यथा नहीं. (६) एवं आत्मामें सुखादि अभावका प्रत्यक्ष मानसही होताहै क्योंकि "आत्मनि यदि सुखं स्यात् तर्हि मनसोपलभ्येत" इसरीतिसे आत्मामें सुखके आरोपसे उसके मानस उपलम्भका आरोप होसकताहै इसलिये सुखादिके अभावका केवल मानस प्रत्यक्ष होताहै अन्यथा नहीं. ऐसे२

औरभी अनेकों अभाव पूर्वोक्तरीतिसे तिस तिस इन्द्रियसे ग्रहण होते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे तिस तिस अभावके प्रत्यक्षका आपादन करसकतेहैं.

संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता । अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता, अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ॥ ६२ ॥

भाषा-पूर्वोक्तरीतिसे अभाव चार प्रकारका है. उनमें तीन तो 'संसर्गाभाव' इस एकही नामसे ग्रहण होतेहैं और चौथे भेदका 'अन्योन्याभाव' शब्दसेभी ग्रहण होताहै उनमें संसर्गाभाव वाचि प्रथम तीन अभावके प्रत्यक्षमें तो बहुलतासे प्रतियोगिकी योग्यता अपेक्षित है अर्थात् यत्प्रतियोगिक संसर्गाभावका साक्षात्कार अपेक्षित होय वह प्रतियोगी किसीन किसी इन्द्रियसे अवश्य प्रत्यक्षके योग्य होना चाहिये और एवं अन्योन्याभाव प्रत्यक्षमें अधिकरणकी योग्यता अपेक्षित है. इसीसे स्तम्भादिकोंमें पिशाचादिका भेदभी "स्तम्भः पिशाचो न" इत्यादि प्रतीतियोंद्वारा नेत्रोंसे ग्रहण होताहै--इति ॥ ६२ ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधं, तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । अलौकिकसन्निकर्षानिदानीं वदति, अलौकिक इति-

भाषा-पूर्वोक्त प्रत्यक्षज्ञान, लौकिक, तथा अलौकिक भेदसे दोप्रकारका है.उनमें लौकिक प्रत्यक्षमें तो छः प्रकारके सन्निकर्ष पूर्व कह चुकेहैं. अब आगे 'अलौकिकस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे अलौकिक सन्निकर्षोंको कहते हैं-

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।

व्यापारः संनिकर्षः ।

भाषा-अलौकिक प्रत्यक्षमें (व्यापार) सन्निकर्ष तीन प्रकारका कहा है.

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥

भाषा-उनमें प्रथम सामान्यलक्षणारूप है;दूसरा ज्ञानलक्षणारूप है,और तीसरा योगजधर्मरूप है ॥ ६३ ॥

सामान्यलक्षणेति । सामान्यं लक्षणं यस्या इत्यर्थः । तत्र लक्षण-

पदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् ।

भाषा-यहां 'सामान्य' नाम घटत्वादि जातिका है और 'लक्षण' शब्दसे यदि स्वरूपका ग्रहण कियाजाय तो "सामान्यं लक्षणं यस्य" इत्याकारक बहुव्रीहि समाससे सामान्यस्वरूपप्रत्यासत्तिरूप अर्थका लाभ होताहै.'प्रत्यासत्ति'नाम सम्बन्धका है. (तच्च) वह सामान्यस्वरूप सम्बन्ध इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यक जो "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान उसमें प्रकारीभूत जानना चाहिये अर्थात् पुरोवर्ति घटमें नेत्रसंयोगके पश्चात्'अयं घटः'इत्याकारक साक्षात्कार होताहै.इस साक्षात्कारका कारणीभूत सम्बन्ध संयोगरूप लौकिक है. यह ज्ञान घट-घटत्व दोनोंको विषय करेहै. उनमें घटको विशेष्यविधया तथा घटत्वको प्रकारविधया विषय करेहै; इसलिये 'इन्द्रियसम्बद्धं विशेष्यं यस्य तदिन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं ज्ञानम्' इसमें जो प्रकारविधया भान हो वही सामान्यसम्बन्धका स्वरूप है. ऐसे घटत्वादि हैं.

तथाहि । यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारो धूमत्वेन च सन्निकर्षेण धूमः इत्येवं रूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसम्बद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात्, तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रियसम्बन्धाभावात् ।

भाषा-(तथाहि) वही दिखलाते हैं कि-जहां धूमादि विशेष्य पदार्थोंके साथ नेत्रादि इन्द्रियोंका सम्बन्ध हुआहै वहां धूमादि विशेष्यक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान होता है. उस ज्ञानमें धूमत्वका प्रकारविधया भान है; वह (धूमत्व) ही अलौकिक सन्निकर्ष है; उस धूमत्वरूप सन्निकर्षसे 'धूमः' इत्याकारक सकलधूमविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है; क्योंकि इस ज्ञानमें प्रकार जो धूमत्व वह सभी धूमोंमें एकही है. इसलिये पुरोवर्ति धूमज्ञानकालमें नेत्रइन्द्रियका 'स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता' सम्बन्ध सकल धूमनमें होता है. इस सम्बन्धसे नेत्रइन्द्रियजन्य यावत् धूमका प्रत्यक्ष द्वितीयक्षणमें होता है. इस प्रत्यक्षका विषय पुरोवर्ति धूमभी होसकता है, क्योंकि ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता जैसे और धूमोंमें है वैसे पुरोवर्ति धूममेंभी है. इसलिये पुरोवर्ति धूमादि पदार्थोंमें प्रथमक्षणमें लौकिक और द्वितीयक्षणमें अलौकिक यह दो ज्ञान मानने उचितहैं. शंका-यहां इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यकज्ञानमें प्रकारीभूत धर्मको सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति न मानकर लाघवसे केवल प्रकारत्वेन इन्द्रिय

सम्बद्धहीको प्रत्यासत्ति मानें तो क्या दोष है ? धूमचक्षुःसंयोगकालमें धूमत्वभी प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध है याते कुछ दोष नहीं. समाधान-ऐसा कहनेसे जहां (धूलीपटल) वायुवरोलेका धूमत्वेन ज्ञान हुआ है वहां निर्वाह नहीं होय सकेगा क्योंकि ऐसे स्थलमें प्रकारता सम्बन्धसे इन्द्रियसम्बद्ध धूलीपटलत्व है, धूमत्व नहीं; परन्तु ज्ञान तो यहांभी सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे सकल धूमविषयक होता है सो धूमत्वको इन्द्रियसम्बद्ध नहीं होनेसे नहीं हुआ चाहिये.

मन्मते त्विन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं, तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः। इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः, इदं च बहिरिन्द्रियस्थले, मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः । अतः शब्दादिना यत्किञ्चित्पिशाचाद्युपस्थितौ मानसः सकलपिशाचादिबोध उपपद्यते ।

भाषा-और मेरे मतमें तो निर्वाह होसकता है; क्योंकि हमने तो लम्बायमान इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञानमें 'प्रकारीभूतधर्म' को प्रत्यासत्ति माना है. यहां इन्द्रिय सम्बद्ध धूलीपटल है उसी धूलीपटलमें धूलीपटल विशेष्यक धूमत्व प्रकारक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान हुआ है. उसमें प्रकाररूपसे भासमान धूमत्वही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है. पुरोवर्ति पदार्थमें इन्द्रियका सम्बन्ध लौकिक ग्रहण करना उचित है; परन्तु यह पूर्व कथन बाह्य इन्द्रियस्थलमें है, मानस प्रत्यक्षस्थलमें तो ज्ञानप्रकारीभूत सामान्य मात्र प्रत्यासत्ति कहनेसे निर्वाह होसकताहै.इसी प्रत्यासत्तिसे सर्वथा प्रत्यक्षायोग्य पिशाचादिका शाब्दज्ञान हुए पीछे "सर्वे पिशाचाः पिशाचत्ववन्तः"इत्याकारक सकल पिशाचादिविषयक मानस बोध उत्पन्न होता है क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञान शब्दसे पिशाचादि विषयक शाब्दज्ञानभी लेसकते हैं;उसमें प्रकारीभूत जो पिशाचत्वरूप सामान्य वही 'मनोजन्य ज्ञानप्रकारीभूत पिशाचत्ववत्ता'सम्बन्धसे सकल पिशाच विषयक अलौकिक ज्ञानका जनक है.

परंतु समानानां भावः सामान्यं, तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं घटादि, यत्रैको घटः संयोगेन भूतले समवायेन कपाले वा ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम् । परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः ।

भाषा-(परन्तु) यहां (समानानां) तुल्यपदार्थोंका (भावः) प्रकारीभूतधर्म 'सामान्य' शब्दका अर्थ है. वह किसी जगहमें नित्य है, जैसे धूमत्व घटत्व पटत्वादि; और किसी जगहमें अनित्यभी है, जैसे घटपटादि. जिस स्थलमें एकही घटका संयोग सम्बन्धसे भूतलमें और समवायसम्बन्धसे कपालोंमें भान हुआहै वहां (तदनन्तरं) उस लौकिकज्ञानके पश्चात् द्वितीयक्षणमें 'सर्वाणि भूतलादीनि संयोगेन घटवंति' एवं सर्वे कपालाः समवायेन घटवन्तः' इत्याकारक यावत् उस घटवाले संयोगसम्बन्धसे भूतलादिकोंका तथा समवायसम्बन्धसे कपालोंका ज्ञान होता है. (तत्रेदं बोध्यम्) वहां ऐसे स्थलमें ज्ञायमान अनित्य सामान्यही प्रत्यासत्ति जाननी उचित है; (परन्तु) उसमेंभी इतना और अधिक जानना चाहिये कि वह सामान्य जिस सम्बन्धसे अपने अधिकरणमें ज्ञात हुआ है उसीही सम्बन्धसे उस सदृश अधिकरणोंकी अलौकिक प्रत्यासत्ति होती है. अन्यथा यदि ऐसा नहीं माने तो समवायसम्बन्धसे ज्ञान प्रकारीभूत घटत्वादि सामान्य प्रत्यासत्तिसे कालाकाशादि पदार्थोंके ज्ञानकी आपत्तिभी अलौकिक प्रत्यासत्तिसे होसकती है.

किंतु यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात्, सामान्यस्य तदानीमभावात् । किंचेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं 'घटः' इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिन इन्द्रियसम्बन्धंविनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते ।

भाषा-किन्तु एवंच जिस स्थलमें (तद्घट) विशेषणरूपेण दृष्ट घटके नाशके अनन्तर उसी घटवाले स्थलका "तद्भूत्तलं घटवदासीत्" इत्याकारक स्मरण हुआ है वहां सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे उसी सम्बन्धसे उस घटवाले यावत् अधिकरणोंका बोध नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि सामान्यरूपसे भासमान घटका उस कालमें अभाव है. और वही अधिकरणोंके साथ ज्ञानका सम्बन्ध है; उसके न होनेसे उसके अधिकरणोंका ज्ञानभी स्वयंही नहीं होगा. (किञ्च) औरभी दोष है. जहां इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यक 'घटः' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वहां अग्रिम दिनमें इन्द्रियसम्बन्धसे विनाभी तादृश 'घटः' इत्याकारक ज्ञान प्रकारीभूत घटत्वरूप सामान्य विद्यमान है तादृश सामान्यलक्षणा प्रत्यसत्तिद्वारा "सर्वे घटा घटत्ववतः" इत्याकारक ज्ञान-अग्रिम दिनमें क्यों नहीं होता?(अर्थात् ज्ञानकी सामग्री विद्यमान है तो ज्ञान अवश्य होनाचाहिये)

तस्मात् सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह, आसत्तिरित्यादि-

भाषा-इसलिये सामान्यप्रत्यासत्ति नहीं बन सकती; किन्तु सामान्यका ज्ञानही प्रत्यासत्ति माननी उचित है. इसीवार्ताको मूलकार 'आसत्तिराश्रयाणां' इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं-

आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।

आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः ।

भाषा-घटादि अधिकरणोंकी (आसत्ति) प्रत्यासत्ति तो सामान्यविषयक ज्ञानको मानना उचित है.

तथा च सामान्यलक्षणेत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः । तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते ॥ ६३ ॥

भाषा-(तथाच) जव ऐसे माना तो पूर्वकारिकाकथित "सामान्यलक्षणा" इस संज्ञानिष्ठ 'लक्षण' शब्दका अर्थ 'विषय' है. पूर्वोक्त रीतिसे स्वरूप नहीं अर्थात् "सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य" ऐसा समास करनेसे सामान्याविषयक ज्ञानही प्रत्यासत्ति है. यही अर्थ लाभ होताहै ॥ ६३ ॥

ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनाऽपि सामान्यज्ञानं यत्र वर्त्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह,तदिन्द्रियजेति-

शंका-जिस स्थलमें नेत्रसंयोगादिकसे विनाभी घटत्वादि सामान्यविषयक ज्ञान विद्यमान है वहां सकल घटादिविषयोंका चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिये; क्योंकि प्रत्यक्ष कारणीभूत 'सामान्यज्ञानप्रत्यासत्तिरूपा' सामग्री वहां विद्यमान है. समाधान-ऐसे स्थलमें जिस सामग्रीकी न्यूनता है उसीको 'तदिन्द्रियज' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकारकहतेहैं-

तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

भाषा-(तत) नेत्रादि इन्द्रियजन्य जो (तत्) घटत्वादि धर्मिकबोध उस बोधकी सामग्रीभी अपेक्षित है ॥ ६४ ॥

अस्यार्थः- यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानसाम-

ऽप्यपेक्षिता,सा च सामग्री चक्षुःसंयोगालोकसंयोगादिकम्। तेना-न्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशं ज्ञानं न जायते ॥ ६४ ॥

भाषा–अर्थात् जिस कालमें नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति-द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, उस कालमें (यत्किञ्चित्) घटादि धर्म्मीमें 'घटत्वादि' सामान्यविषयक नेत्रादि इन्द्रियजन्य ज्ञानकी सामग्रीभी अपेक्षित है; वह सामग्री नेत्रसंयोग, आलोकसंयोग, उद्भूतरूप, महत्त्वपरिमाणादि यथायोग्य तिस २ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्थलमें जाननी योग्य है. ऐसा माननेसे अन्धकारादिकोंमें नेत्रादिद्वारा घटत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मीका ज्ञान नहीं होय सकता; इसलिये वहां सामान्यल-क्षणा प्रत्यासत्तिभी नहीं बन सकती ॥ ६४ ॥

ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह, विषयीति–

शंका–ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति यदि ज्ञानस्वरूपा है और सामान्यलक्षणाभी पूर्वो-क्तरीतिसे ज्ञानस्वरूपाही है तो फिर उन दोनोंका परस्पर भेद नहीं होना चाहिये. समाधान–उनके भेदहीको 'विषयी यस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं कहते हैं–

विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।

व्याख्या–यस्य सौरभादेः, विषयी–ज्ञानं, तस्यैव सौरभादेः, व्यापारः सन्निकर्षः, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् अलौकिक सन्निकर्षसे यद्विषयक ज्ञान हुआ है उसीके सम्बन्ध-विशेषका नाम ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति है.

['सुरभि चन्दनं' इत्याकारक चाक्षुष ज्ञान सौरभ चन्दन चन्दनत्व इन तीनोंको विषय करताहै. उनमें चन्दन चन्दनत्वका तो यथाक्रम नेत्रसंयोग तथा नेत्र संयु-क्तसमवाय सम्बन्धसे लौकिकप्रत्यक्ष हो सकता है; परन्तु सौरभांशमें साक्षात्कारज-नक लौकिकसम्बन्ध दुर्घट है; क्योंकि सौरभांश चाक्षुषज्ञानका अविषय है और सौरभांशको विषय करनेवाले घ्राणइन्द्रियका उस कालमें सम्बन्धही नहीं किन्तु पूर्वगृहीत सौरभका स्मरण किंवा पूर्वगृहीत सौरभके आत्मामें संस्कारमात्रका सम्भव होसकताहै इसलिये 'सुरभिचन्दनं' इत्याकारक ज्ञानस्थलमें सौरभानुयोगिक नेत्रप्रतियोगिक कोई एक सम्बन्ध अवश्य कहना चाहिये. वह सम्बन्ध साक्षात् तो बनही नहींसकता, किन्तु 'नेत्रसंयुक्त मनःसंयुक्त आत्मसमवेत

ज्ञानरूप' किंवा 'नेत्रसंयुक्त मनःसंयुक्तात्मसमवेत संस्काररूप' परम्परा सम्बन्ध बन सकताहै. इसी परंपरासम्बन्धहीका नाम 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' है. जिस कालमें नेत्रोंका चन्दनसे संयोग होताहै उसीकालमें "एकसम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं" इस न्यायसे सौरभका स्मरण किंवा पूर्वानुभवजन्य संस्कार उद्बुद्ध होय कर "सुरभि चन्दनं" इत्याकारक चाक्षुषज्ञान होताहै; यह ज्ञान चन्दनांशमें तो लौकिक है और सौरभांशमें पूर्वोक्तसम्बन्धसे अलौकिक है.]

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति। अत्रायमर्थः। प्रत्यक्षे सन्निकर्षं विना भानं न सम्भवति, तथाच सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्, तदर्थं सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते।

भाषा—सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिका और ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिका परस्पर इतना भेद है कि घटत्वादिधर्मविशिष्ट एक धर्मीका लौकिक साक्षात्कार हुए उसी धर्मके आश्रय देशांतरीय कालान्तरीय यावत् धर्म्मीका ज्ञान सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा होताहै, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति तो जिस सौरभादिका अलौकिक भान हुआ है उसीके साथ सम्बन्धविशेषका नाम है. यहां यह अभिप्राय है कि—प्रत्यक्षयोग्य पदार्थोंकी नेत्रादि इन्द्रियोंके सन्निकर्षसे विना प्रतीति नहीं होसकती तो फिर सामान्यलक्षणाके न स्वीकार करनेसे धूमत्वेन सकल धूमोंका और वह्नित्वेन सकल वह्नियोंका ज्ञान कैसे होगा ? इसलिये यावत् वह्नि धूमज्ञानार्थ सामान्य लक्षणका स्वीकरण है.

नच सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यम्। प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद्धूमो वह्निव्याप्यो न वेति संशयानुपपत्तेः। मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसन्देहः संभवति।

शंका—सकलवह्नि धूमविषयक ज्ञान न होनेसे हानि क्या है? समाधान—महानसीय प्रत्यक्षधूममें तो वह्निके साथ 'सहवृत्तित्व' रूप सम्बन्ध नेत्रइन्द्रियसे ग्रहण हुआ है और देशान्तर कालान्तरमें होनेवाले धूमकी किसीतरहसे उपस्थिति नहींहै;

याते वह्निधूमादिकोंकी व्याप्ति ज्ञानसे पूर्व "धूम वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय है या नहीं;" इत्याकारक संशय नहीं बन सकेगा और मेरे मतमें तो सामान्यलक्षणासे यावत् धूमोंकी उपस्थिति हुई है. कालान्तर देशान्तरमें होनेवाले धूममें वह्नि निरूपित व्याप्तिआश्रयत्वका सन्देह बनसकताहै.

नच सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकले प्रमेये ज्ञाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यम् । प्रमेयत्वेन सकले प्रमेये ज्ञातेऽपि विशिष्यसकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात् । एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात् ।

शंका–सामान्यलक्षणा अंगीकार करनेसे प्रमेयत्वेन सकल प्रमेयका ज्ञान हुये पुरुषको (सर्वज्ञ) यावत् पदार्थविषयक ज्ञानवान् होना चाहिये. समाधान–प्रमेयत्वेन सकल पदार्थविषयक ज्ञान हुएभी विशेषरूपसे कालान्तर देशान्तरमें होनेवाले पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे यह जीव सर्वज्ञ नहीं होसकता. एवं यदि ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिको अंगीकार न किया जाय तो "सुरभिचन्दनं" इत्याकारक ज्ञानमें सौरभांशकी प्रतीति कैसे होगी? क्योंकि चन्दनखण्डके चाक्षुष हुएभी उपस्थित सौरभांशके साथ नेत्रसन्निकर्ष नहीं है.

यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं सम्भवति । तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया।एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया ।

भाषा–यहां 'सुरभि चन्दनम्' इत्यादि स्थलमें यद्यपि सौरभादिका भान सौरभत्वादि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसेभी होसकताहै क्योंकि सौरभत्व प्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष या सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष इन दोनोंमें किसी एक सामग्रीकी सहकारतासे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिको फलजनकता अंगीकार करीहै. प्रकृतमें यद्यपि प्रथमसामग्रीका तो अभाव है तथापि 'सुरभि चन्दनं' इत्याकारक ज्ञानमें सौरभत्वावच्छिन्न प्रकारक लौकिक प्रत्यक्षरूपा द्वितीय सामग्री विद्यमान है; याते सामान्यलक्षणासेभी सौरभका भान बनसकताहै तथापि स्वरूपसे सौरभत्वधर्मका भान फिरभी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिहीसे होताहै; क्योंकि उस कालमें सौरभत्वांशमें किसी धर्मान्तरका ग्रहण है नहीं. इसलिये सामान्यलक्षणासे सौरभत्वांशका ग्रहण मानकर निर्वाह नहीं होसकता एवं धूमत्वधर्मपुरस्कारेण धूलीपटलमें "अयं धूमः"

इत्याकारक ज्ञान हुए पश्चात् "धूममहंजानामि" इत्याकारक अनुव्यवसायमें धूलीपटलका भान ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिसे होताहै. यहां भाव यह है कि-ज्ञानविषयक ज्ञानका नाम 'अनुव्यवसाय' है. वह सर्वत्र मानसिक होताहै. तथा स्वविषयभूत ज्ञानादिको उनके विषय सहित विषय करेहै. उसमें ज्ञानादिको तो 'स्वसंयुक्तात्मसमवेतत्व' रूप अभ्यन्तरीय लौकिक सम्बन्धसेही विषय करे है; परन्तु ज्ञानादिके बाह्य घटादिविषयोंके साथ उसका कोई लौकिकसम्बन्ध नहीं है किन्तु 'स्वसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्व' रूप ज्ञानलक्षणानामक अलौकिकसम्बन्धही बनसकता है. उसमेंभी घटादि सद्विषय स्थलमें तो 'आसत्तिराश्रयाणां' इत्यादि पूर्वोक्त रीतिसे घटादिअंशमें सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिरूपभी होसकताहै किन्तु केवल घटत्वांशमें अवश्य ज्ञानलक्षणाही मानना पड़ता है; परन्तु धूमत्वेन धूलीपटलादि भ्रमस्थलमें तो उभयांशमें ज्ञानलक्षणाही सम्बन्ध है; क्योंकि वहां धूमत्व धर्म्म धूलीपटलमें वस्तुतः नहीं है इसलिये तदाश्रयत्वेन धूलीपटलका ज्ञानभी सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसे नहीं होसकता किन्तु पूर्वोक्तसम्बन्धसे ज्ञानलक्षणाहीसे होसकता है. यहां पूर्वोक्त उभय सम्बन्धमें 'स्व' शब्दसे मनका ग्रहण है.

योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५॥

भाषा-युक्त युञ्जान योगीके भेदसे योगजधर्म दो प्रकारका है॥ ६५ ॥

योगज इति । योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिपुराणादिप्रमाणक इत्यर्थः । युक्तेति । युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः ॥ ६५ ॥

भाषा-युक्त युञ्जान रूप योगीके भेदसे योगाभ्यासजनित श्रुतिपुराणादि प्रतिपाद्य योगजधर्मविशेषभी दो प्रकारका है ॥ ६५ ॥

युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।

भाषा-उनमें युक्त योगीको सर्वकालमें यावत् वस्तुका भान रहता है और युंजान योगीको चिंतन करनेसे तत् २ पदार्थका साक्षात्कार होता है.

युक्तस्येति।योगाभ्यासवशीकृतमानसः समाधिसमासादितविविधसिद्धिर्युक्त इत्युच्यते।अयमेव विशिष्टयोगवत्त्वाद् वियुक्त इत्यप्युच्यते । सर्वदेति । चिन्तासहकारं विनाऽपीत्यर्थः । भानं सर्वविषयाणां प्रत्यक्षम् । अपरो युञ्जानो विषयव्यावृत्तमानसः ।

चिन्ता ध्यानं,मनसस्तदेकाग्रीकरणं,तत्सहकारात् स्थूलसूक्ष्माव्यवहितविप्रकृष्टानर्थान् प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः ।

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां प्रत्यक्षखण्डम् ॥ १ ॥

भाषा–चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगाभ्याससे मनको वशीभूत करनेवाला तथा सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा अणिमादि अनेक प्रकारकी सिद्धियोंके सम्पादन करनेवाला पुरुष युक्तयोगी कहाजाता है. विशेष योगयुक्त होनेसे इसीको शास्त्रमें वियुक्तभी कहतेहैं.इस युक्त योगीको सर्व विषय विषयक साक्षात्कार चिंताकी सहकारतासे विनाभी होता है और विषयासंलग्नमानस जो द्वितीय युंजानयोगी है उसको तद्विषयाकार चित्तके एकाग्र करनेसे आकाश परमाण्वादि देशान्तरीय कालान्तरीय यावत् पदार्थोंका साक्षात्कार होता है–इति शम् ।

इति श्रीगोविंदसिंहसाधुकृते आर्य्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्त
मुक्तावलीप्रकाशे प्रत्यक्षः परिच्छेदः ॥ १॥



अथानुमानपरिच्छेदः २.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

यन्नामसिंहैकसुकीर्तनेन भूयोऽन्तरायाश्च शृगालयन्ति ॥
पद्मेक्षणः पावनपादपद्मः पायात्सदा श्रीगुरुनानको नः ॥ १ ॥

अनुमितिं व्युत्पादयति, व्यापारस्त्विति—

भाषा—अनुमान प्रमाण बहुवादिसम्मत है इसलिये हेतु हेतुमद्भावसङ्गतिसे प्रत्यक्षनिरूपणानन्तर 'व्यापारस्तु परामर्शः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अनुमान प्रमाणका निरूपण करतेहैं—

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥६६॥
अनुमायां —

भाषा—अनुमित्यात्मक ज्ञानमें व्याप्तिज्ञानको कारणता है और परामर्शात्मक ज्ञान मध्यमें व्यापार है.

अनुमायामनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, परामर्शो व्यापारः। तथा-हि । येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिर्गृहीता पश्चात्स एव पुरुषः क्वचित् पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति, तदनन्तरं धूमो वह्निव्याप्य इत्येवं रूपं व्याप्तिस्मरणं तस्य भवति, पश्चाच्च वह्निव्याप्यधूमवानयमिति ज्ञानं भवति स एव परामर्श इत्युच्यते । तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं जायते, तदेवानुमितिः।

भाषा—अनुमितिज्ञानके प्रति व्याप्ति ज्ञानको करणता और परामर्श व्यापार इस रीतिसे है कि—जिस पुरुषने महानसादिस्थलोंमें "यत्र२धूमस्तत्र२ वह्निः" इत्याकारक 'सहचर्यनियमरूपाव्याप्ति' वह्नि निरूपित धूमहेतु विषयक अनेक वार ग्रहण करी है. फिर पीछे दैवात् वही पुरुष किसी पर्वतादिके समीप जायकर ऊपरनीचेतक एकरस सरल लम्बायमान धूम शिखाको देखकर पीछे महानसादिमें गृहीत व्याप्तिको स्मरण करता है कि "धूम वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय है" इत्याकारक व्याप्ति स्मरणके पीछे उसी पुरुषको "वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय जो धूम उसवाला ग्रह

है" इत्याकारक ज्ञान होता है. इसी ज्ञानको शास्त्रमें परामर्शात्मक ज्ञान कहते हैं. इस ज्ञानके पीछे "पर्वतो वह्निमान्" ऐसा ज्ञान होता है यही ज्ञान अनुमितिरूप है.

अत्र प्राचीना व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं धूमादिकं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति, तद्दूषयति, ज्ञायमानमिति–

भाषा–यहां प्राचीन नैयायिक लोग व्याप्ति आश्रयत्वेन ज्ञातहुए धूमादि हेतुओंको अनुमितिकी करणता कहतेहैं और लिङ्गपरामर्शको मध्यमें व्यापार मानतेहैं; उसको 'ज्ञायमान' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दूषित करतेहैं–

– ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥

भाषा–ज्ञातहुआ हेतु अनुमितिका करण नहीं होसकता.यदि ऐसा होय तो अतीतानागत हेतुओंसे अनुमिति ज्ञान नहीं हुआ चाहिये ॥ ६७ ॥

लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह । अनागतादीति । यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात् तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेनानुमितिर्न स्यात्, अनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्-इति ॥ ६७ ॥

भाषा–लिङ्गको करण न होनेमें युक्ति यह है कि–यदि अनुमितिके प्रति लिंगको करणता होय तो"इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति भाविधूमात्"एवं "इयं यज्ञशाल वह्निमत्यासीत भूतधूमात्" इत्यादि अनागत तथा विनष्ट हेतुओंसे अनुमिति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अनुमिति कारणीभूत हेतु उस कालमें विद्यमान नहींहै. शंका–परामर्शरूप व्यापार सम्बन्धसे स्वातीतानागत कालमेंभी हेतु विद्यमान है याते कुछ दोष नहीं. समाधान–अतीतानागत लिङ्गको परामर्शकी जनकताही सिद्ध नहीं;इस लिये परामर्श अतीतानागत लिङ्गका व्यापार नहीं बन सकता–इति ॥ ६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।

भाषा– साध्यनिरूपित व्याप्तिआश्रयहेतुको पक्षवृत्तित्वावगाहनी बुद्धिका नाम 'परामर्श' है.

व्याप्यस्येति।व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमनुमितिजनकम्, तच्च व्याप्यः पक्ष इति ज्ञानं पक्षो व्याप्यवा-

निति ज्ञानं वा। अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात् पक्षे साध्यमित्याकारिका, पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात् पक्षः साध्यवानित्याकारिका। द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्येवानुमितिरित्यन्ये।

भाषा—साध्यनिरूपित व्याप्तिविशिष्ट हेतुका पक्षके साथ वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान अनुमितिका जनक है;उसीका नाम 'परामर्श' है. उसी परामर्शज्ञानके विशेषणविशेष्यभावके विपर्याससे दो स्वरूप हैं;उनमें एक तो पक्षप्रकारक व्याप्तिविशिष्टविशेष्यक 'व्याप्यः पक्षे' इत्याकारक ज्ञान है और दूसरा व्याप्तिविशिष्ट प्रकारक पक्षविशेष्यक "पक्षो व्याप्यवान्" इत्याकारक ज्ञान है. एवं कारणीभूत परामर्शके आकारमें भेद होनेसे अनुमितिके आकारमेंभी भेद होता है अर्थात् प्रथम परामर्शसे पक्षप्रकारक साध्य विशेष्यक "पक्षे साध्यं" इत्याकारक अनुमिति ज्ञान होताहै और द्वितीय परामर्शसे साध्यप्रकारक पक्षविशेष्यक "पक्षः साध्यवान्" इत्याकारक अनुमितिज्ञान होताहै और कई एक नवीन नैयायिक ऐसा मानतेहैं कि—पूर्वोक्त पक्षविशेष्यक तथा व्याप्तिविशिष्टविशेष्यक उभयविध परामर्शसे साध्यप्रकारक पक्षविशेष्यक 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारक एकही अनुमिति होती है—इति। पूर्वोक्त रीतिसे लिङ्गदर्शन व्याप्तिस्मरण और परामर्श इन तीनोंज्ञानोंके पश्चात् अनुमिति ज्ञानकी उत्पत्ति मानी है. उनमें परामर्श ज्ञानको अस्वीकार करता हुआ मीमांसक कहताहै.

ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञानं विनाऽपि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं ततो धूमो वह्निव्याप्य इति स्मरणं भवति, तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनात्, व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सर्वत्र न कारणं किंतु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वमावश्यकत्वात्, विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति चेत्। न।

शंका—जिस स्थलमें "पर्वतो धूमवान्" इत्याकारक प्रत्यक्ष हुआ है तथा उसके पीछे "धूमो वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयः" इत्याकारक जहां स्मरण हुआ है वहां इन ज्ञानद्वयसे भी अनुमितिदेखनेमें आतीहै; इसलिये "वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानको अनुमितित्वावच्छिन्न यावत् अनुमितिके प्रति कारण नहीं कहसकते, किन्तु व्याप्यतावच्छेदक 'धूमत्व' प्रकारक जो "पर्वतो धूमवान्" इत्याका-

रक पक्षधर्मताज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन कारणता उभयवादी सिद्ध नियतपूर्ववृत्ति होनेसे अवश्य माननेयोग्य है. ऐसे स्थलमें "वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि तृतीयज्ञानकी कल्पना करनी उपस्थिति कृत गौरवभी है.-इति ।

व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वम् । किंच धूमवान् पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात् ।

समाधान-" अयमालोको धूमो वा " इत्याकारक सन्देह स्थलमें व्याप्यतावच्छेदक प्रकार 'धूमत्व' प्रकारक निर्णय न होनेसेभी "वन्ह्यभाववदवृत्तिमानयमालोको धूमो वा" इत्याकारक ज्ञानसे अनुमिति उत्पन्न होती है इसलिये व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक पक्षधर्मताज्ञानको वहां व्यभिचारी होनेसे हरएक स्थलमें कारण नहीं मानसकते, किन्तु 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारकत्व' की अपेक्षासे व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणता माननेमें अवच्छेदक उपस्थिति अभावप्रयुक्त लाघव है.मीमांसक-आपने अवच्छेदकका लाघव दिखलाया परन्तु पूर्वोक्त ज्ञानद्वयसे अनुमिति मानना मध्यमें परामर्शात्मक ज्ञानको न स्वीकार करना तो हमारे मतमें परमलाघव है. नैयायिक-किञ्च व्याप्यतावच्छेदकादि अनवगाहि "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानसे अनुमिति होनीचाहिये;क्योंकि आपके कथनानुकूल यह ज्ञानभी व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञानरूपही है.

न चगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यम् । चैत्रस्य व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति ।

मीमांसक-अनुमितिज्ञानके अव्यवहित पूर्व वर्तमान कालमें नेत्रादि इन्द्रियोंसे ज्ञात हुए जो व्याप्यतावच्छेदकादि तादृश व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञानत्वेन हेतुता है इसलिये कालान्तरीय तादृश ज्ञानको लेकर दोष नहीं है. नैयायिक-तथापि महानसादिकोंमें चैत्रके व्याप्ति ग्रहण करनेसे और उसके भाई मैत्रको "पर्वतो धूमवान्" इत्याकारक व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान होनेसे "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमिति होनी चाहिये.

यदि तु तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते । तदाऽनन्तकार्यकारणभावः ।

मीमांसक-दूसरे पुरुषके व्याप्तिज्ञानसे तथा दूसरे पुरुषके पक्षधर्मताज्ञानसे दूसरेको अनुमिति नहीं होय सकती इसलिये जिस पुरुषको व्याप्तिज्ञान हुआहै तथा जिस पुरुषको व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान हुआहै वह ज्ञान उसी पुरुषके अनुमितिज्ञानमें हेतु होसकताहै. नैयायिक-ऐसा कहनेसे आपको प्रतिपुरुषभेदसे अनन्त कार्यकारणभावकी कल्पना करनेमें महागौरव होगा.

मन्मते तु समवायेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायेनानुमितिं जनयतीति नानन्तकार्यकारणभावः ।

मीमांसक-प्रतिपुरुषभेदसे कार्यकारणभेदकी कल्पना तो आपकेभी तुल्यही है. नैयायिक-मेरे मतमें तो समवायसम्बन्धसे व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान जहां होय वहां समवायसम्बन्धसे अनुमितिज्ञानको उत्पन्न करता है. इसलिये प्रतिपुरुषभेदसे अनन्त कार्य्यकारणभावरूप दोष मेरे मतमें नहीं है.

यदि तु व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते, तदा कार्यकारणभावद्वयम्, ।

मीमांसक-हमारे मतमें "वह्निव्याप्यः" इत्याकारक व्याप्तिप्रकारक ज्ञानको (स्वतंत्र)जुदा कारणता है और "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक पक्षधर्मता ज्ञानको जुदा कारणता है; ऐसा कहनेसे ततत्तत्पुरुषीयत्वके निवेशकरनेकाभी कुछ काम नहीं क्योंकि मैत्रआत्मामेंअनुमितिज्ञानके स्वतंत्र हेतुभूत व्याप्तिज्ञानका अभाव होनेसे चैत्रके व्याप्तिज्ञानकालमें उस व्याप्तिज्ञानसे शून्य मैत्रको अनुमित्यापत्ति होही नहीं सकती;इसलिये गौरवभी नहींहै.नैयायिक-ऐसा माननेसेभी व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणता है या पक्षधर्मताविषयक व्याप्तिप्रकारक ज्ञानत्वेन कारणता है ? इस प्रकार विशेष्य विशेषणभावके विपर्य्यास करनेसे कार्य्यकारणभावद्वय सिद्ध होगा.

वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वतः, इति ज्ञानादप्यनुमितिः स्यादिति । इत्थं च यत्र ज्ञानद्वयं तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति ।

मीमांसक-इस प्रकारका कार्य्यकारणभावद्वय तो विनिगमनाविरहसे आपकोभी माननाही होगा. नैयायिक-यह कार्य्यकारणभावद्वय तो हमभी मानतेहैं; परन्तु

आपके मतमें "वह्निव्याप्यो धूमः" तथा "आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानद्वयसेभी अनुमितिज्ञान होना चाहिये; क्योंकि आपकी पूर्व कही रीतिसे व्याप्तिप्र कारक ज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान कारणरूपेण विद्यमान है; परन्तु ऐसे स्थलमें अनुमितिका होना अनुभवसिद्ध नहीं. मीमांसक-आपके मतमेंभी पूर्वोक्त ज्ञानद्वयसे अनुमिति क्यों नहीं होती ? नैयायिक-हमारे मतमें तो व्याप्तिप्रकारतानिरूपित हेतुप्रकारता निरूपित जो पक्षनिष्ठ विशेष्यताशालि ज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन ज्ञानको अनुमितिज्ञानके प्रति हेतुता विवक्षित है, इसलिये "वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानसे अथवा "धूमो वह्निव्याप्यः, धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानसे अनुमितिकी आपत्ति नहीं होसकती; क्योंकि इन दोनों स्थलोंमें व्याप्तिप्रकारतानिरूपित धूमनिष्ठ विशेष्यताका पर्वतविशेष्यतानिरूपित प्रकारतारूपेण भान नहीं है; इसलिये जिस स्थलमें ज्ञानद्वय है वहांभी परामर्शात्मक विशिष्ट ज्ञानकी कल्पना अवश्य करनी चाहिये. फलमुखगौरव दोषके वास्ते नहीं होता अर्थात् कार्यकारणभावग्रहरूप फलके (मुख) अधीन होनेवाला गौरवज्ञान दोषकर नहीं है.

व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रयः, तत्र का व्याप्तिरित्यत आह, व्याप्तिरिति-

भाषा-व्याप्य पक्ष उभयवैशिष्ट्यावगाहि परामर्शात्मक ज्ञान स्वसिद्धिमें व्याप्ति ज्ञानकी अपेक्षा करता है, इसलिये 'प्रकृतसिद्धार्थचिन्तन' रूपउपोद्घातसङ्गतिसे परामर्शके अनन्तर व्याप्तिस्वरूप निरूपणार्थ टीकाकार कहते हैं कि-'व्याप्य' नाम व्याप्तिके आश्रयका है परन्तु व्याप्य घटकीभूत व्याप्ति कैसी है, इसपर मूलकार कहता है-

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥ ६८ ॥

भाषा-साध्यवालेसे भिन्नाधिकरणमें हेतुका सम्बन्ध न होनाही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतुका साध्यवद् भेदाधिकरणमें नियमसे वृत्तित्वाभाव होना चाहिये ॥ ६८ ॥

साध्यवदन्येति । वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः साध्यवान्महानसादिस्तदन्यो जलह्रदादिस्तदवृत्तित्वं धूमस्येति लक्षणसमन्वयः । १ ।

भाषा-"वह्निमान् धूमात्" इत्यादिस्थलमें साध्य वह्नि है, साध्यवाले महानसादि हैं; साध्यवालोंसे भिन्नाधिकरण जल ह्रदआदि हैं; उनसे अवृत्तित्वधूमरूप हेतुमें है इसलिये यह व्याप्तिका लक्षण संगत है १ ।

धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन्नयःपिण्डादौ वह्नेः सत्वान्नातिव्याप्तिः । २ ।

भाषा—और 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि असद्धेतुओंमें यह लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्तभी नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें साध्य धूम है, साध्यवाले महानसादि हैं, उनसे भिन्नाधिकरण तप्तलोहपिण्डादिकोंमें वह्निरूप हेतुको वृत्तित्वही है किंतु अवृत्तित्व नहीं इसलिये दोष नहीं २ ।

अत्र येन सम्बन्धेन साध्यं तेनैव सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः । अन्यथा समवायसम्बन्धेन वह्निमान् वह्नेरवयवस्तदन्यो महानसादिस्तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात् । ३ ।

भाषा—यहां लक्षणमें जिस सम्बन्धसे साध्यकी विवक्षा की होय उसी सम्बन्धसे साध्यवालेकोभी जानना उचित है. (अन्यथा) जिस किसी एक सम्बन्धसे साध्यवत्त्वकी विवक्षा करेंगे तो पूर्वोक्त लक्षणकी 'वह्निमान् धूमात्' इसी स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि समवायसम्बन्धसे वह्निरूप साध्यवाले वह्निके अवयव हैं; उन अवयवोंसे भिन्नाधिकरण पर्वत महानसादि हैं;उन अधिकरणोंमें धूमरूप हेतुको वृत्तित्वही है, वृत्तित्वाभाव नहीं याते लक्षणमें अव्याप्तिरूप दोष हुआ परन्तु साध्य साध्यवान् दोनोंमें यदि एकही संयोगसम्बन्धकी विवक्षा होय तो पूर्वोक्त रीतिसे लक्षण सङ्गत है. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि (साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न) जो साध्यवत् तादृश (साध्यवत् प्रतियोगिक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ३ ।

साध्यवदन्यश्च साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः । तेन यत्किञ्चिद्वह्निमान् महानसादिस्तद्भिन्ने पर्वतादौ धूमस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः । ४ ।

भाषा—साध्यवदन्य शब्दसेभी यावत्साध्यवालोंमें रहनेवाला जो 'साध्यवत्त्व' रूप धर्म तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवाले जानने चाहिये. (अन्यथा) यदि साध्यवत्त्वधर्मसे यावत् साध्याधिकरणका ग्रहण नहीं करें तो "वह्निमान् धूमात्" इसी स्थलमें फिर अव्याप्ति होगी; क्योंकि 'यत् किञ्चित्' शब्दसे कोई एक वह्निका अधिकरण पर्वत या महानसादि हैं; उनसे भिन्न दूसरे पर्वत गोष्ठादि हैं; उनमें धूम-

१ यदि संस्कृतमात्र लक्षण याद करना होय तो केवल इन कोष्ठोंके भीतरके हिस्सोंको आपसमें मिलाय कर बांचो.

रूप हेतुको वृत्तित्वही है; वृत्तित्वाभाव नहीं;याते अव्याप्तिरूप दोष हुआ और'साध्यवत्त्व ' रूप धर्मावच्छिन्नके देनेसे साध्यवाले यावत् अधिकरणोंका ग्रहण होसकता है उनसे भिन्न जल ह्रदादिही मिलेंगे उनमें वृत्तित्वाभाव धूमरूप हेतुमेंभी सिद्ध है, याते अव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न) जो साध्यवत् तादृश (साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक) जो भेद, तादृश (भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ४ ।

येन सम्बन्धेन हेतुस्तेनैव सम्बन्धेन साध्यवदन्यवृत्तित्वं बोध्यम्। तेन साध्यवदन्यस्मिन् धूमावयवे धूमस्य समवायसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि न क्षतिः ।५ ।

भाषा–प्रकृतमें जिस सम्बन्धसे हेतुकी विवक्षा करी होय,साध्यवद् भिन्नाधिकरणमें वृत्तित्वभी उस हेतुको उसी सम्बन्धसे विचारणा उचित है; अन्यथा फिर 'वह्निमान् धूमात्' इसी स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि वृत्तितामें हेतुतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश न करनेसे साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाधिकरण धूमरूप हेतुके अवयवभी होसकते हैं; उनमें धूमरूप हेतु समवायसम्बन्धसे वृत्तिही है. अवृत्ति नहीं याते अव्याप्तिरूप दोष हुआ; और यदि साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तितामें हेतुतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश करें तो प्रकृतमें हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग है परन्तु संयोगसम्बन्धसे धूमरूप हेतु न अपने अवयवोंमें रहताहै और न जलह्रदादिमें रहताहै; किंतु स्वसाध्यवह्निके साथ पर्वतादिहीमें रहता है. इसलिये अव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरण निरूपिता) जो (हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है । ५।

साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः;तेन धूमवान् वह्नेरित्यत्र साध्यवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावेऽपिनातिव्याप्तिः । ६ ।

भाषा–यहां हेतुनिष्ठ साध्यवद् भेदाधिकरणसे अवृत्तिताभी साध्यवद् भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नाधिकरणसे अपेक्षित है.अन्यथा साध्यवद् भेदाधिकरण यावत् नहीं लेंगे तो ' धूमवान् वन्हेः' इसी स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न अधिकरणका ग्रहण न करनेसे साध्यवत् पर्वतादिसे भिन्न जलह्रद है.उसमें वन्हिरूप हेतु

अवृत्तिभी है अलक्षअसद्धेतुमें लक्षण संगत हुआ याते अतिव्याप्तिरूप दोष हुआ और यदि भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नाधिकरणका ग्रहण करें तो साध्यवद् भेदाधिकरण जैसे जलहृद है वैसे तप्त लोहपिण्डभी होसकताहै. उसमें वन्हिरूप हेतुको वृत्तित्व ही है, वृत्तित्वाभाव नहीं; याते अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं.एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न भेदाधिकरणनिरूपित)जो(हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तिताकाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ॥ ६ ॥

अत्र यद्यपि द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तायाश्चैक्यात् साध्यवदन्यस्मिन् गुणादाववृत्तित्वं नास्ति । तथापि हेतुतावच्छेदकरूपेणावृत्तित्वं वाच्यम् । हेतुतावच्छेदकं तादृशवृत्तितानवच्छेदकमिति फलितोऽर्थः ॥ ६८ ॥

भाषा-यहां साध्यवद् भेदाधिकरणमें हेतुको हेतुतावच्छेदकरूपसे अवृत्तित्व होना चाहिये. तात्पर्य यह कि, हेतुतावच्छेदक धर्म्म तादृश साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक होना चाहिये.यदि ऐसा नहीं कहें तो"द्रव्यंद्रव्यत्ववत् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि 'विशिष्ट पदार्थ शुद्धसे जुदा नहीं होता' यह युक्तियुक्त अनुभव है .एवं गुणकर्मभेदविशिष्ट सत्ता जो कि केवल द्रव्यमें ही रहती है और शुद्धसत्ता जो कि द्रव्य गुण कर्म्म तीनोंमें रहती है उन दोनोंका परस्पर भेदभी नहीं कहसकते.ऐसे साध्यवत् जो द्रव्य तत्प्रतियोगिक भेदाधिकरण गुणकर्मादि उनमें वृत्तिताही है. विशिष्टसत्ताको वृत्तित्वाभाव नहीं याते अव्याप्ति हुई; और यदि हेतुतावच्छेदक धर्म्मको साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक मानें तो अव्याप्तिरूप दोष नहीं क्योंकि प्रकृतमें हेतुतावच्छेदकधर्म 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व' है. यह धर्म साध्यवद् भेदाधि, करणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक इस रीतिसे है कि यद्यपि गुणकर्मभेदविशिष्ट सत्ता तथा शुद्धसत्ताको एक होनेसे हेतु अधिकरणगुणकर्मभी हो सकतेहैं तथापि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ता गुणकर्ममें नहीं रहती है किन्तु द्रव्यहीमें रहती है. ऐसे साध्यवद् भेदाधिकरण गुणकर्मादिकोंमें वृत्तिता गुणत्व कर्मत्वादि धर्मोंको है, वृत्तिताके अवच्छेदक गुणत्वत्वादि धर्म हैं. अनवच्छेदक गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वरूप धर्म है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितका)

जो भेद तादृश (भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न भेदाधिकरणनिरूपित) जो (हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तितानवच्छेदक जो) (हेतुतावच्छेदकधर्म्म) तादृश (धर्म्मवत्त्व) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ॥ ६८ ॥

ननु केवलान्वयिनि ज्ञेयत्वादौ साध्ये साध्यवदन्यस्याप्रसिद्धत्वादव्याप्तिः, किंच सत्तावान् जातेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह, अथ वेति–

शंका–पूर्वोक्त समग्रलक्षणकी 'वाच्यं वाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात्' इत्यादि केवलान्वयि हेतुक स्थलमें अव्याप्ति होगी क्योंकि'वाच्य' नाम "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः" इत्याकारक ईश्वरीय इच्छाविषयभूत पदार्थोंका है और 'ज्ञेय' नाम ईश्वरके ज्ञानके विषय होनेवाले पदार्थोंका है. ईश्वरीय ज्ञानकी तथा इच्छाकी विषयता पदार्थमात्रमें रहतीहै; इसीसे वाच्य तथा ज्ञेय पदार्थमात्रको कह सकते हैं और उनमें रहनेवाले वाच्यत्व तथा ज्ञेयत्व आदिधर्मभी पदार्थम में रहसकते हैं इसरीतिसे यावत् पदार्थको वाच्यत्वधर्मवाला होनेसे वाच्यत्ववद् अधिकरण कोई पदार्थ नहीं; भेदाधिकरणके अप्रसिद्ध होनेसे उसमें वृत्तिता अप्रसिद्धा.वृत्तिताके अप्रसिद्ध होनेसे हेतुनिष्ठअवृत्तित्वभी अप्रसिद्ध हुआ इसरीतिसे लक्षणकी अव्याप्ति हुई और यहां यदि ऐसा कहें कि केवलान्वयि ज्ञानकालमें साध्यसंशयरूप पक्षताके अभाव होनेसे यहां अनुमितिकी योग्यताही नहीं और यदि केवलान्वयिक ज्ञान नहीं हुआ तो भ्रमात्मक व्याप्तिज्ञानसे अनुमिति होही सकती है.इसलिये 'वाच्यंवाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात्' इस स्थलमें लक्षणकी अव्याप्ति कहनी योग्य नहीं तो 'सत्तावान् जातेः' इस स्थलमें पूर्वोक्त लक्षणकी अव्याप्ति पूर्णरूपसे है क्योंकि यहां साध्यवाले द्रव्य, गुण, कर्म्म, तीन हैं; और साध्यवद् भेदाधिकरण सामान्यविशेषादि हैं उनमें हेतुतावच्छेदक समवायसम्बन्धसे यदि किसीको वृत्तित्व होवे तो वृत्तित्वाभाव जातिरूप हेतुपर आवे. परन्तु उनमें समवायसम्बन्धावच्छिन्नावृत्तिता अप्रसिद्ध है; इसलिये पूर्वोक्त लक्षणकी उस स्थलमें अव्याप्ति है समाधान–मूलकार 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थसे एतद् लक्षसाधारण अनुगत लक्षणान्तर करतेहैं–

अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना ॥
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ॥६९॥

भाषा-हेतुमन्निष्ठ जो (विरह) अभाव उस अभावका अप्रतियोगि जो साध्य तादृश साध्यके साथ हेतुका एकाधिकरणत्वही हेतुके सिरपर वह्निनिरूपित व्याप्ति है ॥ ६९ ॥

हेतुमति निष्ठा वृत्तिर्यस्य स तथा विरहोऽभावस्तथा च हेत्वधिकरणवृत्तिर्योऽभावस्तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यत इत्यर्थः । १ ।

भाषा-अर्थात् हेतुवाले पक्षमें (निष्ठा) वृत्ति होवे जिसकी एवंभूत जो अभाव ऐसा अर्थ करनेसे हेत्वधिकरणमें वर्तनेवाला जो अभाव उस अभावका अप्रतियोगि जो साध्य उस साध्यके साथ हेतुका जो एकाधिकरणवृत्तित्व, वही हेतुके शिरपर व्याप्ति है. इस लक्षणकी पूर्वोक्त "सत्तावान् जातेः" इस स्थलमें अव्याप्ति नहीं है; क्योंकि यहां जातिरूप हेतुके अधिकरण द्रव्य गुण कर्म तीन हैं; उनमें उन पदार्थोंहीका अभाव रहेगा जो पदार्थ उनमें नहीं रहेंगे ऐसे घटपटादि हैं और जो पदार्थ उनमें रहेगा उसका अभाव नहीं कहसकते ऐसा पदार्थ सत्ता है; जिनका अभाव रहेगा वही पदार्थ उस अभावके प्रतियोगी कहे जावेंगे. हेतुअधिकरणमें घटपटादिका अभाव है; इसलिये घटपटादि अभावके प्रतियोगि हैं सत्ताका अभाव नहीं; इसलिये सत्ता उस अभावका अप्रतियोगि है, वही साध्यभी है. एतादृश अप्रतियोगि साध्यके साथ जातिरूप हेतुका एकाधिकरणवृत्तित्व है याते लक्षण संगत है. इसी रीतिसे "वन्हिमान् धूमात्"इत्यादि पूर्वोक्त सब स्थलोंमें लक्षणसमन्वय जानलेना१।

अत्र यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्यादेरस्तीत्यव्याप्तिः । २ ।

शंका-यह लक्षणभी "वन्हिमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्त है क्योंकि हेतु अधिकरण पर्वतादिमें महानसीय वन्हिका अभाव तथा महानसमें चत्वरीयवन्हिका अभाव तथा चत्वरमें गोष्ठीय वन्हिका अभाव; एवं गोष्ठमें पर्वतीय वन्हिका अभाव पासकतेहैं; उस अभावका अप्रतियोगि वन्हिरूप साध्य नहीं हुआ किन्तु प्रतियोगिही हुआ है. इसलिये इस लक्षणकी यहां अव्याप्ति है २ ।

न च समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यम् । ३ ।

सिद्धान्ती-हमारे इस लक्षणका भाव यह है कि 'तद्धेत्वधिकरणवृत्ति' जो अत्यान्ताभाव उस 'अत्यन्ताभाव' का 'अप्रतियोगि' जो 'तत् साध्य' तादृश साध्यके साथ 'सामानाधिकरण्य' रूप व्याप्ति है अर्थात् पर्वतीय धूमके साथ पर्वतीय वह्निकी

व्याप्ति है एवं महानसीय धूमके साथ महानसीय वह्निकी व्याप्ति है. एवं हेतु अधिकरण पर्वतादिमें महानसीयादि वन्हिका अभाव लेनेसेभी अभावका प्रतियोगि महानसीय वन्हि होगी. अप्रतियोगि पर्वतीयवन्हिके साथ पर्वतीय धूमका सामानाधिकरण्य है यान्ते अव्याप्तिरूप दोष नहीं.

तद्वृत्त्यादेरप्युभयाभावसत्त्वादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतेः।४।

शंका-तथापि 'वन्हिमान् धूमात्' इस स्थलमें अव्याप्तिका वारण नहीं होयसकता; क्योंकि 'एकसत्त्वेपि द्वयं नास्ति' इस प्रतीतिसे एकवस्तुसत्त्व स्थलमें वस्तुद्वयका अभाव कह सकतेहैं. जैसे घटवत्स्थलमें "घटपटौ न स्तः" यह कह सकतेहैं; वैसेही "पर्वते पर्वतीयवह्निसत्त्वेऽपि वह्निघटद्वयं नास्ति" यह कह सकते हैं. इस अभावका पर्वतीय वह्निभी प्रतियोगि है.अप्रतियोगि साध्यके न होनेसे अव्याप्तिरूप दोष तादवस्थ्य रहा. समा०-इस दोषके वारणार्थ यह कहसकते हैं कि-हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना होनी चाहिये. उभय व्यक्ति वृत्तिधर्मका नाम व्यासज्यवृत्तिधर्म है. प्रकृतमें हेत्वधिकरणमें "वह्निघटद्वयं नास्ति" इत्याकारक अभावकी प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना नहीं है; किन्तु वह्नि घट उभयमें रहनेवाला जो वह्नि घट उभयत्वरूप व्यासज्यवृत्तिधर्म तदवच्छिन्नाही है;इसलिये वह्निघट उभयका अभाव लेकर लक्षण दूषित करना उचित नहीं किंतु शुद्ध घटाभाव लेकर लक्षण संगत होसकता है.एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(हेत्वधिकरणवृत्ति) जो(व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्न प्रतियोगिताकात्यन्ताभावं) उस अभावका (अप्रतियोगि) जो (साध्य) तादृश साध्यके साथ हेतुका सामानाधिकरण्य) ही व्याप्ति है ४।

गुणवान् द्रव्यत्वादित्यदावव्याप्तिश्च । तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम्। ५।

शंका-तथापि इस लक्षणकी "घटो गुणवान् द्रव्यत्वात्"इस स्थलमें अव्याप्ति है; क्योंकि हेत्वधिकरण रक्तघटमें पीतगुणका अभाव एवं पीतघटमें श्वेतगुणका अभाव लेसकते हैं. उस अभावका प्रतियोगि गुणरूप साध्यही है. इसलिये अप्रतियोगि साध्यके साथ सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिका लक्षण यहां अव्याप्त है.समा०-तथापि 'साध्य हेत्वधिकरणवृत्त्यभावका अप्रतियोगि होना चाहिये' ऐसा अब हम नहीं कहते किन्तु "साध्यतावच्छेदकधर्म हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक होना चाहिये" ऐसा कहते हैं. एवं "गुणवान् द्रव्यत्वात्"इस स्थलमें अव्याप्तिरूप दोष नहीं

है;क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदकधर्मगुणत्व है. वह हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक इसलियेहै कि–हेत्वधिकरण घटमें "गुणत्वेन गुणोनास्ति" ऐसा अभाव नहीं कह सकते;क्योंकि घट द्रव्य है उसमें कोई न कोई गुण अवश्यही रहेगा. एवं यदि हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव नीलगुणाभाव पीतगुणाभावभी लेंगे तो अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतगुणनिष्ठा होगी. उस प्रतियोगिताके अवच्छेदक धर्म नीलगुणत्व पीतगुणत्वादि होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक शुद्धगुणत्व होगा इसीरीतिसे लक्षण संगत है.एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिता) का (अनवच्छेदक) जो (साध्यतावच्छेदक, तदवच्छिन्नसाध्य) के साथ (सामानाधिकरण्य) रूपा हेतुपर व्याप्ति है ५ ।

ननु रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वादित्यादौ साध्यतावच्छेदकारूपत्वव्याप्यजातयस्तासां च शुक्लत्वादिस्वरूपाणां नीलघटादिवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेत् । न । तत्र परम्परया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । न हि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वापि पृथिव्यामस्ति । रूपत्वव्याप्यजातिमान् नास्तीति बुद्ध्यापत्तेः ।६।

शंका–इस लक्षणकीभी 'घटो रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति होगी. क्योंकि रूपत्वव्याप्य जातिवाले नीलपीतादि गुण यहां साध्य हैं और नीलपीतादिगुणोंमें रहनेवाली नीलत्वपीतत्वादि जातियां यहां साध्यतावच्छेदक हैं. एवं हेत्वधिकरण रक्तश्वेतादि गुणयुक्त घटपटादिमें सप्तविध रूपमेंसे नीलपीतादि किसीन किसी एक रूपका अभावभी पासकतेहैं. अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतादि गुणनिष्ठा होगी और प्रतियोगिताकी अवच्छेदक नीलत्व पीतत्वादि जातियां होंगी. एवं नीलत्व पीतत्वादि जातियोंको अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकरूप धर्म न होनेसे अव्याप्ति हुई.समाधान–ऐसे स्थलोंमें हम ' स्वाश्रयसमवाय ' रूप परंपरासम्बन्धसे रूपत्वव्याप्यजातियोंमें रहनेवाले ' जातित्वधर्म ' हीको साध्यतावच्छेदक मानते हैं. ' स्व ' शब्दसे यहां रूपत्वव्याप्य जातित्वका ग्रहण है, उसका 'आश्रय' रूपत्व व्याप्य नीलत्वपीतत्वादिजातियांहैं उन जातियोंका नीलपीतादिगुणोंमें समवायहै.आगेनीलपीतादिगुण द्रव्यमें समवायसम्बन्ध से साध्य हैं. एवं रूपत्वव्याप्यजातित्वरूप धर्म'स्वाश्रयसमवाय'सम्बन्धसे नीलपीतादिगुणोंमें रहकर साध्यतावच्छेदक हो सकताहै. एवं हेत्वधिकरणद्रव्यवृत्त्यभाव

नीलत्वजातिमदभाव पीतत्वजातिमदभाव लेसकतेहैं. एतादृश अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतादिगुणोंमें रहेगी. उस प्रतियोगिताके अवच्छेदक नीलत्वपीतत्वादि धर्म होंगे यही धर्म रूपत्वकी व्याप्यजातियांहैं.इन सबमें रहनेवाला'रूपत्वव्याप्यजातित्वरूप-धर्म ' साध्यतावच्छेदक है. यही धर्म अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदकभी है क्योंकि सप्तविधरूप किसीएक पृथिवीमें एक जगह कहीं नहीं रहता; इसलिये रूपत्व व्याप्य जातिमदभाव तो हेत्वधिकरण पृथिवीमें कह सकते हैं; परन्तु रूपत्वव्याप्य जातित्वावच्छिन्नवदभाव किसी पृथिवीमें नहीं कहसकते. तात्पर्य यह कि–ऐसा अभाव नीरूप पृथिवीमें रहसकता है. परन्तु नीरूप पृथिवी संसारमें दुर्लभ है कोई न कोई रूप पृथिवीमें रहताही है यादि नीरूप पृथिवीभी कोई होवे तो "रूपत्वव्या-प्यजातिमान् नास्ति" इत्याकारक बुद्धि किसी एक घटपटादिमें होनी चाहिये; परन्तु होती तो नहीं इस रीतिसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छे-दक तथा परंपरासम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक 'रूपत्वव्याप्यजातित्व' रूप धर्म है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं ६ ।

एवं दण्डयादौ साध्ये परम्परासम्बद्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यता-वच्छेदकं, तच्च प्रतियोगितानवच्छेदकमिति । साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात् तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्र-तियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि वदन्ति ७ ।

भाषा–एवं " मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगात् " इत्यादि स्थलोंमेंभी परंपरास-म्बन्धका आश्रयण करनेसे अव्याप्तिरूप दोषवारण जानलेना. यहां यदि परंपरा सम्बन्ध ना स्वीकार करें तो दण्डिसंयोगरूप हेतुका अधिकरण अनुयोगितासम्बन्धसे मठ है. उस मठरूप हेत्वधिकरणमें "वृद्धदण्डी नास्ति, युवादण्डी नास्ति, गौर-दण्डी नास्ति, श्यामदण्डी नास्ति" इत्याकारक तत्तत्दण्डयभाव पासकतेहैं; उस अभावकी प्रतियोगिता तत्तत्दण्डीनिष्ठ होगी और प्रतियोगिताका अवच्छेदक धर्म दण्ड होगा वही तो साध्यतावच्छेदक था इसलिये अव्याप्ति हुई; परन्तु यदि'स्वस-मवायिसंयोग ' रूप परम्परासम्बन्धसे 'दण्डत्व' रूप धर्मको साध्यतावच्छेदक मानें तो दोष नहीं. यहां 'स्व' शब्दसे दण्डत्वधर्मका ग्रहण है; उसका समवायि दण्ड है; उस दण्डका पुरुषमें संयोग है. एतादृश सम्बन्धसे दण्डत्वधर्म साध्यतावच्छेदक हो सकता है और अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदकभी है; यान्ते पूर्वोक्तरीतिसे

अव्याप्तिरूप दोष नहीं. यहां कईएक विद्वानोंकी यहभी सम्मति है कि-साध्यसाधनके भेदसे लक्षणभिन्न२ होसकते हैं. इसलिये परम्परासम्बन्धसे अवच्छेदक माननेका कुछ काम नहीं किन्तु ऐसे स्थलोंके लिये लक्षणान्तर करना उचित है. एवं ऐसे स्थलोंमें ऐसा लक्षण करना कि-(हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं तदवच्छिन्नावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः)"अर्थात् हेत्वधिकरणवृत्ति जो अभाव तादृश भावनिरूपितजो प्रतियोगितातादृश प्रतियोगिताका जो अवच्छेदक उस अवच्छेदकमें रहनेवाली जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकताका अनवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदकताका अवच्छेदकधर्म तद्धर्मावच्छिन्नावच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति हेतुपर है." 'रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वात्, दण्डिमान् दण्डसंयोगात्' इत्यादिस्थलोंमें यह लक्षण सार्थक है. यहां पूर्वोक्तरीतिसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगितारूपत्वव्याप्यजातिमत् तत्तत् नीलपीतादिरूपपर और तत्तत् दण्डिपर रहेगी, उस प्रतियोगिताकि अवच्छेदक रूपत्वव्याप्य नीलत्वपीतत्वादिजातियां और दण्ड होगा और अभावीयप्रतियोगिताकी अवच्छेदकताका अनवच्छेदक तथा साध्यतावच्छेदकताका अवच्छेदक ' रूपत्वव्याप्यजातित्व ' तथा ' दण्डत्व ' होंगे; सदवच्छिन्न ' रूपत्वव्याप्यजातियां ' तथा ' दण्ड ' तदवच्छिन्न ' नीलपीतादिगुण ' तथा ' दण्डी ' यही दोनों यथाक्रम समवायसे तथा संयोगसे साध्य हैं. एतादृश साध्योंके साथ पृथिवीत्वरूप हेतुका तथा दण्डसंयोगरूप हेतुका सामानाधिकरण्यभी है; याते व्याप्तिका लक्षण संगत है ७ ।

हेत्वधिकरणं च हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यम् । तेन द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ शुद्धसत्त्वाधिकरणगुणादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्त्वस्य नाव्याप्तिः । ८ ।

भाषा-" हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः " इत्याकारक लक्षणमें हेत्वधिकरणभी हेतुतावच्छेदक जो धर्म तद्धर्मविशिष्ट हेतुका अधिकरण जानना, अन्यथा " द्रव्यं द्रव्यत्ववत् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि विशिष्टवस्तु शुद्धसे जुदा नहीं होती. इस अनुभवसे विशिष्टसत्ता शुद्धसत्ताको एकरूप होनेसे उसके अधिकरण गुणकर्मभी हुए. तद्वृत्तिअभाव " द्रव्यत्वं नास्ति " इत्याकारक अभाव एतादृश अभावीय प्रतियोगिता द्रव्यत्वरूप साध्यानिष्ठ प्रतियोगिता एतादृश प्रतियोगिताका अवच्छेदकही ' द्रव्यत्वत्व' रूप साध्यतावच्छेदकधर्म हुआ है. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक नहीं हुआ. एवं अव्याप्ति हुई, परन्तु यदि हेत्वधिकरणता

हेतुतावच्छेदक विशिष्टाधिकरणता लेतेहैं तो अव्याप्तिरूप दोष नहीं; क्योंकि यद्यपि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता शुद्धसत्तासे जुदी नहीं तथापि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ता भिन्न है,उसका अधिकरण केवल द्रव्य है.उसमें द्रव्यत्वरूप साध्यका अभाव नहीं पासकते किन्तु घटादिका अभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है ८।

एवं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणं बोध्यम्। तेन समवायेन धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाव्याप्तिः । ९ ।

भाषा–एवं प्रकृतलक्षणमें हेतुका अधिकरणभी हेतुतावच्छेदक सम्बन्धसे जानना योग्य है. अन्यथा " वह्निमान् धूमात् " इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि समवायसम्बन्धसे धूमरूप हेतुके अधिकरण धूमके अवयवभी हैं;उनमें वर्तनेवाले अभावका प्रतियोगी वन्हिरूप साध्यभी है, प्रतियोगितावच्छेदक वन्हित्वधर्म होगा.एवं'वन्हित्व' धर्मको अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक न होनेसे अव्याप्ति हुई परन्तु यदि हेतुकी हेतुतावच्छेदक सम्बधसे स्वाधिकरणमें विवक्षा करें तो हेत्वधिकरण पर्वतही होगा; क्योंकि हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध यहां संयोग है और संयोगेन धूम पर्वतहीमें रहता है, अपने अवयवोंमें नहीं रहता. एवं पर्वतमें वह्निका अभाव लक्षणघटक नहीं होसकता, क्योंकि पर्वतमें वह्निभी संयोगेन रहता है; किन्तु घटाद्यभाव लक्षणघटक होगा. एवं अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक 'घटत्वादि' धर्म होंगे; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक ' वह्नित्वरूप ' धर्म होगा तदवच्छिन्न वह्निरूप साध्यके साथ धूमरूप हेतुका सामानाधिकरण्यही व्याप्ति है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः) ९ ।

अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः। तेन कपिसंयोग्येतद्वृक्षत्वादित्यत्र मूलावच्छेदेनैतद्वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य नाव्याप्तिः ।

भाषा–इस प्रकृत लक्षणघटित जो हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव है वह अभाव प्रतियोगि व्यधिकरण होना चाहिये अर्थात् अभाव तथा अभावका प्रतियोगि दोनों एकाधिकरणमें नहीं रहने चाहिये. अन्यथा "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थलमें

अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां हेतुतावच्छेदकीभूत स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न एतद्वृक्षत्व-त्वावच्छिन्न एतद्वृक्षत्वका अधिकरण 'एतद्वृक्ष' है. एतादृश हेत्वधिकरणमें वर्तमान जो अभाव "मूलावच्छेदेन कपिसंयोगो नास्ति" इत्याकारकाभाव एतादृश अभावीय प्रतियोगिताका अवच्छेदकही 'कपिसंयोगत्व' रूप साध्यतावच्छेदक धर्महै, अनवच्छेदक नहींहै, यातें अव्याप्ति हुई; परन्तु यदि हेत्वधिकरणवृत्त्यभावमें प्रतियोगिव्यधिकरणकी विवक्षा करें तो दोष नहीं है; क्योंकि ऐसा कहनेसे कपिसंयोगरूप साध्याभाव प्रतियोगिव्यधिकरण न होनेसे लक्षणघटक नहीं है, किन्तु घटाद्यभावप्रतियोगिव्यधिकरण होनेसे लक्षणघटक है. एवं अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्म हुआ; यातें अव्याप्तिरूप दोष नहीं है.

न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं तदा तथैवाव्याप्तिः। प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्यानधिकरणे गुणादौ वर्त्तते योऽभावस्तस्यैव वृक्षेऽपि मूलावच्छेदेन सत्त्वात्। यदि तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं तदा संयोगी सत्त्वादित्यादावतिव्याप्तिः। सत्त्वाधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम्।

शंका—आपने कहा कि—'लक्षणघटक अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण होना चाहिये' सो इस कथनका क्या भाव है? यदि ऐसा कहो कि—लक्षणघटक अभाव सर्वदा 'अपने प्रतियोगिके अधिकरणसे भिन्नाधिकरणमें रहना चाहिये' तब तो "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इसी स्थलमें फिर अव्याप्तिरूप दोष तादवस्थ्य है; क्योंकि यहांभी हम 'प्रतियोगि' शब्दसे कपिसंयोगरूप साध्यही ग्रहण करसकते हैं. उसके अधिकरण वृक्षादि हैं; अनधिकरण गुणकर्मादि हैं; उन गुणकर्मादिकोंमें वर्तनेवाला जो कपिसंयोगाभाव वही मूलावच्छेदेन वृक्षमेंभी रह सकता है; क्योंकि बहुतविद्वान् लोग अधिकरणभेदसे अभावभेदका अंगीकार नहीं करते अर्थात् अनेकअधिकरणोंमें एकही अभाव रहसकता है. एवं गुणकर्मवृत्ति तथा मूलावच्छेदेन वृक्षवृत्ति कपिसंयोगाभावका प्रतियोगि कपिसंयोग है. अभावीय प्रतियोगिताका अवच्छेदक कपिसंयोगत्व होगा. एवं अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्मके न होनेसे अव्याप्ति हुई और यदि एतद्दोषवारणार्थ 'प्रतियोगिव्यधिकरण' इस अंशका 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' अर्थ कहो अर्थात् हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव स्वप्रति-

योग्यधिकरणमें रहनेवाला नहीं होना चाहिये. यदि ऐसा कहो तो यद्यपि 'वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें तो दोष नहीं; क्योंकि संयोगमात्रका यह स्वभाव है कि–यह वस्तुके किञ्चिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न होताहै. इसलिये दर्शनकारोंने इसको 'अव्याप्यवृत्ति' माना है. जिस वस्तुकी एकही कालमें स्वाधिकरणमें भावाभाव उभयावगाहनी प्रतीति होजावे वह वस्तु नियमसे अव्याप्यवृत्ति होती है; प्रकृतमें ऐसा संयोग है. एवं कपिसंयोगभी अव्याप्यवृत्ति होनेसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावका प्रतियोगि नहीं होसकता, किन्तु घटाद्यभावही लक्षणघटक होगा. अभावीय प्रतियोगिताके अवच्छेदक घटत्व पटत्वादि धर्म होंगे; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्म होगा. एवं पूर्वोक्तस्थलमें तो इसरीतिसे दोष नहीं; परन्तु तथापि 'प्रतियोगिव्यधिकरण' इस अंशका 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' ऐसा अर्थ करनेसे "घटः संयोगवान् सत्वात्" इस स्थलमें अतिव्याप्तिरूप दोष होगा; क्योंकि यहां व्यभिचारस्थल हेत्वधिकरण गुणकर्म हैं. उनमें यद्यपि संयोगरूपसाध्यका अभावभी पासकतेहैं तथापि संयोगरूप साध्यका अभाव पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणघटक नहीं होसकता; क्योंकि संयोगरूप साध्यका अभाव पूर्वोक्तरीतिसे स्वप्रतियोग्यधिकरणावृत्ति नहीं है किन्तु अव्याप्यवृत्ति होनेसे स्वप्रतियोग्यधिकरणवृत्तिही है; इसलिये यह अभाव लक्षणघटक नहीं होसकता. एवं यहांभी हेत्वधिकरणवृत्ति घटाद्यभाव लेनेसे अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक संयोगत्वरूप धर्म होगा. एवं अलक्ष्यस्थलमें लक्षण संगत होनेसे अतिव्याप्ति हुई.

हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात् । स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः । १० ।

समाधान–हेत्वधिकरणवृत्तिअभावके विशेषणीभूत 'प्रतियोगिव्यधिकरण' अंशका अर्थ हम पूर्वोक्त रीतिसे नहीं करते; किन्तु 'प्रतियोगिव्यधिकरण' कथनसे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व विशिष्ट अभावकी हेत्वधिकरणमें विवक्षा करते हैं अर्थात् इसका भाव यह है कि–हेत्वधिकरण वृत्त्यभाव अपने प्रतियोगिके अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणमें वर्तनेवाला होना चाहिये. ऐसा अर्थ करनेसे पूर्वोक्त उभयस्थलमें दोष नहीं क्योंकि "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" यहां अपने प्रतियोगिका अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण वृत्त्यभाव कपिसंयोगाभाव तो होही नहीं सकता. यद्यपि कपिसंयोगाभावभी मूलावच्छेदेन वृक्षमें रहताहै तथापि वह अभाव अपने प्रतियोगिके

अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणमें नहीं है किन्तु अपने प्रतियोगिके अधिकरणीभूत हेत्वधिकरणहीमें रहताहै. इसलिये कपिसंयोगाभावको लक्षणघटक न होनेसे घटाद्यभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है. एवं " घटः संयोगवान् सत्त्वात् " इस स्थलमें सत्तारूप हेत्वधिकरण गुणकर्ममें संयोगरूप साध्यका अभाव अपने प्रतियोगिके अनाधिकरणीभूत हेत्वधिकरणमें रहता है; इसलिये लक्षणघटक है. एवं तादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकही साध्यतावच्छेदक संयोगत्वरूप धर्म होगा. अनवच्छेदक न होनेसे लक्षण संगत नहीं है याते अतिव्याप्तिरूप दोषभी नहीं है. एवं लक्षणस्वरूप ऐसा हुआ कि (स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूत) जो(हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेकावच्छिन्नहेत्वधिकरण) तादृशहेत्वधिकरण(वृत्ति)जो अभाव तादृश (अभावयिप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः) १० ।

प्रतियोग्यनधिकरणं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणं बोध्यम्। तेन विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादेर्विशिष्टसत्त्वाभावप्रतियोगिसत्ताधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः ।११।

भाषा—इस लक्षणमें प्रतियोग्यनाधिकरणीभूत हेत्वधिकरण प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण जानना, अन्यथा "घटो विशिष्टसत्तावान् जातेः" इस स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां जातिरूप हेतुका व्यभिचारस्थल गुणकर्म हैं. उस हेत्वधिकरण गुणकर्ममें विशिष्टसत्ताभाव तो पा नहीं सकते; क्योंकि " विशिष्टवस्तु शुद्धवस्तुसे अतिरिक्त नहीं होती " इस न्यायसे विशिष्टसत्ताअभावका प्रतियोगि शुद्ध सत्ताभी होसकती है. उस शुद्धसत्ताका अभाव हेत्वधिकरण गुणकर्मोंमें नहीं है; एवं साध्याभावको लक्षणघटक न होनेसे घटाभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अतिव्याप्ति होगी. परन्तु यदि प्रतियोगिका अनधिकरण हेत्वधिकरण प्रतियोगितावच्छेदक धर्मावच्छिन्नका अनधिकरण कहतेहैं तो हेत्वधिकरण गुणकर्ममेंविशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ताका अभाव पासक्तेहैं. उस अभावका प्रतियोगी विशिष्टसत्ता होगी. प्रतियोगितावच्छेदक धर्म विशिष्टसत्तात्व होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेकधर्मके न होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोग्यनधिकरणीभूत) जो (हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरण)तादृश हेत्वधिकरण(वृत्ति)जो अभाव (तादृशाभावीयप्रतियोगितानवच्छेकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः)। ११ ।

एवं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम्।

तेन ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वाधिकरणघटादेर्विषयतासम्बन्धेन ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः । १२ ।

भाषा—एवं हेत्वधिकरणमें प्रतियोग्यनधिकरणताभी साध्यतावच्छेदकसम्बन्धसे विवक्षित है. अन्यथा "आत्मा ज्ञानवान् द्रव्यत्वात्" इस समवायेन साध्यहेतुक स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां द्रव्यत्वरूप हेतुका व्यभिचारस्थल घटादिक हैं. उन हेत्वधिकरणघटादिकोंमें ज्ञानरूप साध्यका अभाव तो नहीं पा सकते; क्योंकि ज्ञानरूप साध्य विषयतासम्बन्धसे यावत् घटपटादि विषयोंमें विद्यमान है; किंतु उदासीन घटादिका अभाव लक्षणघटक हो सकता है. एवं अभावीय प्रतियोगिताके अवच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक ज्ञानत्व धर्म होगा. तदवच्छिन्न साध्यके साथ द्रव्यत्वरूप हेतुका सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिका लक्षण संगत होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष हुआ परन्तु यदि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण कहें तो यहां साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसमवाय है. समवायसम्बन्धसे ज्ञानाधिकरण आत्माही है; घटादिक नहीं. एवं द्रव्यत्वरूप हेत्वधिकरण घटादिकोंमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ज्ञानरूप साध्याभावभी लक्षण घटक हो सकताहै. तादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकही ज्ञानत्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक न होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है १२ ।

इत्थं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः । १३ ।

भाषा—एवं प्रतियोग्यनधिकरणमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश करनेसे "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्तिरूप दोषभी नहीं है. अन्यथा हेत्वधिकरण पर्वतमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकवन्हिरूप साध्यका अभाव ही पासकते हैं. तादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदक वन्हित्वधर्म होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकके न होनेसे लक्षण संगत नहीं है. एवं अव्याप्ति दोष हुआ; परन्तु यदि प्रतियोग्यनधिकरणमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्धकी विवक्षा करतेहैं तो साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धसे हेत्वधिकरण पर्वतादिमें वन्हिरूप साध्यका अभाव नहीं पासकते क्योंकि वन्हि वहां संयोगेन रहता है. किन्तु घटाद्यभाव लक्षणघटक होगा. अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक वन्हित्वधर्म होगा. एवं लक्षण संगत होनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है. एवं लक्षणका

स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न) या प्रतियोगिता तादृश (प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरणं) यत् (हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्न) हेत्वधिकरणं तादृश (हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः) १३।

ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित् प्रतियोगिनः तत्सामान्यस्य वाऽनधिकरणत्वम्, यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य वाऽनधिकरणत्वं विवक्षितम् ।

शंका-"विशिष्टसत्तावान् जातेः" इत्यादि स्थलोंमें अतिव्याप्ति वारणार्थ आपने प्रतियोग्यनधिकरणमें प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणकी विवक्षा करी है; उसमें हम यह पूछते हैं कि- क्या प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यत्किञ्चित् प्रतियोगिका अनधिकरण कहते हो किंवा प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिका अनधिकरण विवक्षित है? अथवा यत् किञ्चित् जो प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तदवच्छिन्नानधिकरण कहते हो ?

आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादावेवाव्याप्तिः। कपिसंयोगाभावस्य हि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिरपि कपिसंयोगो भवति तदनधिकरणं च वृक्ष इति ।

भाषा-इनमें यदि प्रथमपक्ष कहो तो "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदक समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कपिसंयोगत्वभी लेसकते हैं; तद्धर्मावच्छिन्न यत्किञ्चित् प्रतियोगी शब्दसे भूतलवृत्ति कपिसंयोगभी लेसकतेहैं . तादृश भूतलवृत्ति कपिसंयोगका अनधिकरण जो हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष तद्वृत्त्यभाव "वृक्षे भूतलवृत्तिकपिसंयोगो नास्ति" इत्याकारक अभाव, एतादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकही कपिसंयोगत्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म है; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक धर्मके न होनेसे अव्याप्तिरूप दोष हुआ. इस दोषके निवारणार्थ यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिके अनधिकरणकी विवक्षा करें तो यद्यपि "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इत्यादि स्थलमें दोषवारण होसकताहै; क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक कपिसंयोगत्वावच्छिन्न यावत् कपिसंयोगका अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष नहीं है किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वाद्यवच्छिन्न याव घटादिका अन-

विकरण हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष होसकता है. एवं अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व धर्म्म होगा. ऐसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है.

द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः। सर्वस्यैवाभावस्यपूर्वक्षणवृत्ति त्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसामानाधिकरणत्वात्।

भाषा–तथापि द्वितीयपक्षमें कहे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिके अनधिकरणकी विवक्षा करनेसे "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि सद्धेतुमात्रमें लक्षणका असम्भव है क्योंकि यहां पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणघटक घटाद्यभाव होसकता है; परन्तु वहभी प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिके अनधिकरणमें नहीं रहसकता किन्तु स्वाभावात्मक प्रतियोगिके समानाधिकरणहीमें रहताहै. तात्पर्य यह कि–हेत्वधिकरण पर्वतमें घटाभाव और पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभावाभाव ये दोनों एक रूप हैं. उस एकरूपापन्न अभावके प्रतियोगि दो हुए; एक घट और दूसरा घटाभावाभाव. वह यद्यपि घटात्मक प्रतियोगिके साथ समानाधिकरण नहीं है तथापि स्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ एकाधिकरणवृत्ति है. यहां यह भाव है कि– जिस अधिकरणमें घटाभाव रहेगा उसी अधिकरणमें घटाभावका अभाव नहीं रहसकता; क्योंकि "अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता" इस आचार्यके वचनानुरोधसे घटाभावका अभाव घटस्वरूप होताहै. एवं प्रतियोगि तथा उसका अभाव दोनों एकाधिकरणमें नहीं रहसकते. इसलिये घटाभावमें 'पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट' यह विशेषण दिया. एवं घटाभावके अधिकरणमें यद्यपि घट नहीं रहता तथापि पूर्वक्षणवृत्तित्ववि. शिष्ट घटाभावका अभाव उत्तरक्षणावच्छेदेन रहसकताहै.एवं पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावके अभावका अभाव पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावस्वरूप होगा और विशिष्टवस्तुका शुद्धसे भेद नहीं होता. इस न्यायसे विशिष्टघटाभाव शुद्धघटाभाव स्वरूप हुआ; उस अभावके प्रतियोगि घट तथा स्वाभाव ये दो हुए. एवं यद्यपि उसको घटात्मक प्रतियोगिके साथ समानाधिकरण नहीं है, तथापि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिअन्तर्गत स्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ घटाभावादिका समानाधिकरण होसकताहै. एवं रीतिसे प्रतियोगिव्यधिकरणाभावकी अप्रसिद्धी है.

न च वन्हिमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि

भाषा-और वस्तुतः सिद्धांत तो यह है कि,यहां लक्षणका स्वरूप ऐसा कहना उचित है कि-प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोगीका अनधिकरणीभूत जो हेत्वधिकरण उस हेत्वधिकरणवृत्ति जो अभाव उस अभावकी जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता सामान्यमें यत् सम्बन्धावच्छिन्नत्व तथा यत्धर्मावच्छिन्नत्व उभयका अभाव है, तिस सम्बन्धसे तत्धर्म्मावच्छिन्नकी तिस हेतुके साथ व्यापकता जाननी चाहिये. तादृश व्यापकके साथ हेतुका सामानाधिकरण्यही व्याप्ति है.

यत्सम्बन्धः साध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः, यद्धर्मः साध्यतावच्छेदको धर्मः । तत्र यदि यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभावमात्रमुच्यते तदा समवायेन यो वन्ह्यभावस्तस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धः समवायस्तेन प्रतियोग्यनधिकरणपर्वतादिवृत्तिः स एव, तत्प्रतियोगितावच्छेदकं च वह्नित्वमित्यव्याप्तिः स्यात् । यदि च यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावमात्रमुच्यते तदा तादृशस्य संयोगेन घटाभावस्य प्रतियोगितायां संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसत्त्वादव्याप्तिः स्यादत उभयमुपात्तम् ।

भाषा-यहां लक्षणमें यत्सम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण है और यत्धर्म्मसे साध्यतावच्छेदक धर्म्मका ग्रहण है. इन दोनोंमें किसी एकका निवेश न करनेसे अव्याप्ति होगी अर्थात् यदि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण न करें किन्तु " प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यद्धर्म्मावच्छिन्नत्वाभावः तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" एतावन्मात्र लक्षण करें तो "वह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि हेत्वधिकरण पर्वतमें "संयोगेन वह्निसत्त्वेपि समवायेन वह्निर्नास्ति" इत्याकारक अभाव पासकतेहैं; एतादृशाभावीय प्रतियोगितासमवायेन वह्निनिष्ठा हुई और प्रतियोगिता सामान्यका अर्थ है. यावत् प्रतियोगितामें अर्थात् हेत्वधिकरणमें जिस २ सम्बन्धसे जिस २ धर्म्मसे जो २ अभाव पासकें उस २ अभावकी प्रतियोगितामें उभयाभाव विवक्षित है. एवं समवायेन वह्निनिष्ठा प्रतियोगिताभी यावत् अन्तर्गत है, परन्तु इस प्रतियोगितामें यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभाव नहीं है, किन्तु 'यद्धर्म' पदसे ग्राह्य साध्यतावच्छेदक वह्नित्वरूप धर्म विद्यमान है एवं अव्याप्ति हुई. इसके वारणार्थ यत् सम्बन्धकाभी निवेश किया. यत् सम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण है. एवं अव्याप्ति नहीं है.

क्योंकि समवायेन वन्ह्यभावीय प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेदक धर्मका अभाव नहीं है तथापि साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धका अभाव है. एवं "एकसत्त्वेपि द्रयं नास्ति" इस प्रतीतिके बलसे उभयाभाव पासकतेहैं; याते दोष नहीं है. एवं अभावीय प्रतियोगितामें यदि साध्यतावच्छेदक धर्मका निवेश न करें किन्तु "प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावः तेन सम्बन्धेन तद्धेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" एतावन्मात्र लक्षण करें तो "वह्निमान् धूमात्" इसी स्थलमें फिर अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां हेत्वधिकरणवृत्तिसंयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभाव नहींहै. किन्तु साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वहीहै. एवं लक्षण अव्याप्त हुआ परन्तु यदि पूर्वोक्त सम्बन्ध तथा धर्म उभयका निवेश करें तो दोष नहींहै; क्योंकि घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व है तथापि साध्यतावच्छेदक वह्नित्व धर्मावच्छिन्नत्व नहीं है. एवं "एकसत्त्वेपि द्रयं नास्ति" इस प्रतीतिसे उभयाभाव पासकतेहैं. प्रतियोगितामें उभयाभाव होनेसे पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणसमन्वय होसकता है. इसलिये प्रकृत लक्षणमें यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्व उभयका निवेश अवश्य करना उचित है.

इत्थं च कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसम्बन्धेन यो घटाभावस्तत्प्रतियोगिनो घटस्यानधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावस्तस्य प्रतियोगितायांकालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः १६

भाषा—एवं "कालो घटवान् कालपरिमाणात्" इत्यादि स्थलमेंभी दोष नहीं; क्योंकि यहां संयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेक घटत्वधर्मावच्छिन्नत्व है तथापि साध्यतावच्छेदक कालिक विशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है. एवं "एकसत्त्वेऽपि द्रयं नास्ति" इस प्रतीतिबलसे उभयाभावसंयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें रहसकताहै. एवं "तेन कालिक विशेषणतासम्बन्धेन तत् घटत्वधर्मावच्छिन्नस्य तत् कालपरिमाणरूपहेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" यह व्याप्तिका लक्षण निर्दोष संगत होसकताहै १६ ।

धूमवान् वह्नेः इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्यपदमुपात्तम् । १७ ।

शंका—इस लक्षणमें 'प्रतियोगितासामान्ये' क्यों कहा ? किन्तु "यत्

किञ्चित् प्रतियोगितायां " ऐसा कहा जाता तो उपस्थितिकृत लाघव होता. **समाधान**–'सामान्य' नाम यावत्का है. उसकी जगह यदि 'यत्किञ्चित्' का निवेश करें तो " पर्वतो धूमवान् वह्नेः" इस स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां 'यत्किञ्चित्' शब्दसे ग्राह्य घटानिष्ठ प्रतियोगितामें पूर्वोक्त रीतिसे उभयाभाव मिलनेसे लक्षण संगत होसकता है और अलक्षमें लक्षण संगतहीका नाम अतिव्याप्ति है और यदि यावदर्थक 'सामान्य' पदका निवेश करें तो अतिव्याप्तिरूप दोष दूर होसकता है; क्योंकि यावदन्तर्गत संयोगेन धूमत्वेन धूमाभावीय धूमनिष्ठ प्रतियोगिताका भी ग्रहण होसकता है. तात्पर्य यह कि–संयोगेन धूमाभाव हेत्वधिकरण लोहपिण्डमें पासकतेहैं परन्तु संयोगेन धूमनिष्ठप्रतियोगितामें उभयाभाव नहींहै किन्तु उभयही है इसलिये अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है १७।

ननु प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धम् । गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेत् । न । कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन गुरुधर्म्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारादिति संक्षेपः । १८ ॥ ६९ ॥

शंका–पूर्वोक्त समस्त लक्षणोंकी "पर्वतः प्रमेयवन्हिमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां साध्यतावच्छेक धर्म प्रमेयवन्हित्वही मानना होगा, सो वह अवच्छेदक हो नहीं सकता. भाव यह कि–प्राचीन विद्वानोंका यह संकेत है कि–" सम्भवति लघुधर्मे गुरौ तदभावात्–अर्थात् यदि समनियत लघुधर्म अवच्छेदक मिलसकें तो गुरुधर्ममें अवच्छेदकता माननी उचित नहीं" प्रकृतमें प्रमेयवन्हित्वके समनियत तथा लघुवन्हित्वरूप धर्म है, वही अवच्छेदक होना चाहिये; परन्तु वह साध्यतावच्छेदक धर्म नहीं. साध्यतावच्छेदक धर्म प्रमेयवन्हित्वरूपहै परन्तु वह गुरुधर्म होनेसे अवच्छेदक नहीं होसकता और साध्यतावच्छेदक धर्मका निवेश पूर्वोक्त सभी लक्षणोंमें है एवं अवच्छेदक अप्रसिद्धि निन्बधन अव्याप्तिरूप दोष होगा. **समाधान**–पदार्थोंकी सिद्धि प्रतीति अनुरोधसे होतीहै किन्तु स्वमन्तव्य मात्रसे नहीं होसकती 'अत्र कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' इसप्रतीतिसे कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव प्रतीत होताहै और अभावीय प्रतियोगिताभी कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नाही प्रतीतहोतीहै. इसलिये प्रतीत्यनुरोधसे गुरु धर्ममेंभी अवच्छेदकता अंगीकार करनी उचित है–इति । यह संक्षेपसे व्याप्तिलक्षणका निरूपण किया है १८ ॥६९॥

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह, सिषाधयिषयेत्यादि–

भाषा–पीछे "व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते" इस परामर्शके लक्षणमें 'पक्षवृत्तित्व' यह कहा उसमें पक्षत्व क्या है इसी वार्ताको 'सिषाधयिषा' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कहतेहैं–

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ॥
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥ ७० ॥

भाषा–साध्यके सिद्ध करनेकी इच्छाका नाम 'सिषाधयिषा' है. उस सिषाधयिषासे शून्य जो सिद्धि अर्थात् सिषाधयिषाविरहविशिष्ट प्रत्यक्षात्मक ज्ञान जहां नहीं है वह 'पक्ष' है; उसमें हेतुकी वृत्तिताके ज्ञानसे अनुमिति होतीहै ॥ ७० ॥

सिषाधयिषाविरहविशिष्टायाः सिद्धेरभावः पक्षता, तद्वान् पक्ष इत्यर्थः । सिषाधयिषामात्रं न पक्षता, विनापि सिषाधयिषां घनगर्जितेन मेघानुमानात् । अत एव साध्यसंदेहोऽपि न पक्षता, विनापि संदेहं तदनुमानात् ।

भाषा–सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो सिद्धि, उस सिद्धिका अभाव'पक्षता' है; उस पक्षतारूप धर्मवालेका नाम 'पक्ष' है"गगनं मेघवत् गर्जनात्"इत्यादि स्थलोंमें सिषाधयिषासे विनाभी पुरुषोंको अनुमिति होतीहै. इसलिये साध्य सिद्ध करनेकी इच्छा मात्रका नाम 'पक्षता' नहीं कह सकते. इसीलिये "साध्यसन्देहः पक्षता" इत्याकारक प्राचीनोंका लक्षणभी सम्यक् नहीं है, क्योंकि विनापि मेघरूप साध्यके सन्देहसे गर्जनेसे गगनाधिकरणमें मेघकी अनुमिति होतीहै.

सिद्धौ सत्यामपि सिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव,अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम् ।

भाषा–'सिद्धि' नाम इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञानका है. उसके होत सन्तेपि अर्थात् पर्वतादि पक्षोंमें 'पर्वतो वन्हिमान्' इत्याकारक चाक्षुष ज्ञान हुएभी "पर्वते वन्हिविषयकानुमितिर्मे स्यात्" इत्याकारक इच्छा होनेसे अनुमिति होतीहै. इसलिये 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व' सिद्धिमें विशेषण दिया है. भाव यह कि–यद्यपि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अनुमितिज्ञानका प्रतिबन्धक है, इसलिये सिद्धि होत संते अनुमितिज्ञानका होना सम्भव नहीं तथापि सिषाधयिषाको विद्वानोंने उत्तेजक माना है. प्रतिबन्धक होतेभी सामग्रीकी सहकारतासे कार्यजनकका नाम'उत्तेजक' है. एवं सिषाधयिषारूप उत्तेजकके बलसे सिद्धरूप प्रतिबन्धकके सत्त्वकालमेंभी अनुमितिरूप कार्य होताहै.

इससे यह सिद्धान्त हुआ कि—सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो केवल सिद्धि वह अनुमितिके प्रति प्रतिबन्धक है. उसीका अभाव जहां तहां पक्षता है. प्रकृतमें जहां सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों हैं वहांभी सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो देशान्तरीय कालान्तरीय सिद्धि उसका अभाव वहां विद्यमान है. इसलिये पक्षताकी क्षति नहीं है. ऐसे स्थलमें विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये; क्योंकि 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण है और 'सिद्धि' विशेष्य है. जहां सिषाधयिषाका विरह नहीं किन्तु सिषाधयिषा विद्यमान है वहां सिषाधयिषाविरहरूप विशेषणके न होनेसे तद्विशिष्ट सिद्धिका अभावभी कहसकतेहैं याते सिद्धि सिषाधयिषाउभय सत्त्वस्थलमें पक्षतानिर्दोषहै.

तथाच यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिषाधयिषायां सत्यामसत्यामपि पक्षता। यत्र च सिषाधयिषाऽस्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षता । यत्र च सिद्धिरस्ति सिषाधयिषा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्त्वात् ।

भाषा-(तथाच) एवं जिस स्थलमें (सिद्धि) प्रत्यक्षज्ञान नहीं है वहां सिषाधयिषा होय तो उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये अर्थात् सिषाधयिषाके होनेसे सिषाधयिषाविरहरूप विशेषणभी नहीं है और सिद्धिके न होनेसे सिद्धिरूप विशेष्यभी नहीं है. इसलिये विशेषणविशेष्य उभयके अभावसे विशिष्टका अभाव कहना उचित है. ऐसे स्थलमेंभी पक्षता निर्दोष है. एवं जहां सिद्धि सिषाधयिषा दोनों नहीं हैं वहां विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये अर्थात् सिषाधयिषाके न होनेसे सिषाधयिषाविरहरूप विशेषण तो है परन्तु सिद्धिरूप विशेष्यके न होनेसे विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कह सकतेहैं; ऐसे स्थलमेंभी पक्षता निर्दोष है. एवं जहां सिषाधयिषा विद्यमान है वहां सिद्धि होय तो पूर्ववत् विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावसे पक्षता जाननी चाहिये और सिद्धि न होय तो पूर्ववत् उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावसे पक्षता जाननी चाहिये; परन्तु जिस स्थलमें केवल (सिद्धि) प्रत्यक्षात्मक ज्ञानही है, किन्तु अनुमित्साख्प उत्तेजक नहीं है,वहां पक्षता नहीं है क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट (सिद्धेः) प्रत्यक्षात्मक ज्ञानको वहां अनुमिति तत्सामग्रीके प्रति प्रतिबन्धकता है इसीसे यह सिद्ध हुआ कि अनुमित्साविरहविशिष्ट (सिद्धिः) प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अनुमितिज्ञानका सर्वथा प्रतिबन्धक है.ऐसे स्थल में पक्षता नहीं है.

ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिषाधयिषा,तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शनाशान्नानुमितिः,यत्र सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः

क्रमेणभवन्ति तत्रसिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशात् प्रतिबन्धकाभा-वादेवानुमितिः, यत्र सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाःसन्ति तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषैव नास्ति, एवमन्यत्रापिसिद्धिकाले परामर्शकाले वा न सिषाधयिषा, योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्, तत् कथं सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणमिति चेत्, न

शंका—सिद्धिमें सिषाधयिषाविरहविशिष्टता आपको एक कालावच्छेदेन एकात्मवृत्तित्व सम्बन्धसे विवक्षित है परन्तु परामर्शरूप कारणके सत्त्वकालमें और सिद्धिरूप विरोधिके सत्त्वकालमें यदि सिषाधयिषाका होना सम्भव होय तो सिषाधयिषाको उत्तेजकता और तद्विरहविशिष्ट सिद्धिको प्रतिबन्धकता आप कहसकें सो विचारसे यह वार्ता बन नहीं सकती; क्योंकि जिस पुरुषको प्रथम क्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है उसके पीछे द्वितीय क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ और तृतीय क्षणमें सिषाधयिषा हुई तो सिषाधयिषाकालमें अनुमिति कारणीभूत परामर्शात्मक ज्ञानका क्षणिकत्वेन नाश होनेसे अनुमिति नहीं होगी १। और जिस आत्मामें प्रथम क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ है, द्वितीयक्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है और तृतीय क्षणमें सिषाधयिषा हुईहै वहां सिषाधयिषाकालमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान क्षणिक होनेसे नाश होचुका है, इसलिये प्रतिबन्धकके अभावसेही अनुमितिज्ञान निर्बाध होगा २। और जिस आत्मामें प्रथमक्षणमें सिषाधयिषा हुई, द्वितीय क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ, तृतीयक्षणमें परामर्श हुआ वहाँ परामर्शकालमें सिषाधयिषाही क्षणिक होनेसे नाश होचुकी है; सिषाधयिषाके न होनेसे अनुमितिज्ञान नहीं होगा ३। (एवमन्यत्रापि) ऐसे और स्थलोंमेंभी जहां प्रथमक्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषा हुई है तृतीयक्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ है-वहां अनुमितिकारणीभूत परामर्शात्मक ज्ञान नहीं है इसलिये अनुमिति न होगी ४। एवं जहां प्रथमक्षणमें सिद्धिहै द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषा है तृतीय क्षणमें परामर्श है वहां तृतीयक्षणमें प्रतिबन्धकके अभावसेही अनुमिति होसकती है५। एवं जिस आत्मामें प्रथमक्षणमें सिषाधयिषा हुई है, द्वितीयक्षणमें परामर्श हुआ है, तृतीय क्षणमें सिद्ध्यात्मकज्ञान हुआ है वहां सिद्धिकालमें सिषाधयिषा ज्ञान नहीं है इसलिये अनुमिति नहीं होगी ६। एवं प्रत्यक्षके योग्य विभुके विशेषगुणोंको एककालावच्छेदेन अनुत्पन्न होनेसे सिद्धिकालमें अथवा परामर्शकालमें सिषाधयिषाका होना सम्भव नहींहै इसलिये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व सिद्धिमें विशेषण देना व्यर्थ है किन्तु "सिद्ध्यभावः पक्षता" इतना मात्र कहनेसे निर्वाह होसकताहै.

यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षं स्मरणं वा,

ततः सिषाधयिषा तत्र पक्षतासम्पत्तये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वविशेषणस्यावश्यकत्वात् ।

समाधान–जिस आत्मामें "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वन्हिमान्" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक अथवा स्मरणात्मक ज्ञान हुआ हो और उसके पीछे द्वितीयक्षणमें "पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्" इत्याकारक इच्छा उत्पन्न होय तो ऐसे स्थलमें पक्षतासम्पत्तिके लिये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व सिद्धिमें विशेषण देना अवश्यक है. भाव यह कि–ऐसे स्थलमें सिषाधयिषाके पूर्वक्षणमें होनेवाला ज्ञान सिद्धिविशिष्टपरामर्शात्मक है. द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषारूप उत्तेजकके होनेसे यही ज्ञान परामर्शत्वेन अनुमितिका कारण हो जाता है और सिषाधयिषाके न होनेसे यही ज्ञान सिद्धिरूपेण प्रतिबन्धक होय जाताहै एवं यदि सिद्धिमें सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वरूप विशेषण न दिया जाय तो ऐसे स्थलमें पक्षताभी न बनसके; क्योंकि यहां केवल सिद्ध्यभाव तो नहीं है किंतु सिद्ध्यात्मक परामर्शही बैठा है और जब विशेषण देते हैं तो पक्षता बनसकती है; क्योंकि यहां यद्यपि केवल सिद्ध्यभाव नहीं है तथापि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो सिद्धि उसका अभाव यहांपर है, इसलिये पक्षता निर्बाध है.

अत्रेदं बोध्यम् । यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता । तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेऽपि यत्किंचिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

भाषा–यहां यहभी जानना उचित है कि–जैसी २ सिषाधयिषाके सत्त्वकालमें तथा सिद्धिके सत्त्वकालमें यद्धेतुक अनुमिति होती है वैसी २ सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धिका अभाव उसी प्रकृत हेतुक अनुमितिमें पक्षता है. (तेन)एवं "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक सिद्ध्यात्मक परामर्शसत्त्वकालमेंभी "यत्किंचित् ज्ञानं मे जायताम्" इत्याकारक इच्छाके होनेसे अनुमितिकी आपत्ति नहीं है; क्योंकि इस इच्छाको यत्किंचित् ज्ञान विषयक होनेसे प्रकृतानुमिति सामग्रीमें उत्तेजकता नहीं है.

वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानितिप्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षादिभिन्नं वह्निज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव । एवं धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

भाषा—और यदि "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान् " इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक परामर्शसत्त्वकालमें "प्रत्यक्षादिभिन्नं वह्निज्ञानं मे जायताम् " इत्याकारक इच्छा उत्पन्न होय तो अनुमिति होय सकतीहै; क्योंकि यह इच्छा प्रत्यक्षादिभिन्न वह्निअनुमितिज्ञानमें उत्तेजकरूपेण विद्यमान है. (एवं) प्रकृतानुगममें यद्धेतुकका निवेश करनेसे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक धूम परामर्शसत्त्वकालमें "आलोकेन हेतुना अनुमितिर्मे जायताम्" इत्याकारक इच्छासेभी अनुमितिकी आपत्ति नहीं होसकती; क्योंकि यह इच्छा यद्धेतुक परामर्श है तद्धेतुक नहीं है इसलिये प्रकृतपरामर्शमें उत्तेजकभी नहीं है.

सिषाधयिषाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धिर्विशिष्यैव तत्तदनुमितिप्रतिबन्धिका वक्तव्या ।

भाषा—सिषाधयिषाके अभावकालमें जैसी सिद्धिके होत संते अनुमिति नहीं होती वह २ सिद्धि विशेषरूपसे उसउस अनुमितिमें प्रतिबन्धक कहनी चाहिये अर्थात् "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमितिमें पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारताशालिनिश्चयत्वेन सिद्ध्यात्मक ज्ञानको प्रतिबन्धकता कहनी उचित है.

तेन पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः ।

भाषा—इससे "पर्वतः तेजस्वी " अथवा "पाषाणमयो वन्हिमान् " इत्याकारक सिद्ध्यात्मक ज्ञान होनेसेभी "पर्वतो वह्निमान् " इत्याकारक अनुमितिज्ञान रुक नहीं सकता; क्योंकि यह नियम है कि—तद्विशेष्यक तत्प्रकारक अनुमितिज्ञानके प्रति तद्विशेष्यक तत्प्रकारक सिद्ध्यात्मक ज्ञानको प्रतिबन्धकता है, इतरको नहीं; और प्रकृतमें अनुमितिज्ञान तो पर्वतत्वावच्छिन्न विशेष्यतानिरूपित वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारताशालि है परन्तु सिद्धिज्ञान प्रथम तो प्रकारतामें विपरीत है अर्थात् तेजस्त्वावच्छिन्न प्रकारक है और द्वितीयविशेष्यतामें विपरीत है अर्थात् पाषाणमयत्वावच्छिन्न विशेष्यक है इसलिये यह ज्ञानप्रतिबन्धक नहीं होयसकते.

परंतु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिंप्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि ।

भाषा-परन्तु प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भावस्थलमें यहभी ख्याल रखना चाहिये कि पक्षतावच्छेदक समानाधिकरणमें अर्थात् पर्वतके किसी एक शिखरमें वन्हिरूप साध्यकी सिद्धि होनेसेभी (तदवच्छेदेन)पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें अनुमिति होय सकती है इसलिये "पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें होनेवाली अनुमितिके प्रति "पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिः-अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें वह्निविषयक चाक्षुष ज्ञानही प्रतिबन्धक होयसकता है और पर्वतके शिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति तो सिद्धिज्ञान मात्र प्रतिबन्धक है अर्थात् एकशिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति एकशिखरमें होनेवाला सिद्धिज्ञानभी प्रतिबन्धक है और यावत् शिखरमें होनेवाला सिद्धिज्ञानभी प्रतिबन्धक है. भाव यह कि-ज्ञानोंका प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव समानविषयकत्वेन किंवा अधिक विषयकत्वेन होता है; परन्तु प्रतिबध्य ज्ञानसे न्यून विषयावगाहि ज्ञान कदापि प्रतिबन्धक नहीं होयसकता; इसीलिये यावत् शिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति एक शिखरनिष्ठ सिद्धि ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं है.

इदं तु बोध्यम् । यत्र अयं पुरुषो न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषत्वस्य प्रत्यक्षं भवति, न त्वनुमितिः । अतोऽनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत् स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका ।

भाषा-(इदं तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी विशेष जानने योग्य है कि-जिस स्थलमें दोषवशसे पुरुषविषे " अयं पुरुषो न वा " इत्याकारक संशय हुआ पश्चात् सम्यक् चक्षुःसंप्रयोग होनेसे " पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमानयं " इत्याकारक परामर्श हुआ ऐसे स्थलमें संशयपक्षताविशिष्ट परामर्शरूप अनुमितिकी सामग्रीभी विद्यमान है और चक्षुःसंप्रयोगरूप प्रत्यक्षकी सामग्रीभी विद्यमान है परन्तु ऐसे स्थलमें यादि अनुमिति सामग्रीकी अनुमित्सा सहकारिणी न होवे तो पुरुषविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानही होताहै; अनुमिति नहीं होती. इसलिये अनुमित्साविरहविशिष्ट अनुमितिसामग्रीके प्रति (समानविषयक) तुल्यविषयणी अर्थात् यद्विषयक अनुमितिसामग्री है तद्विषयक प्रत्यक्षसामग्री (कामिनी) सुन्दरस्त्रीकी जिज्ञासाकी तरह स्वभाविक प्रतिबन्धक है अर्थात् जैसे आसक्त वियोगी पुरुषको सुन्दरस्त्रीके मिलापकी इच्छा कार्यमात्रमें प्रतिबन्धका है क्योंकि वियोगिका किसी कार्य्यमें मन नहीं लगता;

वैसेही अनुमित्साविरहविशिष्ट प्रत्यक्षज्ञानकी सामग्रीभी समानविषयक अनुमिति सामग्रीके प्रति स्वाभाविक प्रतिबन्धक जाननी चाहिये.

एवं परामर्शानन्तरं विनापि प्रत्यक्षेच्छां पक्षादिप्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिकेति ॥ ७० ॥

भाषा-एवं "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्यादि परामर्शानन्तरं यदि "पक्षादिविषयकं प्रत्यक्षं मे जायताम् "इत्याकारक प्रत्यक्ष इच्छा उत्तेजक न होय तो पक्षादि विषयक प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु "पर्वतो वन्हिमान्" इत्याकारक समुदित अनुमितिज्ञानही होताहै इसलिये अनुमितिके विषयसे भिन्नविषयक प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नके प्रति प्रत्यक्ष इच्छाविरहविशिष्ट अनुमितिसामग्रीभी प्रतिबन्धक माननी उचित है-इति ॥ ७० ॥

प्रसङ्गसङ्गत्या हेत्वाभासान् विभजते , अनैकान्त इत्यादि-

भाषा-वादिविजयरूप एककार्यकारित्वरूप प्रसंगसंगतिसे मूलकार "अनैकान्तः" इत्यादिग्रंथसे हेत्वाभासोंका विभाग करतेहैं-

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ॥
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥७१॥

भाषा-अनैकान्त विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष, कालात्ययापदिष्ट यह पांच हेत्वाभास बोलेजाते हैं ॥ ७१ ॥

तल्लक्षणं तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम् ।

भाषा-हेत्वाभासका लक्षण तो 'यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वं' इतना मात्र है असद्धेतु मात्र इस लक्षणका लक्ष है; (यद्विषयकत्वेन) व्यभिचारादिविषयकत्वेन (ज्ञानस्य) 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् इत्यादौ अयं हेतुर्व्यभिचारी' इत्यादि ज्ञानस्य "पर्वतो वन्हिमान्" इत्यादि अनुमिति विरोधित्व है वही हेत्वाभासमें हेत्वाभासत्व है अर्थात् जिन 'प्रमेयत्वादि' हेतुओंमें व्यभिचारादि दोषोंका निश्चय होजाता है उनसे "पर्वतो वन्हिमान्" इत्यादि अनुमिति ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होती. एवं "ह्रदो वन्हिमान् धूमात्" इत्यादि बाधित स्थलमें वन्ह्यभाव प्रयुक्त ह्रदादि विषयकत्वेन "ह्रदो वन्ह्यभाववान्" इत्याकारक ज्ञानको "ह्रदो वन्हिमान्" इत्यादि अनुमिति प्रतिबन्धकत्व है; वही उसमें बाधितस्वरूप हेत्वाभासत्व है.

तथाहि । व्यभिचारादिविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात्तद्दोषाः । यद्विषयकत्वं च यादृशविशिष्टविषयकत्वं बोध्यम् । तेन बाधभ्रमस्यानुमितिविरोधित्वेऽपि न क्षतिः । तत्र पर्वतो वह्न्यभाववानिति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वान्न हेतुदोषः ।

भाषा-'तथाहि' इस ग्रन्थसे लक्षणको स्वयं स्फुट करतेहैं कि-व्यभिचारादि दोष विषयकत्वेन "अयं हेतुः व्यभिचारी" इत्यादि ज्ञानको व्यभिचारहेतुक यावत् अनुमिति विरोधिता है इसलिये व्यभिचारादि दोष हैं. लक्षणघटित 'यद्विषयक' पदका "यादृश विशिष्ट विषयक" विवरण जानना चाहिये. एवं "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि सद्स्थलमें अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि यद्यपि वन्ह्यभावप्रयुक्त पर्वतविषयकत्वेन "पर्वतो वन्ह्यभाववान्" इत्याकारक ज्ञानको "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक सद्अनुमितिके प्रतिविरोधिता होसकतीहै इसलिये अतिव्याप्ति होनी चाहिये तथापि 'यादृशविशिष्ट' शब्दसे प्रकृतमें वन्ह्यभावविशिष्ट पर्वतका ग्रहण है सो वह संसारमात्रमें अप्रसिद्ध है इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है. भाव यह कि-पक्षमें वास्तवसे साध्याभाव होय तो बाध होताहै और यदि वास्तवसे साध्याभाव पक्षमें न रहे किन्तु पक्षमें साध्याभावका भ्रम हो जावे तो उससे प्रकृत हेतु दुष्ट नहीं होय सकताहै.

न च वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्याभासत्वं न स्यात्, तत्र वह्न्यभावव्याप्यवान् पक्ष इति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः ।

शंका-जिस कालमें जिस स्थलमें सिद्धान्तीको "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्याकारक हेतुसे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श हुआहै. उसकालमें उसी स्थलमें वादीको "पर्वतो वन्ह्यभाववान् पाषाणमयत्वात्" इत्याकारक हेतुसे "वन्ह्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श होता है. यहां द्वितीय परामर्शसे प्रथम परामर्श कुक्षिप्रविष्ट धूमरूप हेतु सत्प्रतिपक्षत्वेन हेत्वाभास गिना जाता है. अब आपके 'यादृशविशिष्टविषयक' कथनानुसार उसमें हेत्वाभासत्वव्यवहार करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उसमें आभासत्वका सम्पादक जो "वन्ह्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक विरोधी परामर्श है इसमें वन्ह्यभावविशिष्ट पर्वतअंश अप्रसिद्ध है; अर्थात् पाषाणमयत्वरूप हेतुमें वन्ह्यभावनिरूपित व्याप्यता नहीं है. इसलिये पाषाणमयत्व हेतुसे धूमरूप

हेतुका आभास होना युक्तियुक्त नहीं है. समाधान—हमको यह वार्ता इष्ट है. हमभी धूमादि सद्हेतुओंमें विरोधि हेतुके होनेसेभी दुष्टव्यवहार नहीं कर सकते.

अन्यथा बाधस्याप्यनित्यदोषत्वापत्तिः । तस्मात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्य नाभासत्वं भ्रमादनुमितिप्रतिबन्धमात्रं, हेतुस्तु न दुष्ट इति ।

भाषा—अन्यथा यदि प्रतिबन्धकीभूत भ्रमविषयकोभी दोषत्वेन ग्रहण किया जाय तो बाधभी अनित्य दोषही होय जावेगा. भाव यह कि—पक्षमें साध्याभावका भ्रम होनेसे सद्हेतु वास्तवमें दुष्ट नहीं होय सकता; परन्तु यदि पूर्वोक्त रीतिसेभी हेतुमें सत्प्रतिपक्षता स्वीकार हो तो पक्षमें साध्याभावका भ्रम होनेसेभी सद्हेतुमें बाधदोषसे दुष्ट व्यवहार कर लेना चाहिये; परन्तु यह वार्ता किसी विद्वान्को संमत नहीं है. इसलिये वहांभी यही मानना उचित है कि—"वन्ह्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्शकालमें वह्निव्याप्य धूमरूप हेतुको आभासत्व नहीं है किन्तु भ्रमसे अनुमिति प्रतिरोध मात्र है, परन्तु हेतु दुष्ट नहीं है.

इत्थंच साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः, तद्वत्ता च हेतौ येन केनापि सम्बन्धेनेति नव्याः ।

भाषा—(इत्थं) इस रीतिसे जब यादृशविशिष्ट विषयकत्वेन ज्ञानकी प्रतिबन्धकता है तादृश विशिष्टका दोषत्वेन ग्रहण किया तो वास्तसे साध्याभाव वालेमें वर्तनेवाले हेत्वादिकही दोष हैं, यहां 'आदि' पदसे साध्याभावविशिष्ट पक्षकोभी दोष जानना चाहिये. एतादृश दोषवत्ता हेतुमें व्यभिचारादि स्थलोंमें तो तादात्म्येन है और बाधादि स्थलोंमें "साध्याभाववान् पक्षो हेतुश्च" इत्याकारक एकज्ञानविषयत्वेन है; एवं यथासम्भव जिस किसी संबन्धसेभी जानलेनी चाहिये. यह नव्य नैयायिक लोगोंका कथन है इनके सिद्धान्तसे "हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः" इस व्युत्पत्तिसे हेत्वाभास' शब्द दुष्ट हेतुपर है.

परे तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम्, सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा, तद्वत्त्वं च हेतोर्ज्ञानरूपसम्बन्धेन ।

भाषा—और कईएक विद्वान्लोग सत्प्रतिपक्षोंदिदोषोंको अनित्य दोष मानतेहैं. उनके मतसे "हेतोराभासाहेत्वाभासाः" इस व्युत्पत्तिसे 'हेत्वाभास' शब्द दोषपर है

एवं दोषवत्ता हेतुमें एकज्ञानविषयत्व सम्बन्धसे सर्वत्र रहती है. एवं ' यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं' यह लक्षण उनके मतमें दोषका है तादृश दोषवालेमें एक ज्ञानविषयत्वसम्बन्धसे हेत्वाभासत्वव्यवहार होताहै. सत्प्रतिपक्षादि स्थलोंमें विरोधिव्याप्त्यादिकोंकाही दोषरूपेण ग्रहण कियाजाताहै; तादृश दोषवत्ता हेतुमें " अयं विरुद्धव्याप्तिविशिष्टो हेतुः" इत्याकारक एकज्ञानविषयत्व सम्बन्धसे जाननी चाहिये

न चैवं वह्निमान् धूमादित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभावविषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वात् ज्ञानरूपसम्बन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वात् सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र ज्ञानस्य सम्बन्धत्वाकल्पनात् ।

शंका-इस रीतिसे सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेवालेके मतमें बाधभी अनित्य दोष होना चाहिये; क्योंकि "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि सद्हेतुस्थलमें पक्षमें साध्याभावके न होनेसे यद्यपि बाध नहीं है तथापि "पर्वतो वन्ह्यभाववान्" इत्याकारक बाधका भ्रम हो सकताहै; वह भ्रमज्ञानही साध्याभाव विषयकत्वेन "पर्वतो वन्हिमान्" इत्याकारक अनुमितिका विरोधिभी होसकताहै और " वन्ह्यभाववान् पर्वतो धूमश्च" इत्याकारक भ्रमात्मक एक ज्ञान विषयत्वसम्बन्धसे धूमरूप हेतुकोभी दोषवत्ता हो सकतीहै. एवं धूमादि सद्हेतुओंकोभी बाधित होना चाहिये. **समाधान**-सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेवाले इसका समाधान यह कहतेहैं कि-(तत्र) बाधकालीन धूमादि सद्हेतुओंमें हम एकज्ञानविषयत्वरूप सम्बन्धकी कल्पना नहीं करसकते; क्योंकि सद्हेतुमें " अयं हेतुर्बाधितः " यह व्यवहार नहीं होता.

अत्र सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारेण तत्कल्पनात् । अत्र च बाधित इति व्यवहाराभावादित्याहुः ।

भाषा-और (अत्र) यहां प्रतिपरामर्शकालीन धूमादि सद्हेतुओंमें " अयं हेतुः सत्प्रतिपक्षितः"इत्याकारक व्यवहार होनेसे पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानमें सम्बन्धत्वकीकल्पना हो सकती है, यांते सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेमें कुछ दोष नहीं-इत्याहुः।

अनुमितिविरोधित्वं चानुमितितत्कारणान्यतरविरोधित्वम्, तेन व्यभिचारिणि नाव्याप्तिः;दोषज्ञानं च यद्धेतुविषयकं तद्धेतुकानुमितौ प्रतिबन्धकम् ।

भाषा-लक्षणनिष्ठ अनुमितिविरोधित्व इस भागका अनुमिति तत्कारण अन्यतर विरोधित्व अर्थ करना अर्थात् "यादृशविशिष्टविषयकत्वेन ज्ञानस्य अनुमितितत्कार-

णान्यतरविरोधित्वं तत्त्वम् " ऐसा लक्षणका स्वरूप जानना. ऐसा लक्षण करनेसे अनुमितिकारणीभूत व्याप्तिज्ञानके विरोधि व्यभिचार्यादिहेतुओंकाभी ग्रहण हो सकता है; अन्यथा "अयं हेतुर्व्यभिचारी" इत्याकारक ज्ञानको साक्षात् अनुमितिविरोधित्व न होनेसे व्यभिचार्य्यादि हेतुओंमें हेत्वाभास लक्षणकी अव्याप्ति अवश्य होती; परन्तु 'अनुमिति' शब्दसे अनुमिति तत्कारण अन्यतर ग्रहण करनेसे अव्याप्ति नहींहै. जिस हेतुविषयक दोष ज्ञान होता है वह उसी हेतुसे उत्पन्न होनेवाली अनुमितिका प्रतिरोधक होता है अर्थात् " पर्वतो वन्हिमान् प्रमेयत्वात्" इत्यादि स्थलमें प्रमेयत्वरूप हेतुमें व्यभिचाररूप दोषज्ञान हुआहै इसलिये इसी हेतुसे उत्पन्न होनेवाली अनुमितिका प्रतिबन्धक हो सकताहै. यदि इसी स्थलमें धूमरूप हेत्वंतरसे अनुमिति होवे तो वह दोषज्ञान उसका प्रतिबन्धक नहींहै.

तेनैकेहेतौ व्यभिचारग्रहे हेत्वन्तरेणानुमित्युत्पत्तेस्तद्भावाद्यनवगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति संक्षेपः ।

भाषा—एवं एकहेतुविषयक व्यभिचारज्ञान होय तो हेत्वन्तरसे अनुमिति होनेमें कोई बाधक नहीं है और व्यभिचार ज्ञानको साध्याभावादिकोंका अनवगाहन करनेवाला होनेसे अनुमितिका विरोधि न होनेसेभी अव्याप्तिरूप दोषप्रयुक्त हानि नहींहै. भाव यह कि—साध्याभावका अवगाहन करनेसे बाधादिदोष साक्षात् अनुमितिके प्रतिबन्धक हो सकतेहैं व्यभिचारादि दोष साक्षात् साध्याभावावगाही नहींहै; इसलिये साक्षात् अनुमितिके प्रतिबन्धकभी नहींहै किन्तु पूर्वोक्त रीतिसे अनुमितिकारण व्याप्तिज्ञानादिके प्रतिबन्धक हैं;इसलिये इनमें परंपरया प्रतिबन्धकताहै परंतु पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणमें 'अन्यतरका' निवेश करनेसे अव्याप्ति नहींहै. यह संक्षेपसे हेत्वाभासमात्रका सामान्य लक्षण दिखलायाहै.

यादृशपक्षसाध्यहेतौ यावन्तो दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम् । पञ्चकथनं तु तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण । एवं च साधारण्याद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम् ॥ ७१ ॥

भाषा—इस संसारमात्रमें जितने पक्षसाध्य हेतुओंकी रचना होसकती है तथा उनमें जितने दोष आसकते हैं, उन सबसे भिन्न–भिन्नस्वरूप 'हेत्वाभासत्व' समझना चाहिये अर्थात् हेत्वाभासत्वरूप धर्म असंख्यात हेत्वाभासोंमें रहता है और आचार्य लोगोंका पंच हेत्वाभास कहनेका यह भाव है कि—व्यभिचारादि पांचों

दोष " वायुः गन्धवान् स्नेहात् " इस एकही स्थलमें आसकतेहैं. यहां गन्धाभाववद् जलमें वृत्ति होनेसे स्नेहरूप हेतु व्यभिचारी है १ । गन्धरूप साध्यवाली पृथ्वीमें नहीं रहता इसलिये स्नेहरूप हेतु विरुद्धभी है २ । स्नेहरूप हेतुके गन्धरूप साध्यके अभावका साधक ' अपृथिवीत्व ' रूप विरोधिहेतु विद्यमान है; इसलिये यह हेतु सत्प्रतिपक्षभी है ३ । स्नेहरूप हेतु वायुका विशेषण नहीं होसकता तथा वायुरूप पक्षमें नहीं रहता तथा ' पाकजगुणवत्त्व ' रूप उपाधिसे सोपाधिक है इसलिये असिद्धभी है ४ । स्नेहरूप हेतुके गन्धरूप साध्यका पक्षमें अभाव है इसलिये यह हेतु बाधितभी है ५ । इस रीतिके संभवस्थल तात्पर्य्यसे आचार्य्यलोगोंने पांच हेत्वाभास लिखेहैं. ऐसेही साधारणादि तीनसे भिन्न संसारमात्रको छोड़कर साधारणादि तीनहीमें ' अनैकान्तिकत्व ' रूप धर्म रहता है ॥ ७१ ॥

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥

भाषा—प्रथमका नाम साधारण है, द्वितीयका नाम असाधारण है और तृतीयका नाम अनुपसंहारी है. इसरीतिसे अनैकान्तिक तीन प्रकारका है ॥ ७२ ॥

साधारणः साध्यवदन्यवृत्तिर्हेतुः, तेन च व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियते। १।

भाषा—साध्यवालेसे अन्यमें वर्तनेवाला हेतु साधारण कहाता है. ऐसा हेतु व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक होता है अर्थात् साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपा या साध्यसामानाधिकरणरूपा व्याप्ति साध्यवालेसे अन्यमें वर्तवाले व्यभिचारी हेतुसे नहीं होसकती इस साधारण हेतुके उदाहरणस्थल " पर्वतो वन्हिमान् प्रमेयत्वात् " इत्यादि अनेक हैं १ ।

असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः, तेन साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते। तथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः । अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः । सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान् । इत्थं च शब्दोऽनित्यः शब्दात्वादित्यादौ पक्षे यदा पक्षे साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यं तत्र हेतुनिश्चयादिति वदन्ति । २ ।

भाषा—साध्यके साथ एकाधिकरणमें जो कहीं न रहे वह हेतु असाधारण होता

उदाहरणस्थल इसके " शब्दो नित्यः शब्दत्वात् " इत्यादि अनेक होसकतेहैं. कई एक मीमांसक लोग " शब्दो नित्यः शब्दत्वात् " इत्यादि स्थलकोभी इसी असाधारणका उदाहरण मानते हैं, परन्तु यह उनका मानना उचित नहीं; क्योंकि कार्यस्वरूप हेतुसे जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध होचुका तो अनित्यत्वके समानाधिकरणमें रहनेवाला शब्दत्वरूप हेतु साध्यासमानाधिकरण नहीं होसकता; इसलिये ऐसे स्थलमें असाधारण्यका भ्रम समझना चाहिये. कई एक प्राचीन लोग सपक्षमें न रहनेवाले हेतुको असाधारण कहतेहैं. निश्चित साध्यवालेका नाम सपक्ष है. इस रीतिसे "शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात् " इत्यादिस्थलमें यदि शब्दरूप पक्षमें अनित्यत्वरूप साध्यका निश्चय है तो शब्दत्वरूप हेतु असाधारण नहीं है; क्योंकि (तत्र) वहां निश्चित साध्यवाले पक्षमें हेतुकाभी निश्चयही है. एवं वह हेतु सपक्षावृत्ति नहीं है किन्तु सपक्षवृत्तिही है, इसलिये असाधारणभी नहीं है २ ।

अनुपसंहारी चात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः, तेन च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियते । ३ ।

भाषा–जिस स्थलमें पक्षसाध्य तथा हेतु अत्यन्ताभावके प्रतियोगि न होवें अर्थात् केवलान्वयि होवें उस स्थलमें अनुपसंहारी अनैकान्तिक होताहै. ऐसे हेतुका 'साध्याभावव्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्व ' रूप व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानके साथ विरोध है और यही हेतु अन्वयव्याप्तिज्ञानसे अनुमितिका जनकभी है. उदाहरणस्थल इसके "सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्" इत्यादि अनेक हैं ३ ।

विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी, अयं च साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकः । सत्प्रतिपक्षे प्रतिहेतुः साध्याभावसाधकोऽत्र तु हेतुरेवेति विशेषः । १ ।

भाषा–साध्यके समानाधिकरणमें व्यापक होकर रहनेवाले अभावका प्रतियोगी हेतु विरुद्ध होताहै. यह हेतु साध्याभावकी ग्राहिका जो सामग्री तादृश सामग्रीरूपसे अनुमितिका प्रतिबन्धक है अर्थात् स्वयं हेतुही साध्याभावके ग्रहण करवानेवाली सामग्रीरूप होजाताहै. उदाहरणस्थल इसके "शब्दो नित्यः कृतकत्वात्" इत्यादि अनेक होसकतेहैं. शंका–ऐसे विरुद्धसाध्याभाव साधक हुआ और सत्प्रतिपक्षभी साध्याभाव साधकही हुआ तो इन दोनोंका आपसमें भेद क्या है? समा०–सत्प्रतिपक्षस्थलमें दूसरा विरोधी हेतु साध्याभावका साधक होताहै और यहां विरुद्धस्थलमें तो वही एकही हेतु अपने साध्यके अभावका साधक होजाताहै; इतनाही इन दोनोंका आपसमें भेद है१ ।

साध्याभावसाधक एव हेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इत्यशक्तिविशेषोपस्थापकत्वाच्च विशेषः । २ ।

भाषा-दूसरा इन दोनोंका परस्पर यह भेद है कि-अपनी अनुमानरचनामें जिस पण्डितने विरुद्धहेतुका प्रयोग किया है वही हेतु उस पण्डितकी अशक्तिका सूचकभी है अर्थात् साध्याभावके सिद्ध करनेवाला हेतु साध्यसिद्धिके लिये सभामें जो पण्डित बोले उसकी अनभिज्ञताको दूसरे विज्ञलोग उसीवक्त जान लेतेहैं परन्तु सत्प्रतिपक्ष स्थलमें यह बात नहीं है इससे दोनोंका परस्पर भेद है २ ।

सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः । अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिकालिनागृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिविषयस्तथेत्यन्ये । अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात् परस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम् ।

भाषा-"साध्याभावस्य व्याप्यः साध्याभावव्याप्यः, स यस्मिन् वर्तते स साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः" अर्थात् साध्याभावके साथ व्याप्तिविशिष्ट जो हेतु तादृश हेतुमान् पक्षमें सत्प्रतिपक्ष व्यवहार हो सकताहै. उदाहरणस्थल इसके "ह्रदो वह्निमान् धूमात्, ह्रदो वन्ह्यभाववान् जलात्" इत्यादि अनेक होसकतेहैं यहां दोनों हेतुओंको परस्पर विरोधि होनेसे दोनोंहीमें सत्प्रतिपक्षव्यवहार होताहै इसी सत्प्रतिपक्षका लक्षण कईएक ऐसा कहते हैं कि-साध्यव्याप्यवत्त्वेन उपस्थितिकालमें जिस हेतुमें अप्रमाणता गृहीत नहीं हुई उसी कालमें उसी स्थलमें उसी हेतुमें यदि साध्याभाव व्याप्यत्वेन उपस्थितिभी किसीतरहसे अप्रमाणिका न होवे तो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष होताहै;परन्तु यह वार्ता किसीभी हेतुमें प्रतिहेतु विना दुर्घट है इसलिये सत्प्रतिपक्षस्थलमें परस्पर साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानसे उभय हेतुसे परस्पर अनुमितिका प्रतिबन्ध होनाही फल समझना चाहिये.

अत्र केचित् । यथा घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञाने विद्यमानेऽपि घटचक्षुःसंयोगे सति घटवत्ताज्ञानं जायते ।

भाषा-रत्नकोशकार नैयायिक सत्प्रतिपक्षको अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं मानता, किन्तु सन्देहउत्पादनद्वारा इसमें दूषकता मानता है. इसको स्वसिद्धान्तसे विरुद्ध जानकर खण्डनार्थ 'अत्र केचित्' इत्यादि ग्रन्थका ग्रन्थकार उपन्यास करतेहैं-रत्नकोशकार यह कहताहै कि-ज्ञानोंका परस्पर प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव अनुभवानुरोधसे जैसा जहां हो वैसाही मानना उचित है; जैसे यदि कहीं शी

विनाशि दोषवशसे घटवाली जगहमें घटाभावव्याप्यवत्ता ज्ञान होनेसेभी पश्चात् सम्यक् चक्षुःसम्बन्धसे वहांही घटवत्ताका ज्ञान होताहै. यह अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें दोषसे चक्षुःसंप्रयोगरूप गुण प्रबल होताहै.

यथा च शंखे सत्यपि पीतत्वाभावव्याप्यशंखत्ववत्ताज्ञाने पित्तादिदोषेण पीतः शंख इति धीर्जायते । एवं कोटिद्वयव्याप्यवत्तादर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव ।

भाषा—एवं जैसे अदूषितनेत्र पुरुषको शंखमें पीतत्वाभावव्याप्य शंखत्ववत्ता ज्ञान होनेसेभी पश्चात् पित्तादि दोषवशसे ' पीतः शंखः'' इत्याकारक बुद्धि होजातीहै, यहभी अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें गुणसे दोषकी प्रबलता है. एवं जैसे मन्द अन्धकारमें पुरुषको स्थाणुमें या पुरुषमें ''स्थाणुर्वा पुरुषो वा''इत्याकारक कोटिद्वयावगाहि यादि प्रत्यय हो तो ऐसे स्थलमें ' स्थाणुत्वव्याप्यवक्रकोटरादिमत्त्व ' तथा ' पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमत्त्व ' रूप कोटिद्वय व्याप्यवत्ता दर्शनसेभी कोटिद्वयका प्रत्यक्षात्मक संशयही होता है, यह अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें गुण या दोष कोई निर्बल सबल नहीं है किन्तु दोनों समबल हैं. वैसेही सत्प्रतिपक्षस्थलमेंभी दोनों हेतुओंको समबल होनेसे संशयात्मिक अनुमिति होसकतीहै.

यत्र चैककोटिव्याप्यदर्शनं तत्राधिकबलतया द्वितीयकोटिभानप्रतिबन्धान्न संशयः।फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति । तन्न । तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानाविशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिबन्धकता लाघवात् ।

भाषा—और जहां एककोटिव्याप्यवत्ता ज्ञान निःसंदेह होचुका है वहां वह कोटि अधिक बलवाली होनेसे द्वितीय कोटिका प्रतिबन्धक अवश्य होगी; इसलिये ऐसे स्थलमें संशय नहीं होसकता. कोटियोंके अधिक समबलभावकी कल्पना फलानुरोधसे हरएक स्थलमें होसकती है; (तन्न) यह कथन रत्नकोशकारका युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञानोंका परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव जहांतक हो सके लाघवानुरोधसे मानना उचित है और यह वार्ता विद्वान् लोगोंके अनुभवसिद्ध है कि जिस स्थलमें साध्याभावव्याप्यवत्ताका ज्ञान साक्षात्कारात्मक हुआ है उसी स्थलमें उसी

साध्यविषयक (उपनीत) अलौकिक सन्निकर्ष विशेषद्वारा भान अथवा अनुमिति उपमिति या शाब्दबोध कुछभी नहीं होता और प्रतिवध्य कोटिक ज्ञानोंका भिन्नभिन्न नामनिर्देश करनेसे नियमका शरीरभी गुरूभूत होताहै इसलिये कोई लघुभूत नियम कहना चाहिये. वह यही होसकता है कि " साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य लौकिक सन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्यज्ञानत्वावच्छिन्ने प्रतिबन्धकत्वम्" अर्थात् साक्षात्कारात्मक साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानकी लौकिकसन्निकर्षनिष्ठ जनकतानिरूपित जन्यताशून्य ज्ञानमात्रके प्रति तथा दोषविशेषनिष्ठ जनकतानिरूपित जन्यताशून्य ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धकता है. भाव यह कि–शाब्दबोधादिज्ञान लौकिकसन्निकर्षजन्य नहीं किंतु पदज्ञानादि जन्य है; एवं 'पीतः शंखः' यह ज्ञान दोष विशेषाजन्य नहीं किन्तु पित्तादि दोषविशेषसेही जन्य है. एवं साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानकी शाब्दबोधादिज्ञानोंके प्रति प्रतिबन्धकता और 'पीतः शंखः' इत्यादिज्ञानोंके प्रति अप्रतिबन्धकता अतिलघुभूत नियमसे सिद्ध हुई.

न तूपनीतभानविशेषे शाब्दबोधे च पृथक्प्रतिबन्धकता गौरवात्, तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वात् कथमनुमितिः । न हि लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयानुमितिः प्रमाणिकी, येनानुमितिभिन्नत्वेनापि विशेषणीयम् ।

भाषा–इसलिये साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानकी उपनीत भानविशेषमें और शाब्दबोधादिमें जुदी जुदी प्रतिबन्धकता माननी उचित नहीं क्योंकि गौरव होताहै. इस रीतिसे सत्प्रतिपक्षस्थलमेंभी साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानरूप प्रतिबन्धकके विद्यमान होनेसे अनुमिति कैसे होसकतीहै? अर्थात् कभी नहीं होसकती. क्योंकि साध्याभाव व्याप्यवत्ताज्ञाननिष्ठ प्रतिबन्धकता निरूपित प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि प्रविष्टत्व अनुमिति ज्ञानकोभी स्वतःसिद्ध है और रत्नकोशकारके अभिप्रायसे हम प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव नियमके शरीरमें (अनुमितिभिन्नत्वेन) प्रतिबध्यताका निवेशभी नहीं करसकते; क्योंकि लौकिक सन्निकर्षस्थलमें प्रत्यक्षकी तरह सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयात्मिका अनुमिति प्रामाणिकलोगोंने प्रामाणिकी नहीं मानी अर्थात् प्रामाणिकलोग लौकिक सन्निकर्षस्थलमें प्रत्यक्षमें प्रमाणता मानतेहैं और सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयानुमिति अप्रामाणिकी मानतेहैं.

यत्र कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तत्रोभयत्राप्रामाण्यज्ञानात्संशयो नान्यथा, अगृहीताप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति । ३ ।

भाषा–और रत्नकोशकारने जो "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्याकारक प्रत्यक्ष संशयका उदाहरण देकर सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयात्मक अनुमितिका स्थापन किया है, वहभी ठीक नहीं; क्योंकि संशय नियमसे वहांही हुआ करता है. जहां उभयकोटिव्याप्यवत्ता ज्ञानमें अप्रमाणता गृहीत हो प्रकारान्तरसे कभी नहीं होता और इतर ज्ञाननिष्ठ प्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबंधकता उसी ज्ञानमें रहती है. जिसमें किसी तरहसे अप्रमाणता गृहीत न हुई हो; इसलिये संशयस्थलमेंभी यही समझना चाहिये कि, जबतक उभय कोटिक निश्चयमें किसी एक निश्चयमें प्रामाण्य ग्रहण नहीं हुआ तबतक संशयज्ञानका कोई अंश निर्बल या सबल होकर अपनेमें प्रत्यक्षरूपताका भाव नहीं दिखला सकता और संशयज्ञानमें प्रमाणताभी किसीने नहीं मानी. संशयस्थलमें जब एक कोटिमें प्रमाणताका निश्चय होगा तब संशय आपही नहीं रहेगा इसलिये इसके निदर्शनसे सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयात्मिक अनुमिति माननीभी केवल मनोरथ मात्र है ३ ।

आश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वमसिद्धित्वम्।आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः। यत्र च काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति साध्यते तत्र पर्वतो न काञ्चनमय इति ज्ञाने विद्यमाने काञ्चनमयपर्वते परामर्शप्रतिबन्धः फलम् । १ ।

भाषा–आश्रयासिद्ध्यादि, भेदाभाववाले हेतुसमुदायका नाम आश्रयासिद्ध है अर्थात् 'आश्रयासिद्ध्यादि' पदसे स्वरूपासिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध साध्यासिद्ध आदि सबका ग्रहण है. इनका भेद इन सबको त्यागकर संसारमात्रमें है. उस भेदका अभाव इन सबमें है; एवं लक्षण संगत हुआ. जिस हेतुके पक्षमें पक्षतावच्छेदक धर्म न रहे वह हेतु आश्रयासिद्ध कहाता है; उदाहरणस्थल इसके "काञ्चनमयपर्वतो वन्हिमान् धूमात्" इत्यादि अनेक हैं. "पर्वत कांचनमय नहीं है" इत्याकारक ज्ञानके विद्यमान होनेसे कांचनमय पर्वतमें "वन्हिव्याप्यधूमवान् कांचनमयपर्वतः" इत्याकारक परामर्शका प्रतिबन्ध होना अर्थात् परामर्शने ना उत्पन्न होना यही इसका फल है १ ।

स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः। अत्रच ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्त्वज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम् । २ ।

भाषा–व्याप्यत्वेन अर्थात् हेतुत्वेनाभिमत हेतु यदि पक्षमें न रहे तो वह स्वरूपासिद्ध कहा जाता है; उदाहरणस्थल इसके "ह्रदो द्रव्यं धूमात्" इत्यादि

अनेक हैं, यहांभी ह्रदादि पक्षमें व्याप्यत्वेनाभिमत धूमरूप हेतुके अभावका ज्ञान होनेसे " द्रव्यव्याप्यधूमवान् ह्रदः " इत्याकारक ज्ञानरूप परामर्शका प्रतिबन्ध होनाही फल है २ ।

साध्याप्रसिद्धिरपि व्याप्यत्वासिद्धिः। सा च साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावः। तथा च काञ्चनमयवह्निमानित्यादौ साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे ज्ञाते साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम् ।

भाषा-साध्याप्रसिद्धिकी गणनाभी व्याप्यत्वासिद्धिकेही अंतर्भूत है. जिस स्थलमें साध्यमें साध्यतावच्छेदक धर्मकी सम्भावना न हो वहां साध्याप्रसिद्धि होती है; उदाहरणस्थल इसके " पर्वतः कांचनमयवन्हिमान् धूमात् " इत्यादि अनेक होसकतेहैं. यहांभी 'कांचनमयवन्हित्व' रूप साध्यतावच्छेदक धर्मके अभावका ज्ञान होनेसे " कांचनमयवन्हिव्याप्यधूमवान् पर्वतः " इत्याकारक ज्ञानरूप परामर्शका प्रतिबन्ध होनाही फल है.

एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः साधनाप्रसिद्धिः। यथा च काञ्चनमयधूमादित्यादौ अत्र हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतोर्ज्ञानाभावात् तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेरभावः फलम् । एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वं हेतुतानवच्छेदकमिति व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति । ३ । ४ ।

भाषा-ऐसेही जिस स्थलमें हेतुमें हेतुतावच्छेदक धर्मका सम्भव न हो वहां साधनाप्रसिद्धि होती है; उदाहरणस्थल इसके " पर्वतो वन्हिमान् कांचनमयधूमात् " इत्यादि अनेक होसकतेहैं. ऐसे स्थलमें कांचनमयधूमत्वरूप हेतुतावच्छेदकविशिष्ट 'कांचनमयधूम' रूप हेतुके ज्ञानको न होनेसे उस हेतुसे उत्पन्न होनेवाले व्याप्तिज्ञानकी अनुत्पत्ति ही फल है. ऐसेही गुरुधर्ममें अवच्छेदकताके ना माननेवाले कई एक विद्वान् लोग " पर्वतो वन्हिमान् नीलधूमात् ' इत्यादि स्थलकोभी व्याप्यत्वासिद्धिका उदाहरण मानतेहैं. ऐसे स्थलमें 'नीलधूमत्व' रूप धर्म समनियत लघुभूत धूमत्वरूप धर्म्मसे गुरुभूत होनेसे हेतुतावच्छेदक धर्म्म नहीं होसकता इसीसे तद्विशिष्ट व्याप्ति ज्ञानभी नहीं होसकता; यही उनके कथनका भाव है; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं है ३ । ४ ।

बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः। एतस्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम्। तद्धर्मिकतदभावनिश्चयो लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधीति।

भाषा–जिस स्थलमें पक्षमें साध्य न रहे वहां बाधदोष होताहै. वही 'एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन' हेतुके सिरपर जाताहै तो हेतुमें बाधित व्यवहार होताहै. उदाहरणस्थल इसके "वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्" इत्यादि अनेक होसकतेहैं. साक्षात् अनुमितिके प्रतिरोधक होना इस बाधरूप दोषका फल है. तद्धर्म्मिक तदभावनिश्चय अर्थात् अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानाऽनास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चय लौकिकसन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिक तद्ज्ञानमात्रके प्रति विरोधी होताहै. इस नियममें प्रथम 'तत्' पदसे प्रकृतोपयोगि धर्मका ग्रहण है; द्वितीय 'तत्' पदसे धर्मीका ग्रहण है और बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञानका नाम आहार्यज्ञान है. 'शालग्रामशिलामें ईश्वरबुद्धि करनी, प्रतिमामें देवबुद्धि करनी' इत्यादि इस ज्ञानके उदाहरणस्थल हैं. इस प्रकारका आहार्य्य जो न हो वह कहावे अनाहार्य्य; एवं संशयादि ज्ञानोंका नाम 'अप्रामाण्य ज्ञान' है. 'स्कन्दित' नाम संमिश्रितका है. अप्रामाण्यज्ञानसे स्कन्दित अर्थात् मिश्रित जो नहीं है उसका नाम 'अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित' है. ऐसे अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चयको लौकिकसन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्म्मिक तद्ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धकता है. प्रत्यक्षभिन्न ज्ञानमात्र लौकिकसन्निकर्षाजन्य है, उन लौकिक सन्निकर्षाजन्य ज्ञानोंमेंसे एक दोषविशेषसे जन्य 'पीतः शंखः' इत्यादि ज्ञानको छोड़कर यावत् ज्ञानके प्रति तद्धर्म्मिक तदभावनिश्चयको विरोधिता है. एवं प्रकृतमें वन्ह्यात्मक पक्षमें अनुष्ण स्वधर्मिक अनुष्णाभाववत्ता निश्चयको अर्थात् 'वह्निरुष्णः' इत्यादि स्पार्शनिक साक्षात्कारकोभी अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चयरूप होनेसे 'वह्निरनुष्णः' इत्यादि अनुमितिके प्रति प्रतिबन्धकता होसकतीहै; क्योंकि अनुमित्यात्मक ज्ञानभी लौकिकसन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिक तद्ज्ञानरूप प्रतिबध्य कोटिके अंतर्भूतही है–इति.

न तु तत्र संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिकारणं तद्विरोधितया च बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वमिति युक्तम्। अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः, साध्यसंशयादिकं विनाऽप्यनुमित्युत्पत्तेश्च।

भाषा–किसीएक विद्वानका यह मत है कि–पक्षमें संशय साधारण साध्यसम्बन्धका ज्ञान अनुमितिका कारण है और अनुमिति करणीभूत साध्यसंसृष्टत्व ज्ञानके

विरोधि होनेसे बाधसत्प्रतिपक्षको हेत्वाभासता है, परन्तु यह कथन उसका युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि यदि ऐसा हो तो " पृथिव्यामितरभेदः " इत्याकारक अप्रसिद्ध साध्यक अनुमिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिये. भाव यह कि-ऐसे स्थलमें अनुमितिसे पहिले पक्षमें साध्यसंसृष्टत्वका ज्ञान किसी तरहसेभी नहीं है और घनगर्जनादि स्थलोंमें साध्यसंशय आदिकसे विनाही अनुमितिज्ञानकी उत्पत्ति देखी जातीहै इसलिये पक्षमें संशयसाधारणसाध्यसंसृष्टत्वज्ञानको अनुमितिके प्रति कारण मानना उचित नहीं.

एवं साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमपि न प्रतिबन्धकम्, प्रमाणाभावात्, गौरवाच्च ।

भाषा-एवं प्राचीन लोग साध्याभावज्ञानमें प्रमात्वबुद्धिको प्रतिबन्धक मानतेहैं अर्थात् " ह्रदो वन्हिमान् " इत्यादि अनुमितिज्ञानके प्रति " ह्रदो वन्ह्यभाववान् " इत्यादिज्ञानमें " इदं ज्ञानं प्रमा " इत्याकारक ज्ञानको प्रतिबन्धकता मानतेहैं परन्तु ऐसा मानना उनका प्रमाणशून्य होनेसे समीचीन नहींहै. भाव यह कि-ज्ञाननिष्ठा प्रतिबन्धकता ग्राह्याभावमुद्रिया होतीहै और " इदं ज्ञानं प्रमा " इत्याकारक ज्ञान तो ग्राह्याभावानवगाहि है क्योंकि प्रकृतमें ग्राह्य वह्निरूप साध्य है, ग्राह्याभाव वह्न्यभाव है.उसके अवगाहन करनेवाला ज्ञान " ह्रदो वह्न्यभाववान् " इत्याकारकही होसकता है; इसलिये यही प्रतिबन्धक है. किन्तु " इदं ज्ञानं प्रमा " इत्याकारक नहीं और पक्षविशेष्यक साध्याभाव ज्ञानमें प्रमात्वनिश्चयत्वेन गुरुभूत प्रतिबन्धकता कल्पना करनकी अपेक्षया संशय निश्चय साधारणअप्रामाण्यज्ञानाभावत्वेन प्रतिबन्धकता माननीही लाघव है.

अन्यथा सत्प्रतिपक्षादावपि तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वविषयकत्वेन प्रतिबन्धकतापत्तेः । किंतु भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः प्रतिबन्धकता,तत्र भ्रमत्वशङ्काविघटनेन प्रामाण्यज्ञानं क्वचिदुपयुज्यते ।

भाषा-(अन्यथा)यदि साध्याभावज्ञानमें प्रमात्वज्ञानही प्रतिबन्धक मानें तो सत्प्रतिपक्षादि स्थलोंमेंभी अनुमितिज्ञानके प्रति साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानमें प्रमात्वविषयकत्वेनही प्रतिबन्धकता होनी चाहिये; परन्तु यह वार्ता किसी विद्वान्के स्वीकृत नहीं है, किन्तु भ्रमत्वज्ञानशून्य बाधज्ञानको प्रतिबन्धकता विद्वान्लोगोंके अभिमत है. एवं (तत्र) बाधादि स्थलमें भ्रमत्वशंकानिवारणके लिये किसी एक स्थलमें प्रामाण्यज्ञानकाभी उपयोग होताहै; अन्यथा नहीं.

नच बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचारः, पक्षे हेत्वाभावे तु स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यम् । बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात् । किंच यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्करत्वात् बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।

शंका—जिस स्थलमें आप बाधरूप दोषको मानतेहैं वहां हम यह पूछतेहैं कि—उस स्थलमें पक्षमें हेतु रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो साध्याभाववद्वृत्ति होनेसे साधारणानैकान्तिक हुआ और यदि नहीं रहता तो पक्षे हेत्वाभाव होनेसे स्वरूपासिद्ध हुआ; एवं बाधदोषप्रयुक्त बाधित हेतुको पञ्चम हेत्वाभास मानना अयुक्त है. समाधान—व्यभिचारादि ज्ञानोंसे बाधज्ञानका भेद है अर्थात् प्रतीतिभेदसे भिन्न २ व्यवहार होताहै. (किञ्च) जब कहीं व्याप्तिज्ञानपक्षधर्मितापरामर्श ज्ञानके पीछे पोल खुलनेसे बाधबुद्धि होवे तो वहां व्यभिचारज्ञान या स्वरूपासिद्धि ज्ञान कुछ नहीं करसकता; क्योंकि यह ज्ञान तो परामर्शद्वारा अनुमितिके प्रतिबन्धक हैं, स्वतंत्र नहीं;सो परामर्श तो होही चुकाहै. इनमें प्रतिबन्धकताकी योग्यताही नहीं, ऐसे स्थलमें बाधज्ञानही प्रतिबन्धक मानना होगा और व्यभिचारादि दोषोंसे असंकीर्णभी बाधस्थल होसकताहै.

एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।

भाषा—जैसे "उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्" इस स्थलमें उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नघटात्मक पक्षमें पृथ्वीत्वरूप हेतुके विद्यमान होनेसे पक्षे हेत्वाभावरूप स्वरूपासिद्ध दोषभी नहीं है और प्रतियोगिव्यधिकरणसाध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचारदोषभी नहीं है. एवं ऐसे स्थलमें गन्धव्याप्य पृथ्वीत्ववत्ताज्ञानका केवल "उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धाभाववान् " इत्याकारक बाधज्ञानही प्रतिबन्धक होसकताहै.

नच पक्षेघटे गन्धसत्त्वात् कथं बाध इति वाच्यम् । पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेनानुमितेरनुभवसिद्धत्वादिति ।

शंका—घटात्मक पक्षमें गन्ध तो रहताही है, फिर बाधज्ञान कैसा? समाधान—पक्षतावच्छेदक देशकालावच्छेदेन अनुमितिका होना विद्वानोंके अनुभवसिद्ध है अर्थात् देशकालभी पक्षताके अवच्छेदक होते हैं. एवं घटरूप पक्षका उत्पत्तिक्षणात्मक कालभी अवच्छेदक है उस घटरूप पक्षमें गन्ध यद्यपि सर्वदा विद्यमान है तथापि कार्यकारणानुरोधसे उत्पत्तिक्षणमें गन्धाभावभी अवश्यही है इस रीतिसे यह असंकीर्ण बाधस्थल है.

बाधसत्प्रतिपक्षभिन्ना ये हेत्वाभासव्याप्यास्ते तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति, अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात् । बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षस्तु भिन्न एव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपादानात् । सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः ॥ ७२ ॥

भाषा—बाधसत्प्रतिपक्षसे भिन्न सव्यभिचारादि हेत्वाभासोंके व्याप्य साधारणानैकान्तिकादि हेत्वाभासभी उनहीके मध्यपाती गिने जाते हैं अर्थात् सव्यभिचारको साधारणादिभेदसे दूषकता तीन प्रकारसे है परन्तु सव्यभिचार दोष एकहीहै ऐसेही असिद्धकोभी जानना उचित है. यदि ऐसा नहीं मानें तो हेत्वाभासोंकी गणना अधिक होजायगी और बाधदोषका व्याप्यरूप सत्प्रतिपक्ष दोष तो भिन्नही मानना उचित है; क्योंकि स्वतंत्र इच्छावाले गौतममुनिने इसको पृथक्ही ग्रहण किया है. एवं सत्प्रतिपक्षके व्याप्य दोषोंकोभी पृथक् प्रतिबन्धकता नहीं है किन्तु प्रबल होनेसे ऐसे स्थलमें सत्प्रतिपक्षदोषही प्रतिबन्धक होताहै यह संक्षेपसे समुदायार्थका निरूपण है ७२

यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः ॥

भाषा—जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंमें रहे वह साधारण कहाजाता है.

यः सपक्ष इति । सपक्षविपक्षवृत्तिः साधारण इत्यर्थः । सपक्षो निश्चितसाध्यवान्, विपक्षः साध्याभाववान् । विरुद्धवारणाय सपक्षवृत्तित्वमुक्तम् । वस्तुतो विपक्षवृत्तित्वमेव वाच्यम् । विरुद्धस्य साधारणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात् ।

भाषा—जो हेतु निश्चित साध्यवाले तथा निश्चित साध्याभाववालेमें रहे वह 'साधारण' होताहै; निश्चित साध्यवाले स्थलका नाम 'सपक्ष' है निश्चित साध्याभाववाले स्थलका नाम 'विपक्ष' है केवल विपक्षमात्रमें वर्तनेवाला हेतु विरुद्ध होताहै; एवं साधारणके लक्षणमें यदि ' सपक्षवृत्तित्व' रूप विशेषण न दिया जाय किन्तु केवल 'विपक्षवृत्तिरसाधारण' ऐसा कहा जाय तो विरुद्धमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी; उसके वारणार्थ 'सपक्षवृत्ति' यह विशेषण सफल है. वास्तवसे यदि 'विपक्षवृत्तित्व' इतनामात्रभी साधारणका लक्षण किया जाय तो दोष नहीं. एवं लक्षणसे यद्यपि विरुद्धकी साधारणता प्रतीत होगी तथापि दूषकता बीजके भेदसे भेदही रहेगा. भाव यह कि—साधारण तो अव्यभिचारज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक है और विरुद्ध सामानाधिकरण्य ग्रहका प्रतिबन्धक है; इसलिये दोनों परस्पर भिन्न हैं.

यस्तूभयस्माद्व्यावृत्तः स त्वसाधारणो मतः ॥ ७३ ॥

भाषा-जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंम नहीं रहता किंतु केवल पक्षमात्रवृत्ति है वह असाधारण कहा जाता है ॥ ७३ ॥

यस्तूभयस्मादिति । सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः । सपक्षः साध्यवत्तया निश्चितः, विपक्षः साध्यशून्यतया निश्चितः । शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्देऽनित्यत्वसन्देहस्तदा सपक्षत्वं घटादीनामेव,तद्व्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम्।यदा तु शब्देऽनित्यत्वनिश्चयः तदा नासाधारणः।इदं च प्राचां मतम्, नवीनमतं तु पूर्वमुक्तम् ॥ ७३ ॥

भाषा-सपक्षाविपक्षसे व्यावृत्तहेतुका नाम ' असाधारण है ' यहां साध्यवत्त्वेन निश्चितका सपक्षरूपसे ग्रहण है तथा साध्याभाववत्त्वेन निश्चित स्थलका विपक्षरूपसे ग्रहण है;यहां निश्चयका विशेषरूपसे निवेश है.फल इसका यह है कि-"शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्"इत्यादि स्थलमें यदि शब्दात्मक पक्षमें अनित्यत्वरूप साध्यका संदेह होगा तो सपक्ष घटपटादि होंगे; क्योंकि वह अनित्यत्वरूप साध्यवत्त्वेन निश्चित है. विपक्ष गगनादि होंगे;इन दोनोंसे व्यावृत्त केवल शब्दपक्षमात्रमें रहनेवाला शब्दत्वरूप हेतु तो असाधारण हो सकता है, परन्तु यदि शब्दमें कृतकत्वेन अनित्यत्वका निश्चय होचुका है तो शब्दत्वरूप हेतु असाधारण नहीं कहासकता. यह व्यवस्था प्राचीनसिद्धान्तसे है और नवीन सिद्धान्त तो वही है जो कि, हम"साध्यासमानाधिकरणो हेतुरसाधारणः" इत्यादि लक्षणसे पूर्व कह चुकेहैं. ॥ ७३ ॥

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।

भाषा-एवं जिस हेतुका पक्ष केवलान्वयि हो वह अनुपसंहारी कहाजाताहै.

केवलान्वयिपक्षक इति । केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षक इत्यर्थः । सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात् सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावान्नानुमितिः । इदं तु न सम्यक् । पक्षैकदेशे सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात् । अस्तु वा सहचाराग्रहस्तावताप्यज्ञानरूपाऽसिद्धिरेव न तु हेत्वाभासत्वं तस्य, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्त्वमित्युक्तम् ।

भाषा-अर्थात् केवलान्वयि धर्मावच्छिन्न पक्षस्थलमें अनुपसंहारी दोष होताहै; वह पूर्वोक्त सम्बन्धसे हेतुमें भान होता है " सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् "

इत्यादि स्थल इसके लक्ष हैं. यहां वस्तुमात्रको पक्ष होनेसे साध्यके साथ हेतुका सामानाधिकरण्य ग्रहण करनेके लिये कोई स्थल शेप नहीं है. एवं सामानाधिकरण्य ग्रहरूप कारणीभूत व्याप्तिज्ञानके न होनेसे अनुमितिरूप कार्यभी ऐसे स्थलमें नहीं होता. यह प्राचीन विद्वानोंका मन्तव्य है. परन्तु यह सम्यक् नहीं है; क्योंकि सामानाधिकरण्य ग्रहणके लिये स्थलान्तर नाभी हो तोभी पक्षके एकदेशमें साध्यहेतुके सहचारग्रहणसे अनुमिति होसकती है; अथवा साध्यके साथ हेतुके सहचारका ग्रहणाभावही रहे तौभी ऐसे स्थलमें अज्ञानरूपा असिद्धिही माननी उचित है. किन्तु ऐसे हेतुको हेत्वाभासत्व नहीं है; तथापि केवलान्वयि साध्यस्थलीय हेतुमें ' अनुपसंहारी' यह व्यवहार होता है. ऐसा कहना आवश्यक है.

यः साध्यवति नैवास्ति स विरुद्ध उदाहृतः ॥ ७४ ॥

भाषा-जो हेतु साध्यवाले स्थलमें न रहे वह विरुद्ध कहा जाता है ॥ ७४ ॥

यः साध्यवतीति । एवकारेण साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेत्वाभावो बोधितः। तथा च साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं तदर्थः॥७४॥

भाषा-मूलकारिकामें होनेवाले ' एव ' कारसे यह जानना चाहिये कि, साध्यवत्त्वावच्छेदेन कहींभी न रहनेवाला हेतु विरुद्ध कहा जाता है. एवं साध्यका व्यापकीभूत जो अभाव तादृशाभावप्रतियोगित्वही विरुद्धत्व समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

असिद्धिं विभजते, आश्रयासिद्धिरित्यादि-

भाषा-'आश्रयासिद्धि ' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार असिद्धिका विभाग करतेहैं-

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ ॥
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७५ ॥

भाषा-प्रथमका नाम आश्रयासिद्धि है; द्वितीयका नाम स्वरूपासिद्धि है; और तीसरीका नाम व्याप्यत्वासिद्धि है इस भेदसे असिद्धि तीन प्रकारकी है ॥ ७५ ॥

पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः ॥

पक्षासिद्धिरिति । आश्रयासिद्धिरित्यर्थः ।

भाषा-" मणिमयपर्वतो वह्निमान् धूमात् " इत्यादि स्थलमें आश्रयासिद्धि है.

ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा ॥७६॥

अपरेति । स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ।

भाषा-'ह्रदो द्रव्यं धूमत्वात्' इत्यादि स्थलमें स्वरूपासिद्धि है ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत् ॥

भाषा—"पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्" इत्यादि स्थलमें व्याप्यत्वासिद्धि है.

नीलधूमादिक इति । नीलधूमत्वं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकम्, स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकधर्म्मान्तराघटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात् ।

भाषा—ऐसे स्थलमें 'नीलधूमत्व' रूप धर्म गुरुभूत होनेसे हेतुताका अवच्छेदक नहीं होसकता; क्योंकि 'स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित धर्मही व्याप्यतावच्छेदक होता है. यह नियम है. इसमें 'स्व' पदसेवि वक्षित व्याप्यतावच्छेदक धर्मका ग्रहण है. प्रकृतमें वह धर्म 'नीलधूमत्व' है. 'स्व' पदसे उसीका ग्रहण होगा. एवं नीलधूमत्वसमानाधिकरण व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तर शुद्धधूमत्वरूप धर्मभी होसकता है.उस शुद्धधूमत्वरूप धर्मसे घटितही नीलधूमत्वरूप धर्म है, अघटित नहीं है; इसलिये नीलधूमत्वरूप धर्म अवच्छेदक होनेके योग्य नहीं है. किन्तु 'धूमत्व' धर्म व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित होनेसे पूर्वोक्त व्याप्यतावच्छेदकके लक्षणका लक्ष होसकता है.

धूमप्रागभावत्वसंग्रहाय स्वसमानाधिकरणेति ।

भाषा—यहां व्याप्यतावच्छेदकके लक्षणमें 'स्वसमानाधिकरण' भागका निवेश "यज्ञशाला वन्हिमती भविष्यति धूमप्रागभावात्" इत्यादि स्थलमें धूमप्रागभावत्व रूप धर्मके संग्रहके लिये समझना चाहिये अर्थात् यदि केवल 'व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित्व' मात्र कहेंगे तो 'धूमप्रागभावत्व' रूप धर्म व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित नहीं है; किन्तु व्याप्यतावच्छेदकीभूत 'धूमत्व' रूप धर्मसे घटितही है. एवं अवच्छेदक नहीं होसकेगा, परन्तु यदि लक्षणमें 'स्वसमानाधिकरण' भागका निवेश करते हैं तो दोष नहीं. क्योंकि 'धूमप्रागभावत्व' रूप धर्म धूमप्रागभावमें रहता है और धूमत्व धूममें रहता है. एवं इन दोनोंका परस्पर समानाधिकरण नहीं है. हमको स्वसमानाधिकरण वृत्ति धर्मान्तराघटितत्व व्याप्यतावच्छेदकमें विवक्षित है; व्यधिकरणवृत्ति धर्मान्तर चाहो व्याप्यतावच्छेदककी कुक्षिमें रहेभी तो हानि नहीं है.

विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता ॥ ७७ ॥

भाषा—परस्पर विरोधि हेतुओंके परामर्शस्थलमें सत्प्रतिपक्ष होता है॥७७॥

विरुद्धयोरिति । कपिसंयोगतदभावव्याप्यवत्त्वपरामर्शेऽपि न सत्प्रतिपक्षितत्वमत उक्तं विरुद्धयोरिति । तथा च स्वसाध्यवि-

रुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषय इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

भाषा-वृक्षत्वादि हेतुमें कपिसंयोग तथा कपिसंयोगाभाव व्याप्यवत्त्वपरामर्श होनेसेभी सत्प्रतिपक्षत्वव्यवहार नहीं होता; क्योंकि ऐसे स्थलमें किसी हेतुका परस्पर विरोध नहीं है. एवं स्वसाध्यसे विरुद्ध जो साध्य उस साध्यके अभावव्याप्यवत्ता परामर्शकालहीमें साध्यव्याप्यवत्ता परामर्शका विषय सत्प्रतिपक्ष होताहै." ह्रदो वह्निमान् धूमात्, ह्रदो वन्ह्यभाववान् जलात्" इत्यादिस्थलमें 'स्व' पदसे जलरूप हेतु उसका जो वन्ह्यभावरूप साध्य उससे विरुद्ध जो वह्निरूप साध्य उस साध्यका जो अभाव एतादृशाभाव व्याप्यवत्ता परामर्शकालहीमें स्वसाध्यव्याप्यवत्ता परामर्शका विषय जलरूप हेतु है. ऐसेही हरएक सत्प्रतिपक्षस्थलमें जान लेना ॥७७ ॥

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः ॥
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥

भाषा-जिस स्थलमें पक्षमें साध्य न हो वहां बाधदोष होता है, जैसे-कोई 'उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटः गन्धवान् पृथ्वीत्वात्' ऐसी अनुमानरचना करे तो ऐसे स्थलमें बाधदोष समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

साध्यशून्य इति । पक्षः पक्षतावच्छेदकविशिष्ट इत्यर्थः । तेन घटे गन्धसत्त्वेऽपि न क्षतिः । एवं मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगीत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यामनुमानखण्डम् ॥ २ ॥

भाषा-'पक्ष'शब्दसे पक्षतावच्छेदक देशकालविशिष्ट पक्षका ग्रहण करना चाहिये. एवं कालान्तरमें घटमें गन्ध रहेभी तो बाधलक्षणकी अव्याप्ति नहीं है; किंवा यह स्थल बाधलक्षणका अलक्ष नहीं होसकता. ऐसेही " मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात् " इत्यादि स्थलमेंभी बाध समझना चाहिये पूर्वोक्त स्थलमें कालकी तरह यहां देश अवच्छेदक है अर्थात् यद्यपि वृक्षमें शाखावच्छेदेन कपिसंयोग विद्यमान है एवं पक्षमें साध्याभावरूप बाधदोष बननहीं सकता तथापि मूलावच्छेदेन कपिसंयोग नहीं है. एवं मूलरूप देशके अवच्छेदक होनेसे यहां बाधदोष होसकताहै ॥ ७८ ॥

इति श्रीगोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषित न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
प्रकाशे अनुमान परिच्छेदः ॥ २ ॥

श्रीः ।

अथोपमानपरिच्छेदः ३.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

किं लोके, वेदशास्त्रेऽपि दुर्लभा यस्य चोपमा ॥
सच्चिदानन्दरूपेण वन्द्योऽसौ नानको गुरुः ॥ १ ॥

उपमितिं व्युत्पादयति , ग्रामीणस्येति–

भाषा–अवसर सङ्गतिके अभिप्रायसे ग्रन्थकार ' ग्रामीणस्य ' इत्यादि ग्रन्थसे उपमितिका निरूपण करते हैं–

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् ॥
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम्॥७९॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ॥
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥ ८० ॥

भाषा–वनस्थ गवयादि पशुके प्रति प्रथमही देखनेवाले ग्रामीण पुरुषका जो गवयादि विषयक गोनिरूपित सादृश्यदर्शन वह प्रकृतोपमितिका करण है ॥ ७९ ॥ अतिदेश वाक्यार्थका स्मरण मध्यमें व्यापार है. इस रीतिसे गवयादि शब्दोंकी व्यक्ति विशेषमें शक्तिग्रहण करनी उपमितिका फल है;अर्थात् एतद्रूपही अनुमितिहै॥८०॥

यत्रारण्यकेन केनचिद्ग्रामीणं प्रत्युक्तं गोसदृशो गवयपदवाच्य इति। पश्चाच्च ग्रामीणेन क्वचिदरण्ये गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्यज्ञानं यत्तदुपमितिकरणम् । तदनन्तरं गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं जायते तदेव व्यापारः ।

भाषा–जहां कहीं जंगलमें रहनेवाला पुरुष शहरमें रहनेवाले पुरुषको कदाचित् मिलकर यह कहे कि–जंगलमें एक ' गवय ' नामक पशु गौ जैसा होताहै. उसके पीछे कभी दैवयोगात् कार्यवशसे वही शहरमें रहनेवाला पुरुष जंगलमें जावे और उस 'गवय' नामक पशुको देखे तो ऐसे स्थलमें उस गवयमें जो गोसादृश्यका दर्शन वह होनेवाले उपमितिज्ञानका करण है. उस सादृश्यदर्शनके पीछे उसी पुरुषको " गोसदृशो गवयपदवाच्यः " इत्याकारक जो अतिदेशका वाक्य अर्थात्

जाङ्गली पुरुषका कहा हुआ वचन उस वचनके अर्थका स्मरण उस पुरुषको होताहै, वह स्मरणही होनेवाली उपमितिके प्रति मध्यमें व्यापार है.

तदनन्तरं तत्र गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं जायते तदुपमितिः, न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः, गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ॥ ७९ ॥ ८० ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यामुपमानखण्डम् ॥ ३ ॥

भाषा-उसके पीछे उस पुरुषको " गवयो गवयपदवाच्यः-अर्थात् ऐसे पशुका नामही 'गवय' है " इत्याकारक ज्ञान होताहै. इसीका नाम 'उपमितिज्ञान' है. यहां " अयं गवयपदवाच्यः " इत्याकारक उपमितिका स्वरूप मानना अर्थात् उपमितिके विषयको इदन्ताविशिष्ट करना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अन्य गवय व्यक्तियोंमें ' गवय ' पदकी शक्ति ग्रहण नहीं होसकती और वही पुरुष प्रत्येक गवयव्यक्तिमें उपमितिसेही शक्तिग्रहण कराकरे यह वार्ताभी अनुभवविरुद्ध है.

इति श्रीगोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशे उपमानपरिच्छेदः ॥ ३ ॥



श्रीः ।

अथ शब्दपरिच्छेदः ४.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिकारकं क्लेशहारकम् ॥
वाचामगोचरं देवं वन्दे श्रीगुरुनानकम् ॥ १ ॥

शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति, पदज्ञानं त्विति–

भाषा–शब्दोपमानकी परस्पर उपजीव्योपजीवक भावरूप संगतिके अभिप्रायसे मूलकार 'पदज्ञानं तु' इत्यादिग्रन्थसे शाब्दबोधका प्रकार दिखलाते हैं–

पदज्ञानं तु करणं–

भाषा–शाब्दबोधमें पदज्ञान करण है.

न तु ज्ञायमानं पदं करणं पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात् ।

भाषा–शाब्दबोधमें पदका 'ज्ञानही' करण है, किन्तु ज्ञात हुआ पद 'करण' नहीं क्योंकि पदोंके न होनेसेभी मौनिपुरुषनिर्मित श्लोकोंसे शाब्दबोध होताहै. भाव यह कि–शब्दमात्रका श्रोत्रहीसे ज्ञान होना स्वभाव है और 'पद' भी शब्दविशेषहीका नाम है. वहभी यदि ज्ञात होगा तो श्रोत्रहीसे हुआचाहिये; परन्तु जहां मौनि पुरुषने अक्षर लेखसे या हस्तादिचेष्टासे दूसरे पुरुषको कुछ बोधन किया है वहां पदके न होनेसेभी लिपि या चेष्टाद्वारा केवल पदके ज्ञानमात्रसे शाब्दबोध होताहै; इसलिये ज्ञातहुआ पद 'करण' नहीं, किन्तु पदका ज्ञानही 'करण' है.

–द्वारं तत्र पदार्थधीः ॥
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥८१॥

भाषा–पदजन्यपदार्थोपस्थितिबुद्धिमध्यमें व्यापार है पदशक्ति ज्ञान सहकारी कारण है. ऐसे स्थलमें शाब्दबोधात्मक फल होताहै ॥ ८१ ॥

पदार्थधीरिति । पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः, अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः।तत्रापि

वृत्त्यापदजन्यत्वं बोध्यम् । अन्यथा घटादिपदात्समवायसम्बन्धेनाकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः ।

भाषा–एवं पदजन्य पदार्थस्मरणमध्यमें व्यापार है. (अन्यथा) यदि पदजन्यपदार्थस्मरणको व्यापार नहीं मानें, किन्तु पदजन्यपदार्थज्ञानहीको मानें, वह ज्ञान चाहो जैसाभी हो तौ पदज्ञानवाले पुरुषको प्रत्यक्षादि प्रमाणसे पदार्थ उपस्थिति होनेसेभी शाब्दबोध होना चाहिये;परन्तु ऐसा होता कभी नहीं. यहां पदजन्यपदार्थस्मरणभी पदकी वृत्तिद्वारा समझना चाहिये.(अन्यथा) येनकेन सम्बन्धेन कहेंगे तो घटादि पदोंसे समवायसम्बन्धसे आकाशका स्मरण हुए घटादि पदोंसे आकाशका शाब्दबोध होना चाहिये.

वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः । अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः।पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धेन स्मरणानुपपत्तेः । पदज्ञानस्य च एकसम्बन्धिज्ञानविधयाऽर्थस्मारकत्वम् ।

भाषा–' वृत्ति ' नाम पदपदार्थके परस्परसम्बन्धका है वह सम्बन्ध वाच्यवाचक बोध्यबोधक ज्ञाप्यज्ञापक भावादि अनेक प्रकारका है वह वृत्ति शक्ति तथा लक्षणाभेदसे दोप्रकारकी है. (अत्रैव) यहां पदजन्यपदार्थउपस्थितिहीमें शक्तिज्ञानका उपयोग है; क्योंकि यदि पहले पदशक्तिका ग्रहण न हो तो पदज्ञान होनेसेभी उसके सम्बन्धसे पदार्थका स्मरण नहीं होता. एवं पदज्ञानको " एक सम्बन्धिज्ञानविधया " अर्थात् " एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं " इस नियमसे जैसे हाथिको देखकर हाथिवान् महावतका तथा महावतको देखकर हाथीका स्मरण होता है वैसेही पदज्ञानकोभी सम्बन्धिज्ञानविधया अर्थस्मारकता है.

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः, स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः। आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव।एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादितीश्वरेच्छायाः सत्त्वात् । आधुनिके तु सङ्केते न शक्तिरिति सम्प्रदायः। नव्यास्त्वीश्वरेच्छा न शक्तिः, किंत्विच्छैव। तेनाधुनिकसङ्केतेऽपि शक्तिरस्त्येवेति वदन्ति । शक्तिग्रहश्च व्याकरणादितः ।

भाषा–पदके साथ पदार्थके सम्बन्धविशेषका नाम 'शक्ति' है. वह सम्बन्धविशेष "अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः" अर्थात् " इस पदसे यह अर्थ जानना चाहिये "

इत्याकारक ईश्वरकी इच्छारूपही है और माता पिता आदि करके संकेतित चैत्रमैत्रादि आधुनिक नामोंमेंभी वही शक्ति विद्यमान है; क्योंकि वहांभी " एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्" अर्थात् "ग्यारादिन पीछे पिता अपने पुत्रका नाम रक्खे" इस ईश्वरसंकेतसे वह शक्ति सामान्यरूपसे विद्यमान है और आधुनिक संकेतित ' नदी वृद्धि ' आदि पदोंमें वह शक्ति नहीं है, ऐसा साम्प्रदायिक लोग मानते हैं और नवीन लोगोंका यह कथन है कि ईश्वरकी इच्छारूप पदमें शक्ति नहीं है किन्तु केवल इच्छारूपा है; वह इच्छा चाहो किसीकी हो. एवं आधुनिक संकेतित पदोंमेंभी शक्ति हो सकतीहै उस शक्तिके ग्राहक व्याकरणादि आठ हैं.

तथाहि । " शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः" ॥

भाषा-(तथाहि) वही लिखतेहैं कि-पदशक्तिका ग्रहण व्याकरणसे, उपमानसे कोशसे,आप्तवाक्यसे, व्यवहारसे,वाक्यशेषसे, विवरणसे और प्रसिद्ध पदके सान्निध्यसे वृद्ध विद्वान् लोग कहतेहैं.

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति, क्वचित्तु सति बाधके त्यज्यतेऽपि । यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते । चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्याभेदान्वयः, तच्च गौरवात् त्यज्यते, किंतु कृतौ शक्तिर्लाघवात् । कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते ।

भाषा-धातुप्रकृति प्रत्ययआदिकी शक्तिका ग्रहण "भूसत्तायाम, वर्तमाने लट्" इत्यादि व्याकरणसे होताहै; परन्तु यहभी किसी एक स्थलमें गौरवादि दोषके बाधक होनेसे त्यागना पड़ता है. जैसे वैयाकरण लोग आख्यातकी शक्ति कर्तामें मानतेहैं " चैत्रः पचति " इत्यादि स्थलमें आख्यातवाच्यकर्ताके साथ चैत्रका अभेदान्वय है अर्थात् " लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९ " इत्यादि व्याकरणानुशासनसे आख्यात वाच्य चैत्रही कर्ता है, परन्तु इस प्रकारका व्याकरणसे शक्तिग्रह गौरवभयसे त्यागना पड़ता है;किन्तु लाघवानुरोधसे आख्यातकी कृतिमें शक्ति माननीही उचित है भाव यह कि-यदि आख्यातकी कर्तामें शक्ति होगी तो शक्यतावच्छेदक कर्तृनिष्ठ धर्मविशेष कृतिकोही मानना होगा.वह कृति प्रतिकर्तृ भिन्न२ है, एवं शक्यतावच्छेदकभी नानाही होंगे, ऐसे नाना अवच्छेदक धर्मके उपस्थित होनेसे उपस्थितिकृत महा-

गौरव होगा इसलिये लाघवसे आख्यातकी कर्तृनिष्ठ धर्मविशेषकृतिहीमें शक्ति माननी उचित है. एवं शक्यतावच्छेदक धर्म यावत् कृतिओंमें रहनेवाली 'कृतित्वरूपा' जाति होगी वह यावत् कृतिके शिरपर एक है; इसलिये परमलाघव है—इति। न्यायसिद्धान्तमें जिसमें आख्यातकी शक्ति मानी गई है वह कृति चैत्रादि कर्तामें प्रकारीभूत होकर प्रतीत हुआ करती है.

न च कर्तुरनभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यम्। कर्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात्।

शंका—आपके कथनानुसार लाघवानुरोधसे यदि आख्यात प्रत्ययका अर्थ कृतिही मान लिया जाय तो अनुक्तकर्तामें " अनभिहिते २-३-१ " इस अधिकारसे " कर्तृकरणयोस्तृतीया २-३-१८ " इस सूत्रसे तृतीयाविभक्ति अर्थात् "चैत्रेण पचाति " इत्याकारक प्रयोगको साधुता होनी चाहिये. समाधान—आख्यातप्रत्ययके कृति संख्या कालादि अनेक अर्थ विद्वान्लोगोंके अनुभवसिद्ध हैं. एवं जिस स्थलमें कर्तृगतसंख्या आख्यातप्रत्ययसे अनुक्त होगी वहां तृतीयाका होना सम्भव है; अन्यथा नहीं.

संख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः। कर्मत्वादीत्यस्य इतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमर्थः।

शंका—यही कैसे जाना जाय कि—कर्तृगत संख्या वहां उक्त है और कहां अनुक्त है? समाधान—कर्मत्वाद्यनवरुद्ध और प्रथमान्तपदबोध्य कर्ता संख्याभिधानयोग्य होताहै. 'कर्मत्वाद्यनवरुद्ध' इस भागका इतर विशेषणत्वेन तात्पर्याविषयस्वरूप सांकेतिक अर्थ समझना चाहिये. एवं " इतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वविशिष्टप्रथमान्तपदोपस्थाप्यः कर्ता संख्याभिधानयोग्यः " इत्याकारक समुदित नियमका स्वरूप है.

तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः। यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति।

भाषा—एवं " चैत्र इव मैत्रो गच्छति " इत्यादिस्थलोंमें (गच्छति) उत्तरवर्ति आख्यात वाच्य संख्याका चैत्रमें अन्वय नहीं होसकता, किन्तु मैत्रहीमें होगा; क्योंकि चैत्रपदार्थ इव पदार्थसादृश्यमें विशेषणत्वेन तात्पर्यका विषय है. एवं ऐसे स्थलमें " चैत्रनिरूपितं यत् सादृश्यं तादृशसादृश्येन यत् गमनं तादृशगमनानुकूला वर्तमानकालिका या कृतिः तादृशकृत्याश्रय एकत्वसंख्याविशिष्टो मैत्रः" इत्याकारक शाब्दबोध होताहै. एवं " तण्डुलं पचाति " इत्यादिस्थलमें आख्यातार्थ

संख्याका तण्डुलमें अन्वयबोधवारणके लिये तथा "चैत्रेण सुप्यते" इत्यादि स्थलमें धात्वर्थस्वापादिकमें संख्यान्वय बोधवारणके लिये " प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः" इस-भागका निवेश है.

यद्वा धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं प्रथमदलार्थः । तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रादेर्वारणम् । स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादेर्वारणाय च द्वितीयदलम् । तस्य द्वितीयान्तोपस्थाप्यत्वाद्वारणम् ।

भाषा-(यद्वा) अथवा धात्वर्थसे अतिरिक्तका ना विशेषण होना प्रथमभागका अर्थ है. इस रीतिसेभी "चैत्र इव मैत्रो गच्छति" इस स्थलमें चैत्रादिका वारण होसकताहै; क्योंकि चैत्रपदार्थ धात्वर्थसे अतिरिक्त (इव) अर्थसादृश्यमें विशेषणही है और " स्तोकं पचति मृदु पचति " इत्यादि स्थलोंमें स्तोकादिमें आख्यातार्थसंख्याका अन्वयवारणके लिये ' प्रथमान्त ' इत्यादि द्वितीय दलका निवेश है. भाव यह कि- स्तोकादि पदार्थोंको क्रियाके विशेषण होनेसे यद्यपि उनमें धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्व स्वतःसिद्ध है. वहां आख्यातार्थसंख्याका अन्वय अवश्य हुआ चाहिये. तथापि ' प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्व ' रूप नियमका द्वितीय अंश उनमें नहीं है इसलिये आख्यातार्थसंख्या अन्वय योग्यताभी उनमें नहीं है; क्योंकि 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम् ' इस अनुशासनसे स्तोकादिपदोंको द्वितीयान्त पदोपस्थाप्यता है.

एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात् । रथो गच्छतीत्यादौ व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा, जानातीत्यादौ त्वाश्रयत्वे, नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढलक्षणा । १ ।

भाषा-एवं 'लकारमात्रकी व्यापारमें शक्ति माननी' यह मीमांसकमतभी समीचीन नहीं; क्योंकि जन्यत्वादि घटित व्यापारभी यत्नत्वजात्यपेक्षया गुरुभूतही है. एवं " रथो गच्छति-" इत्यादि स्थलमें गमनानुकूलव्यापारमें किंवा गमनानुकूल व्यापारके आश्रयमें आख्यात प्रत्ययकी (निरूढा) नित्यतात्पर्यवती लक्षणावृत्ति है. एवं "चक्षुर्जानाति" इत्यादि स्थलमें ज्ञानानुकूल व्यापार आश्रयत्वमें तथा "घटो नश्यति " इत्यादि स्थलमें नाशानुकूल व्यापाराश्रयत्वमें अर्थात् प्रतियोगित्वमें नित्यतात्पर्यवती निरूढ लक्षणाही समझनी चाहिये.-इति १.।

उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम् । २ ।

भाषा-एवं गोनिरूपित गवयनिष्ठ सादृश्यसाक्षात्काररूप उपमानसे जैसे

"गवयो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक शक्तिग्रहण होता है, वह हम उपमान निरूपण अवसरमें कहचुकेहैं २ ।

एवं कोषादपि शक्तिग्रहः सति बाधके क्वचित्त्यज्यते । यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोषे व्युत्पादिता तथापि लाघवान्नीलादौ शक्तिः, नीलादिविशिष्टे तु लक्षणेति । ३ ।

भाषा-एवं कोशसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है; परन्तु बाधक सद्भावस्थलमें इसकाभी त्याग करना पड़ता है. जैसे अमरादिकोषोंमें " गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति " अर्थात् ' शुक्ल ' आदि शब्द रूपके वाचक नियत पुलिंग रहतेहैं और रूपवालेके वाचक होवें तो रूपवालेके लिंगका आश्रयण करतेहैं. ऐसा लिखा है. परन्तु यहांभी शुक्लनीलादिपदोंकी लाघवसे शुक्लनीलादिरूपहीमें शक्ति माननी उचित है; क्योंकि ' नीलादिमत्त्व ' की अपेक्षासे 'नीलत्व आदि ' जातिके शक्यतावच्छेदक माननेमें लाघव प्रतीत होता है और नीलादिरूप विशिष्टमें नीलादि पदोंकी लक्षणा होती है; यह सिद्धान्त है. और कई एक विद्वान् यहभी कहतेहैं कि-ऐसे स्थलमें लक्षणा माननेका कुछ प्रयोजन नहीं है; क्योंकि "गुणवचनेभ्यो मतुपोलुगिष्टः" इस वार्तिकसे लुप्त 'मतुप्' प्रत्ययसेही बोध होसकता है फिर लक्षणा माननी निष्फल है ३ ।

एवमाप्तवाक्यादपि, यथा कोकिलः पिकपदवाच्य इत्यादिशब्दात् पिकादिपदशक्तिग्रहः । ४ ।

भाषा-ऐसेही यथार्थवक्ता पुरुषके कथनसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है जैसे किसी ' पिक ' पदके अर्थके न जाननेवाले बालकने किसी योग्यपुरुषसे पूंछा कि-' पिक ' किसको कहतेहैं? तो उस योग्यपुरुषने कहा कि-'पिक' नाम कोकिलाका है तो ऐसे स्थलमें ' पिक' पदके अर्थको न जाननेवाले बालकको उस आप्त पुरुषके वचनसे ' पिक ' पदकी शक्तिका ग्रहण होजाता है ४ ।

एवं व्यवहारादपि । यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तं, तच्छ्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतस्तदवधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेति शब्दप्रयोज्यमित्यवधारयति ततश्च घटं नय गामानयेत्यादावावापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां

कार्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति । इत्थं च भूतले नीलो घट इत्यादिशब्दान्न शाब्दबोधः, घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात्, कार्यताबोधं प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात् तदभावान्न शाब्दबोध इति केचित् । तन्न । प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्त्यवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात् । अत एव 'चैत्र पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादौ मुखप्रसादमुखमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छाब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति । तथाच व्यभिचारात् कार्यान्विते न शक्तिः । न च तत्र तं पश्येत्यादिशब्दान्तरमध्याहार्यम्, मानाभावात् । 'चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च' इत्यादौ तदभावाच्च। इत्थं च लाघवादन्वितघटेऽपि शक्तिं त्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिमवधारयति ।८।

भाषा—ऐसेही व्यवहारसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है; जैसे (प्रयोजक) आज्ञा करनेवाले बड़े वृद्धने छोटे वृद्धको आज्ञा करी कि, " घटमानय—अर्थात् घटको लेआओ " तो ऐसे वचनको सुनकर छोटा वृद्ध घटको लाया. उस घटके लानेको देखकर पास खड़ा हुआ बालक यह निश्चय करता है कि,ऐसा घटका लाना रूप कार्य " घटमानय " इत्याकारकशब्दके उच्चारण करनेसे हुआ है. उसके कुछ काल पीछे फिर बड़े वृद्धने छोटे वृद्धसे कहा कि-" घटं नय, गामानय—अर्थात् घट लेजाओ और गौको लेआओ." जब छोटे वृद्धने आज्ञा मानकर वैसेही किया, तो समीपवर्ति बालक घटके लाने तथा लेजानेसे ' घट ' पदकी शक्ति कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्तिविशेषमें निश्चित करता है. एवं इत्यादि व्यवहार जहां होता है वहांही घटादि पदोंकी शक्ति कार्यान्वित घटादिमें बालक ग्रहण करलेता है परन्तु ऐसे स्थलमें कोशको शक्तिका ग्राहक न माननेवाला प्रभाकर यह कहता है कि—घटादि पदोंकी शक्तिका ग्रहण नियमसे कार्यान्वित घटादिमेंही होता है; अन्यथा नहीं. (इत्थञ्च) इस रीतिसे " भूतले नीलो घटः " इत्यादि शब्दोंसे शाब्दबोध नहीं होता; क्योंकि घटादि पदोंका कार्यान्वित घटादिके बोधमें सामर्थ्य निश्चित है और कार्यता बोधनमें केवल लिङादिकोंकाही सामर्थ्य है और "भूतले नीलो घटः" इत्यादि स्थलमें कार्यताके बोधक लिङादिका अभाव है. इसलिये इत्यादि

स्थलमें शाब्दबोध नहीं होता यह सब प्रभाकरका मन्तव्य है; (तन्न) सो समीचीन नहीं है. प्रथम कालमें बालकको यद्यपि घटादिके आवापोद्वापद्वारा घटादि पदोंकी कार्यान्वित घटादिमेंही शक्तिका ग्रहण होताहै; तथापि 'कार्यत्वान्वितघटशाब्दत्व' की अपेक्षासे केवल 'घटशाब्दत्व' को कार्य्यतावच्छेदक माननेमें लाघव है. इसलिये पीछेसे कार्य्यान्वितघटादिमें शक्तिअवधारणका परित्याग करनाही उचित है. (अतएव) कार्यत्वाविषयक बोधके प्रति पदोंको कारणता है, इसीलिये मैत्रके चैत्रके प्रति "चैत्र!पुत्रस्ते जातः' कन्या ते गर्भिणी जाता-अर्थात् हे चैत्र! तेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआहै और कन्या तेरी गर्भिणी होगईहै" इत्यादि वाक्य उच्चारण स्थलमें समीपवर्ति तीसरा पुरुष एकही वाक्य सुननेसे चैत्रके मुखकी प्रसन्नता तथा मलिनताको देखकर चैत्रके सुख तथा दुःखका अनुमान करके उस सुख-दुःखकी कारणता उस कालमें और किसीमें प्रतीत नहीं होती तो परिशेषसे मैत्रके उच्चारण किये शब्दजन्यबोधमें कारणताका निर्धारण करके तादृशशाब्दबोधहेतुत्वेन उस मैत्रोच्चरित शब्दहीको निश्चय करताहै. (तथाच) एवं "घटादिपदानां कार्य्यान्वितघटादिबोध एव सामर्थ्यम्" इत्याकारक नियमका 'चैत्र पुत्रस्ते' इत्यादिस्थलमें व्यभिचार होनेसे घटादिपदोंकी कार्यान्वित घटादिमें शक्ति माननी उचित नहीं. शंका-"चैत्र पुत्रस्ते" इत्यादि वाक्यस्थलमें 'तं पश्य' इत्यादि क्रियापदके अध्याहार करनेसे पूर्वोक्त व्यभिचार नहीं है. समाधान-इत्यादि अध्याहारमें कोई प्रमाण नहीं है और "चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च" इत्यादि स्थलमें 'तं पश्य' इत्यादि कार्य्यताके बोधक पदके अध्याहारकाभी असम्भव है. (इत्थञ्च) इस रीतिसे लाघवसे यही कहना उचित है कि अन्वितघटमेंभी शक्तिग्रहको त्यागकर केवल घटमात्रमें घटपदकी शक्तिका अवधारण समीपवर्ति बालकको होताहै ५ ।

एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः । यथा यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेषे आर्याणां प्रयोगः,कङ्गौ च म्लेच्छानां, तत्रहि "अथान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति" उक्तं च "वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" इति वाक्यशेषाद्दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते कङ्गौ, तु शक्तिभ्रमात्प्रयोगो नानाशक्तिकल्पने गौरवात् । हरिपदादौ तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम् ।६।

भा—ऐसेही वाक्यशेषसेभी शब्दकी शक्तिका ग्रहण होताहै. जैसे ' यवमय-वति ' इस वाक्यमें (आर्य्य) याजकलोग ' यव ' पदकी दीर्घशूकवाले यव में शक्ति मानतेहैं और म्लेच्छलोग ' यव ' पदसे (कङ्गु) कङ्गनीका ग्रहण हैं—ऐसा होनेसे (तत्राहि) "यवमयश्चरुर्भवति" इस स्थलमें सन्देह उत्पन्न कि ' यव ' पदसे जवोंका ग्रहण करना चाहिये या कङ्गनीका तो प्रकरणा-में ' अथान्या ओषधयः ' इत्यादि वाक्यशेषसे अर्थात् वसन्तऋतुमें सब खेतीके गिर जातेहैं परन्तु (यव) कणशशाली हुए अर्थात् दीर्घशूकविशिष्ट हुए प्रफुल्लित रहतेहैं इत्यादि वाक्यशेषसे 'यव'पदकी दीर्घशूकविशेषमें शक्तिका निर्धारण ाहै. म्लेच्छोंका 'यव' पदसे कङ्गनीका ग्रहण करना शक्ति भ्रममूलक समझना हिये, एक ' यव ' पदकी कङ्गनी तथा दीर्घशूकविशिष्ट उभयमें शक्तिमाननीभी चेत नहीं क्योंकि नानाशक्ति कल्पना करनेमें गौरव है और ' हरि ' आदि दोंमें तो एकत्र शक्तिके नियमके अभाव होनेसे अनायत्त्या नानाशक्तिकी कल्पना रनी पड़तीहै ६ ।

एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः । विवरणं तु तत्समानार्थपदान्तरेण तदर्थकथनम् । यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्घटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः । एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते । ७ ।

भाषा—ऐसेही विवरणसेभी शक्तिका ग्रहण होताहै; उसके समानार्थके कहनेवाले पदान्तरसे उसी अर्थको कहनेका नाम विवरण है. जैसे किसीने किसीको 'घटोऽस्ति' यह कहा तो उसने न समझा तो फिर उसने समझानेके लिये उसी वाक्यका विवरण किया कि ' कलशोऽस्ति ' तब वह ' कलश ' शब्दकी शक्तिको जानताही था-विवरण सुनतेही प्रथम वाक्यका अर्थभी जानगया. ऐसेही ' पचति ' इस पदका ' पाकं करोति ' यह विवरण होनेसे आख्यातमें प्रयत्नवाचकत्वकी कल्पना होसकती है ७ ।

एवं प्रसिद्धपदस्य सान्निध्यादपि शक्तिग्रहः । यथेह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीत्यादौ पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति ।८।

भाषा—ऐसेही प्रसिद्धार्थक पदकी सन्निधिसेभी पदकी शक्तिका ग्रहण होताहै-जैसे किसीने कहा कि—" इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति—अर्थात् इस आम्रके पेड़पर कोकिला मीठा २ बोल रही है " तो ऐसे स्थलमें 'पिक'पदसे विना सुभी

पदोंके अर्थके जाननेवाले पुरुषको (सहकार) आम्रादि पदोंकी सहकारतासे 'पिक' पदकी शक्ति कोकिला नामक पक्षीविशेषमें स्वयं ग्रहण होजातीहै-इति ८ ।

तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ,व्यभिचारादानन्त्याच्च । व्यक्तिं विना च जातिभानस्यासम्भवाद्व्यक्तेरपि भानमिति केचित् । तन्न । शक्तिं विना व्यक्तिभानानुपपत्तेः ।

भाषा-(तत्र) उसमेंभी मीमांसक लोग यह कहतेहैं कि-घटादिपदोंकी घटत्वादिजातिहीमें शक्ति है,किन्तु कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्तिमें नहीं. उसमें कारण यह है कि, व्यक्तिमें शक्तिग्रहणका व्यभिचार है अर्थात् जिस व्यक्तिमें शक्ति ग्रहण नहींभी करी वहांभी शाब्दबोधका उदय होताहै; परन्तु वहां शाब्दबोध कारणीभूत शक्तिज्ञान नहीं है इसलिये व्यभिचार है और यदि जातिमें शक्ति स्वीकार करें तो व्यभिचार नहीं है; क्योंकि जात्या वहांभी शक्ति गृहीत हो चुकी है और व्यक्तियां अनन्त हैं इसलिये प्रत्येक व्यक्तिमें शक्ति माननेमें गौरवभी है और व्यक्तिसे विना केवल जातिका भान तो होही नहीं सकता किन्तु जातिभासक सामग्रीही व्यक्तिका भासकभी माननी होगी; इसलिये व्यक्तिका भान तो अर्थसेही सिद्ध है; उसमें शक्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है. यह सब मीमांसकका मन्तव्य है । (तन्न) सो समीचीन नहीं है;क्योंकि यदि व्यक्तिमें पदकी शक्ति न होय तो व्यक्तिका भान नहीं हुआ चाहिये.

न च व्यक्तौ लक्षणा।अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापिव्यक्तिबोधात्। न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यम्, सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात् । नचाननुगमः, गोत्वादेरेवानुगमकत्वात् ।

शंका-हम व्यक्तिमें लक्षणा मानलेंगे. समाधान-लक्षणा वहां मानी जातीहै. जहां किसीतरहकी अनुपपत्ति होय और व्यक्तिमें तो किसीतरहकी अनुपपत्तिभी दीखनहीं पड़ती. यहां लक्षणा माननेका कौन प्रयोजन है? शंका-व्यक्तिमें शक्ति माननेमें गौरव तो है;क्योंकि व्यक्तियां अनन्त हैं इसलिये शक्तियांभी अनन्तही माननी पड़ेंगी.समाधान-यावत् व्यक्तियोंमें हम एकही शक्तिका स्वीकार करतेहैं इसलिये गौरव नहीं है.शंका-घटपटादि व्यक्तियोंको अननुगत होनेसे विषयतासम्बन्धसे शक्ति ज्ञान कारणतामें अवच्छेदकत्वधर्मका अभावरूप अननुगम होगा. समाधान-गोत्वघटत्वादि धर्मोंसे अनुगम होसक्ताहै अर्थात् गोव्यक्तिविषयक शाब्दबोधके प्रति गोत्वविशिष्टविषयक शक्तिज्ञानत्वेन कारणताके होनेसे अननुगमरूप दोष नहीं है.

किंच गौः शक्येति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः, यदि तु गोत्वं शक्यमिति शक्तिग्रहः तदा गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च न स्यात्, समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शाब्दबोधं प्रति च हेतुत्वात् ।

भाषा-(किञ्च) यदि " गौः गोपदशक्यः " इत्याकारक शक्तिज्ञान हुआ है तो व्यक्तिहीमें शक्ति अनुभवसिद्ध है और यह विशिष्टज्ञान प्रमात्मकभी होसकताहै क्योंकि आपके सिद्धान्तमें अन्यथा ख्यातिका अस्वीकार है और यदि " गोत्वं गोपादशक्यम्" इत्याकारक शक्तिज्ञान हुआहै तो गोपदसे गोत्वप्रकारक पदार्थका अर्थात् गोव्यक्तिका स्मरण तथा गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक शाब्दबोधका उदय नहीं होना चाहिये; क्योंकि यह नियमहै कि-यत्प्रकारक यद्विशेष्यक शब्दशक्तिका ग्रहण हुआहै वह शब्दशक्तिग्रह तत्प्रकारक पदार्थस्मरणके प्रति तथा तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोधके प्रति कारण होताहै.

किंच गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं वाच्यम्, गोत्वत्वं तु गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वं तथा च गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदकेऽनुप्रवेशात्तवैव गौरवम् ।

भाषा-(किञ्च) यदि गोपदकी (गोत्व) जातिहीमें शक्ति मान लीजाय तो शक्यतावच्छेदक धर्म गोत्वके सिरपर गोत्वत्वही कहना होगा. फिर वह गोत्वत्वंभी ' किमाकारक ' है!ऐसी जिज्ञासावाले पुरुषको " गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वं--अर्थात् गोव्यक्तिसे इतर व्यक्तियोंमें असमवेत होना और केवल गोव्यक्तिमात्र में समवेत होनाही गोत्वमें गोत्वत्व है" यही उत्तर कहना होगा.(तथाच) इस कथनसे गोव्यक्तियोंकाभीशक्यतावच्छेदक कोटिमेंप्रवेश होनेसे तथा शाब्दबोधकी कारणतावच्छेदककोटिमें प्रवेश होनेसे आपहीको गौरव होगा.

तस्मात्तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति ।

भाषा-(तस्मात्) इसलिये केवल जातिमें या (आकृति) अवयवसंस्थानमें या व्यक्तिमात्रमें शक्ति माननेसे (तत्तत्) उस २ गोत्वादिजाति तथा (तत्तत्) उस २ शृङ्गसास्नादि अवयवसंस्थानविशिष्ट (तत्तत्) उस २ गोआदि व्यक्तियोंके बोधकी अनुपपत्ति होनेसे बुद्धिपूर्वक शक्तिकी कल्पना जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिमें विश्रान्त होतीहै-इति ।

शक्तं पदम् । तच्चतुर्विधम् । क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढं क्वचिद्यौगिकरूढम् ।

भाषा-वाचकतासम्बन्धसे शक्तिविशिष्टका नाम ' पद ' है; वह चार प्रकारका है कहीं यौगिक है १, कहीं रूढ है २, कहीं योगरूढ है ३; और कहीं यौगिकरूढहै ४.

यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम् । १ ।

भाषा-जो अपने अवयवोंसे स्वार्थका बोधक हो वह'यौगिक' पद है; ऐसे पाचक पाठकादि अनन्त पद हैं " पचतीति पाचकः " यहां ' पचि ' धातु कर्तामें ' ण्वुल प्रत्ययका विधान है. एवं "पठतीति पाठकः " यहां ' पाठि ' धातु कर्तामें ' ण्वुल ' प्रत्ययका विधान है. एवं पाकक्रिया करनेवालेका नाम ' पाचक ' तथा पाठक्रिया करनेवालेका नाम ' पाठक ' शब्दके अवयवोंहीसे लाभ हुआ १ ।

यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्, यथा गोमण्डलादिपदम् । २ ।

भाषा-जो अवयवशक्तिकी अपेक्षासे विना समुदाय शक्तिसे स्वार्थका बोधक हो वह रूढ पद है. ऐसे ' गोमण्डलादि ' अनन्त पद हैं अर्थात् यहां ' गो ' पदकी समुदायशक्ति गौव्यक्तिमें है और मंडलपदकी समुदायशक्ति सूर्यादिरोधक कुण्डलाकार परिवारादिमें है. एवं यहां समुदायशक्तिसे शाब्दबोध होताहै, इसलिये अवयवशक्ति विचारकी कुछ आवश्यकता नहींहै. २ ।

यत्र त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा पङ्कजादिपदम् । तथाहि । पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति,समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति।न च केवलावयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यम्। रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः ।

(कुमुद) श्वेतउत्पलमें प्रयोग मान लिया जाय तो हानि क्या है ? समाधान- ऐसे स्थलमें प्राचीन लोग रूढिज्ञानको केवल यौगिकार्थज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक मानतेहैं;इसलिये अवयवशक्तिसे 'पंकज' पदका श्वेतोत्पलमें प्रयोग मानना उचित नहीं.

वस्तुतस्तु समुदायशक्त्योपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति सान्निध्यात् । यत्र रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः , यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्यप्याहुः । यत्र तु स्थलपद्मादावयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः । यदि तु स्थलपङ्कजं विजातीयमेव तदा लक्षणैव । ३ ।

भाषा-और वास्तवमें तो यह वार्ता है कि-समुदायशक्तिद्वारा उपस्थित हुए पद्ममें अवयवार्थ पंकसे उत्पन्न होनेवालेका सान्निध्यसे अन्वय होता है. भाव यह कि- अवयवशक्तिसेभी प्रथम समुदायशक्तिद्वारा उपस्थितवस्तुहीका लाभ होता है और जिस स्थलमें रूढिशक्तिसे अर्थका बाध प्रतीत होवे अर्थात् अर्थ न बन सके वहां लक्षणावृत्तिसे कुमुदादि बोधमेंही वक्ताका तात्पर्य जानना उचित है और जहां कुमुदत्वेन रूपेण कुमुदके बोधमें वक्ताका तात्पर्य ज्ञान नहीं है और पद्मत्वेन रूपेण पद्मका जहां बाध प्रतीत होरहाहै वहां केवल अवयवशक्ति मात्रहीसे निर्वाह करना उचित है. ऐसेभी कहतेहैं जहां कहीं (स्थल) सूकीभूमिमें उत्पन्न हुए पद्म आदिमें 'पङ्कज' शब्दके अवयवार्थका बाध प्रतीत हो वहां समुदायशक्तिहीसे पद्मत्वेन रूपेण पद्मका बोध होताहै और यदि स्थलमें होनेवाला पद्म जलमें उत्पन्न हुए पद्मसे विलक्षण अभिमत होय तो उसमें ' पङ्कज ' पदकी लक्षणाही माननी उचित है ३ ।

यत्रावयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातंत्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम्, यथोद्भिदादिपदम् । तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति । ४ ।

भाषा-एवं जिससे अवयवार्थका तथा रूढ्यर्थका स्वतन्त्ररूपसे बोध हो अर्थात् वस्तुविशेषको अवयवशक्तिसे तथा अन्यवस्तुविशेषको समुदायशक्तिसे बोधन करै वह पद ' यौगिकरूढ ' है; ऐसे उद्भिद आदि पद हैं. यह ' उद्भिद ' पद " ऊर्द्ध्वं भिन्नति इति उद्भिद् " इस व्युत्पत्तिसे अवयवशक्तिद्वारा (तरुगुल्म) वृक्षलतादि का बोधक है और समुदायशक्तिसे उद्भिद नामक यागकाभी बोधक है-इति ४ ।

लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥ ८२ ॥

भाषा-शक्यके सम्बन्धविशेषका नाम लक्षणा है और तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणामें बीज है ॥ ८२ ॥

लक्षणा शक्यसम्बन्धः इत्यादि । गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोधः ।

भाषा-"जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था भेदसे लक्षणा दो प्रकारकी है. उसमें प्रथम कहतेहैं-" गंगायां घोषः " इत्यादि वाक्यस्थलमें गंगापदके शक्यार्थ प्रवाहमें (घोष) पदार्थ गोपालग्रामका अन्वय नहीं होसकता और घोष पदार्थ गोपाल ग्रामका गंगापदके शक्यार्थ प्रवाहमें अन्वय करनेसे वक्ताका तात्पर्यभी नहीं बन सकता; क्योंकि जलप्रवाहमें गोपालग्रामकी स्थितिकाही असम्भव है; इसलिये " गंगायां घोषः " इस वाक्यमें ' गंगा ' पद स्वशक्यार्थ प्रवाहके तीरमें लाक्षणिक है. परम्परा सम्बन्धसे स्वार्थबोधन करनेवाला पद लाक्षणिक होता है प्रकृतमें स्वशक्य संयोगरूप ' गंगा ' पदका तीरसे परम्परासम्बन्ध है; इसलिये ' गंगा ' पद लाक्षणिक है. ऐसे स्थलमें लक्षणावृत्तिहीसे तीरका बोध होता है.

सा च शक्यसम्बन्धरूपाः। तथाहि।प्रवाहरूपशक्यार्थसम्बन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणं, ततः शाब्दबोधः । परंतु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्, यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात् , तत्र च यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा ।

भाषा-वह लक्षणा शक्यका सम्बन्धरूप होती है. (तथाहि) वह ऐसे है कि-प्रवाहरूप जो शक्यार्थ उसका संयोगसम्बन्ध तीरके साथ गृहीतही एव है. ' गंगा ' पदसे गंगातीरका स्मरण हुआ. तदनन्तर ' गंगातीरे घोषः ' यह शाब्दबोध हुआ परन्तु हरएक स्थलमें यदि अन्वयानुपपत्तिही लक्षणाका बीज मान लिया जाय तो ' यष्टीः प्रवेशय ' इत्यादि स्थलमें लक्षणा नहीं होनी चाहिये; क्योंकि (यष्टि) लाठियोंमें प्रवेशरूप अन्वयकी अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् केवल लाठियोंका प्रवेशभी ग्रहमें बनसकता है परन्तु कहनेवालेने भोजनके तात्पर्यसे यष्टियोंके प्रवेशकी आज्ञा करी है. एवं केवल लाठियोंके प्रवेशसे भोजनरूप तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे

'यष्टि' पदकी यष्टिधरमें लक्षणा करनी चाहिये अर्थात् वक्ता अपने भृत्यविशेषको यह कहता है कि, लाठीवाले साधुओंको भोजन जिमानेके लिये गृहके भीतर लेजाओ इत्यादि. औरभी अनेक उदाहरणस्थल जहत्स्वार्थाके होसकतेहैं.

एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात् । एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा । इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यते, एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात् ।

भाषा–एवं "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्, छत्रिणो यान्ति" इत्यादि स्थलोंमें 'अजहत्स्वार्थालक्षणा' है. यहां 'काक' पदकी दधिके विघातक बिडालादि जीवमात्रमें लक्षणा है; क्योंकि यहां वक्ताका भृत्यादिके प्रति कहनेका तात्पर्य यह है कि–"दृष्टि रखना; काक या और कोई जीव दधिको भक्षण न करजावे" इति । एवं 'छत्रिणो यान्ति' इस स्थलमेंभी 'छत्रि' पदकी एकसार्थवाहित्व विशिष्टमें अर्थात् एकसाथ चलनेवाले पुरुषमात्रमें लक्षणा है; क्योंकि यहांभी छातेवाले पुरुषका तथा उनके साथियोंका एकसार्थवाहित्वेन रूपेण बोध होताहै.

यदि चान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा क्वचिद्गङ्गापदस्य तीरे क्वचिद्घोषपदस्य मत्स्यादौ लक्षणेति नियमो न स्यात् ।

भाषा–लक्षणास्थलमें यह नियम है कि–जिस स्थलमें जो पद वक्ताने जिस अर्थबोधनके तात्पर्यसे उच्चारण किया है, वह पद उसी अर्थमें अवश्य लाक्षणिक होता है, परन्तु यदि अन्वयानुपपत्ति लक्षणाका बीज मान लिया जाय तो कहीं 'गंगा' पदकी तीरमें और कहीं 'घोष' पदकी मत्स्यादि जलजीवोंमें लक्षणा नहीं होनी चाहिये; क्योंकि 'गंगा' पदका तीरमें तात्पर्यग्रह स्थलमें एवं घोषपदका मत्स्यादिमें तात्पर्यग्रह स्थलमें घोषकी तीरमें तथा मत्स्यादिकोंकी प्रवाहमें अन्वयानुपपत्ति नहीं है.

इदं तु बोध्यम् । शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोधः, यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम् ।

गोस्वामिनि लक्षणा गवि चित्राभेदान्वयः। यदि त्वेकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम्।

भाषा–परन्तु यदि यहां एकदेशान्वय न स्वीकार होय तो "गम्भीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि स्थलमें 'नदी' पदकी गम्भीरनदीतीरमें लक्षणा करनी और 'गम्भीर' पदको "नदीपदं गम्भीरनदीतीरविषयकबोधजनकं भवतु" इत्याकारक वक्ताकी इच्छारूप जो तात्पर्य तादृश तात्पर्यका ग्राहक है. ऐसेही बहुव्रीहिसमासस्थलमेंभी वाक्यके अवयवहीमें लक्षणा माननी उचित है. "चित्रा गावो यस्यासौ चित्रगुः" इत्यादि बंहुव्रीहिस्थलमें यदि एकदेशान्वय स्वीकृत होय तो 'गो'पदकी गैयोंके स्वामीमें लक्षणा करनी और 'चित्रा'पदार्थका गोपदार्थके साथ अभेदान्वय करना परन्तु यदि एकदेशान्वय न अभिमत होय तो गोपदकी चित्रगैयोंके स्वामीमें लक्षणा करनी और 'चित्र' पदको पूर्वोक्त रीतिसे वक्तृतात्पर्यका ग्राहक समझना.

एवमारूढवानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरावेशकर्मणि लक्षणा, आरूढपदं च तात्पर्यग्राहकम्। एवमन्यत्रापि।

भाषा–ऐसेही "आरूढो वानरोऽयमसौ आरूढवानरो वृक्षः" इत्यादि स्थलमें 'वानर' पदकी वानरके आरोहणरूप कर्ममें लक्षणा करनी और पूर्वोक्तरीतिसे 'आरूढ' पद वक्तृतात्पर्यका ग्राहक समझना यही क्रम और और प्रयोग स्थलोंमेंभी जानलेना.

तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा। तथाहि। राजपुरुषादिपदे राजपदार्थेन पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्, अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि तथाऽन्वयबोधः स्यात्।

भाषा–एवं तत्पुरुष समासस्थलमें पूर्वपदमें लक्षणा होतीहै अर्थात् पूर्वपद लाक्षणिक होताहै. (तथाहि) जैसे "राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः" इत्यादि षष्ठीतत्पुरुष समासस्थलमें राजपदार्थके साथ पुरुषपदार्थका साक्षात् सम्बन्धसे अन्वय नहीं है; क्योंकि अव्ययनिपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंका भेद सम्बन्धसे अन्वय बोध (अव्युत्पन्न) असिद्ध है; (अन्यथा) यदि अव्ययनिपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंकाभी भेद सम्बन्धसे अन्वयबोध मानलिया जाय तो "राजा पुरुषः" इत्यादि स्थलोंमेंभी भेदसम्बन्धसे अन्वयबोध होना चाहिये.

पटो न घट इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वयान्निपातातिरिक्तेति नीलो घट इत्यादौ नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयाद्भेदेनेति ।

भाषा–"घटो न पटः" इत्यादि स्थलमें घटपटके साथ नञ् अर्थभेदका साक्षात्‌ही अन्वय होताहै अर्थात् किसीप्रत्ययार्थके द्वारा नहीं होता; इसलिये नियममें निपातातिरिक्त कहा.नञ् निपात है, इसीसे इसके योगसे भेदेन अन्वयबोध होसकताहै.परन्तु निपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंका भेदसम्बन्धसे अन्वयबोध नहीं होसकता "नीलो घटः" इत्यादि स्थलोंमें नामार्थनामार्थोंका अभेदसम्बन्धसे अन्वय होताहै; इसलिये नियममें भेदेन कहा अर्थात् निपातातिरिक्त नामार्थनामार्थका अभेदेन अन्वयबोध तो सिद्धही है परन्तु भेदसम्बन्धसे अन्वयबोध अव्युत्पन्न है "एवं राजपुरुषः"इत्यादिस्थलमेंभी निपातातिरिक्त नामार्थोंकी उपस्थिति होती है. यहांभी भेदेन अन्वयबोध नहीं होसकेगा और अभेदेन विवक्षित नहींहै इसलिये कोई उपायान्तर सोचना चाहिये.

न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्प्यमिति वाच्यम् । अस्मृतविभक्तेरपि ततो बोधोदयात् । तस्माद्राजपदादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा, तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः । द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बुध्यते तत्र न लक्षणा ।

शंका–"राजपुरुषः" इत्यादिस्थलमें राजपदोत्तरवर्ति लुप्त हुई षष्ठीविभक्तिके स्मरणकी कल्पना कर उस विभक्तिके सम्बन्धादि अर्थद्वाराही राजाका तथा पुरुषका परस्पर अन्वय होगा इसलिये पूर्वोक्त नियमके साथ विरोध नहींहै.समाधान–जिस पुरुषको विभक्तिका स्मरण नहींभी होता अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययानभिज्ञ पुरुषकोभी (ततो) "राजपुरुषः" इत्यादि वाक्यसे शाब्दबोधका उदय होना अनुभवसिद्ध है. (तस्मात्)इसलिये'राजपुरुषः' इत्यादिस्थलोंमें राजादि पदोंकी राजसम्बधीमें लक्षणा मानके उस सम्बधीका पुरुषके साथ अभेदान्वय बोध माननाही उचित है. "एवं राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः" इत्याकारक शाब्दबोध होगा. एवं "धवखदिरौ छिन्धि" इत्यादि इतरेतरद्वन्द्वस्थलमें द्वितीयाविभक्तिके द्विवचनार्थ द्वित्वप्रकारसे धव तथा खदिर दोनोंका बोध होताहै इसलिये वहां लक्षणा माननेकी अवश्यकता नहीं है.

सकत्वं च प्राणितूर्येत्यादिसूत्रेणोक्तं तत्रैव,अन्यत्रैकवचनमसाध्विति इत्याहुः।

भाषा-एवं " पञ्चमूली " इत्यादि द्विगुअर्थसमाहारस्थलमेंभी उत्तरपदकी समाहारमें लक्षणा तथा पूर्वपदको तात्पर्य ग्राहकत्व मानना उचित है और (परंतु) नवीन नैयायिक तो यह मानतेहैं कि-"अहिनकुलम् " इत्यादि स्थलमें अहि तथा नकुल दोनोंका बोध होता है किन्तु समाहारका बोध नहीं होता और एकवचन बोधित एकत्वसंख्याका अहि तथा नकुल प्रत्येकके साथ अन्वय है; इसलिये ' अहिनकुलं ' इत्यादि लक्ष समाहारद्वन्द्वका नहीं है; किन्तु समाहारसंज्ञा वहां होती है. जहां एकवचनान्तता तथा नपुंसकता " द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २ । ४ । २। इत्यादि सूत्रसे बोधित होय. एवं समाहारके उदाहरण " पाणिपादम् " इत्यादि जानने चाहिये. एवं (अन्यत्र) समाहारातिरिक्त द्वन्द्वस्थलमें यदि एकवचन होय तो असाधु जानना चाहिये (इत्याहुः) यह सब नवीनोंका कथन है.

पितरौ श्वशुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा। एवमन्यत्रापि। घटा इत्यादौ तु न लक्षणा, घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थितिसम्भवात्।

भाषा-एवं " पितरौ, श्वशुरौ " इत्यादि एकशेष समासस्थलमें ' पितृ ' पदकी पुरुषके जनक माता पिता दोनोंमें लक्षणा तथा ' श्वशुर ' पदकी स्त्रीके जनक माता पिता दोनोंमें लक्षणा है. ऐसेही और स्थलोंमेंभी जानलेना ' घटाः ' इत्यादि प्रयोगस्थलमें लक्षणया नानाघटकी उपस्थिति नहीं है किन्तु 'घट' पद उच्चारणसे घटत्वेन रूपेणही नानाघट उपस्थितिका सम्भव होसकता है.

कर्मधारयस्थले तु नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः तत्र च न लक्षणा, अत एव निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः किंतु कर्मधारयो लक्षणाभावात्।

भाषा-एवं " नीलोत्पलं " इत्यादि कर्मधारयसमासस्थलमें नीलपदार्थ उत्पलपदार्थमें अभेदसम्बन्धसे प्रकार है. इसलिये यहांभी लक्षणा नहीं है. (अतएव) कर्मधारयस्थलमें लक्षणा नहीं है. इसलिये " निषादस्थपतिं याजयेत् " इत्यादि श्रुतिवाक्यस्थलमें निषादानां स्थपतिः निषादस्थपतिः " इत्याकारक तत्पुरुषसमास का आश्रयण विद्वान् लोगोंने नहीं किया है, क्योंकि तत्पुरुष माननेसे पूर्वोक्त

रीतिसे तत्पुरुषस्थलमें लक्षणाभी माननी पड़ेगी और लक्षणा जघन्यवृत्ति है. यदि प्रकारान्तरसे शक्तिवृत्तिसे निर्वाह होय सके तो लक्षणा माननी उचित नहीं. एवं "निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति निषादस्थपतिः" इत्याकारक कर्मधारयसमासही मानना उचित है; क्योंकि लक्षणा नहीं माननी पड़ती.

न च निषादस्य सङ्करजातिविशेषस्य वेदानधिकाराद्याजनासंभव इति वाच्यम्, निषादस्य विद्याप्रयुक्तेस्तत एव कल्पनात् ।

शंका-'स्थपति' शब्द स्वामीका वाचक है. एवं इस वाक्यमें कर्मधारयसमास माननेसे निषादरूप स्थपतिकाही बोध होगा; परन्तु उसका प्रकृतमें उपयोग नहीं क्योंकि निषादनामक संकरजातिविशेषको "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" इस वचनसे वेदपठनका अधिकार नहीं और अध्ययनविधि सिद्धज्ञानके न होनेसे उसको याजनभी नहीं बन सकता. इसलिये तत्पुरुषसमासद्वाराही निषादोंके स्वामी किसी ब्राह्मण या क्षत्रियका ग्रहण करना उचित है. एवं उसको याजनका सम्भव होनेसे वाक्य सार्थक होसकता है. समाधान-निषादको याजनके लिये यथासम्भव वेदविद्याप्रयुक्तभी होना चाहिये. इस वार्ताकी कल्पनाभी हम (तत एव) निषादके प्रति श्रुतिबोधित याजनानुपपत्तिसेही करसकतेहैं.

लाघवेन मुख्यार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या कल्पनायाः फलमुखगौरवतयाऽदोषत्वादिति ।

शंका-निषादको वेदविद्याकी कल्पना करनेमें आपको गौरव होगा. समाधान-कर्मधारयसमासद्वारा प्रथम मुख्यार्थके साथ अन्वय होनेके पीछे उस अन्वयकी अनुपपत्तिसे निषादको विद्याकी कल्पना करनी फलमुखगौरव है; इसलिये वह दोष कर नहीं है.

उपकुम्भमर्द्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्सम्बन्धिनि लक्षणा पूर्वपदार्थप्रधानतया चान्वयबोध इति । इत्थं च समासे न क्वापि शक्तिः पदशक्त्यैव निर्वाहादिति ।

भाषा-एवं "उपकुम्भम्, अर्द्धपिप्पली" इत्यादि प्रयोगस्थलोंमें कुम्भ-पिप्पली आदि परपदोंकी कुम्भपिप्पली आदिके सम्बन्धिमें लक्षणा माननी. एवं "कुम्भसम्बन्ध्यभिन्नं समीपं" तथा "पिप्पलीसम्बन्ध्यभिन्नमर्द्धं" इत्याकारक पूर्वपदार्थप्रधान शाब्दबोध ऐसे स्थलोंमें हो सकतेहैं. (इत्थञ्च) इस पूर्वोक्त रीतिसे वैयाकरणोंके अभिमतसमासमें शक्ति कहींभी नहीं बन सकती; क्योंकि हरएकस्थलमें समासघटकीभूत पदशक्तिलक्षणाहीसे निर्वाह होसकता है-इति ।

आसत्तिर्योग्यताकांक्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥८२॥
कारणं -

भाषा-आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्यज्ञान ये चार शाब्दबोधमें कारण हैं ॥ ८२ ॥

आसत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकांक्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम् ॥

भाषा-अर्थात् आसत्तिका ज्ञान योग्यताका ज्ञान आकांक्षाका ज्ञान और वक्ताके तात्पर्यका ज्ञान ये चार ज्ञान शब्दमात्रके शाब्दबोधमें कारण हैं.

तत्रासत्तिपदार्थमाह, सन्निधानं त्विति-

भाषा-उनमें 'सन्निधानन्तु' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आसत्तिपदार्थको कहते हैं.

-सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते ।

भाषा-पदोंकी परस्पर (सन्निधि) समीपताका नाम 'आसत्तिः' है.

यत्पदार्थस्य यत्पदार्थेनान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः कारणम् । तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादौ न शाब्दबोधः ।

भाषा-जिस पदार्थका जिस पदार्थके साथ अन्वय अपेक्षित होय उन दोनोंकी पदोंद्वारा (अव्यवधानेन) अव्यवहितरूपसे उपस्थितिभी शाब्दबोधमें कारण है.इसलिये "गिरिर्भुक्तं अग्निमान् देवदत्तेन" इत्यादि वाक्योंसे शाब्दबोध नहीं होताहै; क्योंकि यहां गिरिपदार्थ तथा भुक्तपदार्थका परस्पर अन्वयबोध वक्ताके तात्पर्यका विषय नहीं है.किन्तु गिरिपदार्थ तथा अग्निमत् पदार्थका परस्पर अन्वयबोध वक्ताके तात्पर्यका विषय है परन्तु वे दोनों परस्पर अव्यवहित नहीं हैं .एवं ऐसे स्थलमें आसत्तिके न होनेसे शाब्दबोधभी नहींहोता.

'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यादावासत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः । आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः ।

भाषा-एवं जहां "नीलो घटो द्रव्यं पटः" इत्यादि वाक्यस्थलमें नीलपदार्थ तथा पटपदार्थके परस्पर अन्वयबोधमें वक्ताका तात्पर्य है;वहां 'नील'पदकी तथा'घट' पदकीभी परस्पर आसत्ति नहींहै.भाव यह कि-वक्ताके तात्पर्यविशिष्ट पदोंकी परस्पर

सन्निधिका नाम 'आसत्ति' है. प्रकृतमें वक्ताका तात्पर्य तो 'नील' पदार्थका 'पट' पदार्थके साथ अन्वयबोधका है और पदोंका परस्पर सन्निधान 'नील' पदका 'घट' पदके साथ है; वह सन्निधान वक्तृतात्पर्यशून्य होनेसे आसत्ति नहीं कहासकता, परंतु ऐसे स्थलमें "नीलाभिन्नो घटः" इत्यादि शाब्दबोध श्रोताको होताहै, वह केवल आसत्तिके भ्रमसे समझना चाहिये. आसत्तिके भ्रमसे शाब्दबोधमें भ्रम नाभी होय तो हानि नहींहै.

ननु यत्र 'छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः' इत्युक्तं तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तत्तत्पदस्मरणासम्भव इति चेत्। न। प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमस्य तावत्पदविषयकस्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्तेः ।

शंका—आपने अव्यवधानसे पदोंकी उपस्थिति शाब्दबोधमें कारण कही; परन्तु जहां "छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः" इत्याकारक अनेकपदघटित वाक्य वक्तानि कहाहै वहां (२७ वी कारिका) की व्याख्यामें प्रोक्त आपके "योग्य विभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्" इस सिद्धान्तानुसार उत्तरपदके स्मरणसे पूर्वपदके स्मरणका नाश होनेसे अव्यवधानरूपसे उत्तरपदके स्मरणका असम्भव है. समाधान—हरएक पदके अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारोंसे अन्तमें होनेवाले पदविषयक स्मरणका अव्यवधानसे होना सम्भव है.

नानासन्निकर्षैरेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारैरेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्। तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदस्मरणम् ।

भाषा—जैसे एकही कालमें घटचक्षुःसंयोग तथा पटचक्षुःसंयोगरूप नाना सन्निकर्षोंसे "इमौ घटपटौ" इत्याकारक एकही प्रत्यक्ष होता है; वैसेही नाना संस्कारोंसे एक स्मरणकी उत्पत्तिभी होसकती है; इसमें कोई बाधक नहीं है. पूर्वपदोंके संस्कारसहित जो अन्तिम वर्णका ज्ञान वही उस स्मरणमें उद्बोधक है. यदि नानासंस्कारोंको एक स्मरणजनकता न मानी जाय तो (कथमन्यथा) नानावर्णोंके प्रत्येक संस्कारोंसे नानावर्णगोचर एकपदका स्मरणभी कैसे होगा? अर्थात् नहीं होना चाहिये. एवं ऐसे माननेसे सर्वत्र शाब्दबोधकी अनुपपत्ति होगी; इसलिये हरएक स्थलमें पदजन्य पदार्थोपस्थिति समूहालम्बनात्मकही शाब्दबोधमात्रमें कारण माननी उचित है.

परंतु तावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खले कपोतन्यायात् तावत्प-

दार्थानां क्रियाकर्मभावेनान्वयबोधरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित् । "वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत् पतन्ति ॥ तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति" ।

भाषा-(परन्तु) यहां कई एक प्राचीन लोग ऐसे मानतेहैं कि-उन उन पदजन्य पदार्थोंके स्मरणसे एककालावच्छेदनही 'खले कपोतन्याय' से उन उन पदार्थोंका क्रियाकर्मभावसे अन्वयरूप शाब्दबोध होजाता है अर्थात् जैसे वृद्ध युवा तथा बाल अवस्थाके (कपोत) कबूतर (खले) सबीज केदारमें सभी एकही कालमें ऊपरसे उड़ते २ गिरतेहैं,वैसेही सभी पदार्थ एकही कालमें उपस्थित हुए परस्पर अन्वयको प्राप्त होतेहैं-इति ।

अपरे तु " यद्यदाकांक्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते । तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते" । तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्यप्याहुः । एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोऽपि निरस्तः । तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोत्पत्तेरिति ।

भाषा-(अपरेतु) दूसरे कई एक आचार्य ऐसा कहतेहैं कि-जो जो पद परस्पर आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधिके युक्त हैं, उन उन पदोंके साथ अन्वित हुआ पदार्थभी उन पदोंसेही ज्ञात होजाता है. (तथाच) एवं खण्डवाक्यार्थबोधके अनन्तर अर्थात् पदजन्य पदार्थबोधके अनन्तर वैसेही पदार्थस्मरणद्वारा महावाक्यार्थबोध होता है. इस पूर्वोत्तर कथनसे वैयाकरणोंके अभिमत जो (वर्णाभिव्यङ्ग्य) वर्णोंसे बोधित पदस्फोट उसकाभी निरास जानलेना चाहिये; क्योंकि पूर्व पूर्व वर्णोंके संस्कारसहित जो अन्तिम वर्णका उपलाभ, उस उपलाभ को पदका व्यञ्जक माननेसेभी निर्वाह होसकता है.

इदं तु बोध्यम् । यत्र द्वारमित्युक्तं तत्र पिधेहीति पदस्य ज्ञानादेव बोधो न तु पिधानादिरूपार्थज्ञानात्,पदजन्यपदार्थोपस्थितेस्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात् । किंच क्रियाकर्मपदानां तेन तेनैव सह साकांक्षत्वात् तेन क्रियापदं विना कथं शाब्दबोधः स्यात् ।

भाषा-(इदन्तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी विशेष जानना उचित है कि- जहां वक्ताने ' द्वारं ' इतना मात्र कहा है, वहां (पिधेहि) अर्थात् 'बन्द करो' इत्यादि पदके ज्ञानहीसे शाब्दबोध होता है किन्तु द्वारके (पिधान) निरोधनादिरूप अर्थज्ञानसे शाब्दबोध नहीं होता; क्योंकि 'तत्तत्' पदजन्य 'तत्तत्' पदार्थ उपस्थितिको तत्तत् शाब्दबोधमें हेतुता निश्चित है. (किञ्च) क्रियाकर्मादि पदोंकी उस उस विशेष रूपहीसे परस्पर आकांक्षा देखनेमें आतीहै किन्तु " द्वारं कर्मत्वं, पिधानं कृतिः " इत्याकारक विपरीत वाक्य योजनासे द्वारकर्मक पिधानात्मकान्वयबोध नहीं होसकता एवं प्रकृतमेंभी ' पिधेहि ' इस क्रियापदके विना केवल 'द्वारं' इस पदसे शाब्दबोध होना दुर्घट है.

तथा पुष्पेभ्य इत्यादौ स्पृहयतीति पदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः ।

भाषा-ऐसेही यदि ' स्पृहयति ' इत्यादि क्रियापदका अध्याहार न कियाजाय तो ' पुष्पेभ्यः ' इत्यादि कर्मपदोंमें चतुर्थीविभक्तिका होनाभी दुर्घट है अर्थात् " स्पृहेरीप्सितः । १ । ४ । ३६ । " इस अनुशासनसे कर्मत्वार्थक चतुर्थीका ' स्पृहयति ' आदिके योगहीसे विधान कियाहै; इसलिये हरएक साकांक्षित स्थलमें पदका अध्याहार अवश्य करना चाहिये.

योग्यतां निर्वक्ति, पदार्थ इत्यादिना-

भाषा-'पदार्थे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार योग्यताका निरूपण करताहै-

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ॥८३॥

भाषा-एक पदार्थमें अपर पदार्थवत्ताका नाम योग्यता कहा है ॥ ८३ ॥

एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः। तज्ज्ञानाभावाच्च 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादौ न शाब्दबोधः ।

भाषा-अर्थात् एक पदार्थमें अपरपदार्थके सम्बन्धविशेषका नाम योग्यता है. उस योग्यताका ज्ञान जहां " वन्हिना सिञ्चति " इत्यादि वाक्योंमें नहीं होता वहां शाब्दबोधभी नहीं होता अर्थात् सेचनक्रियाकी जलमें योग्यता है वह्निमें नहीं; इसलिये यहां शाब्दबोध नहीं होता.

नन्वेतस्या योग्यताया ज्ञानं शाब्दबोधात्प्राक् सर्वत्र न सम्भवति वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेत् । न । तत्तत्पदार्थस्मरणे सति

क्वचित्संशयरूपस्य क्वचिन्निश्चयरूपस्यापि योग्यताया ज्ञानस्य सम्भवात् ।

शंका—हरएकस्थलमें वाक्यार्थबोध अपूर्वही होता है; परन्तु योग्यताके प्रथम कारणता माननेमें शाब्दबोधमें वह अपूर्वता नहीं रहती. इसलिये योग्यताज्ञानको शाब्दबोधके पहले हरएक स्थलमें कारण माननेका कुछ काम नहीं है. समाधान—हरएकस्थलमें 'तत्तत्'पदजन्य 'तत्तत्' पदार्थके स्मरण होनेसे योग्यताका ज्ञान कहीं संशयरूपसे और कहीं निश्चयरूपसे शाब्दबोधके पूर्व अवश्य विद्यमान रहता है.

नव्यास्तु योग्यताया ज्ञानं न शाब्दज्ञाने कारणम्, 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादौ सेके वह्निकरणकत्वाभावरूपाऽयोग्यतानिश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः। तदभावनिश्चयस्य लौकिकसान्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोधं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम् । योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बोऽसिद्ध इति वदन्ति ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

भाषा—और नवीनलोग तो यह कहतेहैं कि— योग्यताका " ज्ञान शाब्दबोधमें कारणही नहीं है. " वन्हिना सिञ्चति " इत्यादि स्थलमें सेचनक्रियामें वह्निकरणत्वाभावरूप अर्थात् सेचनरूपा क्रिया वह्निसे नहीं होसकती इत्याकारक जो अयोग्यताका निश्चय एतादृश निश्चयको विपरीत शाब्दबोधके प्रति प्रतिबन्धकता है; क्योंकि पूर्वबाधस्थल उक्तरीतिसे अनाहार्यप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावका निश्चय लौकिकसन्निकर्षाजन्य तथा दोषविशेषाजन्य ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धक है. इसलिये शाब्दज्ञानके प्रतिभी प्रतिबन्धक होसकता है और योग्यताज्ञानके विलम्बसे शाब्दबोधमें विलम्बभी किसी स्थलविशेषमें सिद्ध नहीं है. इसलिये योग्यताका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण नहीं है—इति ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

आकांक्षां निर्वक्ति, यत्पदेनेत्यादि—

भाषा—' यत्पदेन ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आकांक्षाको कहतेहैं—

यत्पदेन विना यस्याऽननुभावकता भवेत् ।
आकांक्षा—

भाषा—जिस पदसे विना जिस पदमें (अननुभावकता) शाब्दबोधजननकी असमर्थता है उस पदकी उस पदके साथ आकांक्षा है.

येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षेत्यर्थः। क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकांक्षा।

भाषा–अर्थात् जिस 'क्रियादि' पदसे विना जिस 'कर्मादिकारक' पदका अन्वयबोध नहीं होसकता उस क्रियापदके साथ उस 'कारक' पदकी आकांक्षा है. क्रियापदसे विना केवल 'कारक' पद अन्वय बोधका जनक नहीं होता. इसलिये 'क्रिया' पदके साथ 'कारक' पदकी आकांक्षा है.

वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां सन्निधानमासत्त्या चरितार्थम्। परंतु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीयाकांक्षाज्ञानं कारणम्, तेन घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ न शाब्दबोधः।

भाषा–और वास्तवसे तो क्रियाकारकादिपदोंकी अव्यवधानरूपसे सन्निधि अंशका लाभ पूर्वोक्त आसत्तिसेही होचुका है. इसलिये क्रियाकारक पदोंकी आकांक्षाका पृथक् वर्णन करना उचित नहीं है (परन्तु) तथापि प्रत्ययमें प्रकृति उत्तरत्वरूप आकांक्षाज्ञान आसत्तिसे पृथक्रूपेण शाब्दबोधमें कारण है; इसलिये आकांक्षा ज्ञानभी पृथक् कारण है. जैसे घटनिष्ठ कर्मताबोधके प्रति 'घट' पदके अव्यवहित उत्तर (अमादि) द्वितीयाविभक्तिरूप आकांक्षाका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण है एवं 'घटः कर्मत्वं आनयनं कृतिः' इत्यादि विपरीत वाक्यस्थलोंमें "घटमानय" इत्यादि साकांक्षवाक्यके सदृश शाब्दबोध नहीं होसकता.

'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहात्तेनैव सहान्वयबोधः। पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव।

भाषा–एवं "अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्" इत्यादि उभयाकांक्षावाक्य स्थलमें वक्ताके तात्पर्यज्ञानानुरोधसे शाब्दबोध होता है. भाव यह कि–यहां 'राज' पद उत्तरसम्बन्धविशेषकी बोधिका षष्ठीविभक्ति राजपदार्थका पुत्र तथा पुरुष दोनोंमें अन्वयबोधन करतीहै. यदि पुत्रके साथ अन्वयमें वक्ताका तात्पर्य होय तो वाक्यार्थ यह होगा कि–'यह राजाका पुत्र आताहै, आगेसे जनसमुदायको कनारे करो' और यदि पुरुषके साथ अन्वयमें वक्ताका तात्पर्य होय तो वाक्यार्थ यह होगा कि–राजाका पुरुष आताहै आगेसे अपने पुत्रको कनारे करो. एवं 'पुत्र' पदके साथ

'राज' पदका तात्पर्यग्रह होनेसे पुत्रके साथही अन्वयबोध होताहै और पुरुषके साथ तात्पर्यग्रह होनेसे पुरुषके साथही अन्वयबोध होताहै—इति ।

तात्पर्यं निर्वक्ति, वक्तुरिच्छेति—

भाषा—'वक्तुरिच्छा' इत्यादि ग्रंथसे तात्पर्यार्थ कहते हैं—

—वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥८४॥

भाषा—वक्ताने श्रोताके प्रति यादृश वाक्यार्थबोधनकी इच्छासे वाक्योच्चारण कियाहै उस इच्छाका नाम तात्पर्य है ॥ ८४ ॥

यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा 'सैन्धवमानय' इत्यादौ क्वचिदश्वस्य क्वचिल्लवणस्य बोधो न स्यात् । न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनामेव शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, तेषामननुगमात् ।

भाषा—शाब्दबोधमें यदि वक्ताका तात्पर्यज्ञान कारण न होय तो "सैन्धवमानय" इत्यादि वाक्योंसे कहीं यात्राप्रसंगमें 'अश्व' का तथा कहीं भोजनादिप्रसंगमें 'लवण' का बोध होताहै, वह नहीं हुआ चाहिये. शंका—वक्तृतात्पर्यके ग्राहक जो प्रकरणादि यदि उनहीको शाब्दबोधके प्रति कारण मानकर निर्वाह होसके तो पृथक् तात्पर्य माननेकी क्या आवश्यकता है? समाधान—प्रकरणादिकोंका एकरूपसे अनुगम होना कठिन है.

तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु । इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते ।

शंका—वह सभी स्वस्वस्थलमें तात्पर्यज्ञानके जनक हैं इसलिये 'तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन' उन सबका अनुगम होसकताहै. समाधान—ऐसे गुरुभूत अनुगमसे तो तात्पर्यज्ञानहीमें कारणता माननेमें लाघव है. (इत्थञ्च) ऐसेही वेदवाक्योंमेंभी तात्पर्यज्ञानके लिये ईश्वरकी कल्पना होसकतीहै.

न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यम् । सर्गादावध्यापकाभावात् । न च प्रलय एव नास्तीति कुतः सर्गादिरिति वाच्यम् । प्रलयस्यागमप्रतिपाद्यत्वात् ।

शंका–वेदवाक्योंमें अध्यापक गुरुहीका तात्पर्यज्ञान शाब्दबोधमें कारण मान लिया जाय तो हानि क्या है? **समाधान**–प्रथमसृष्टीके आद्यकालमें अध्यापक कोई नहीं होता, वहां ईश्वरहीका तात्पर्य मानना उचित है. **शंका**–प्रपञ्चके प्रलय होनेके पीछे सर्गके आद्यकालका सम्भव होसकताहै, परन्तु प्रलयही तो नहीं होता; फिर सर्गका आद्यकालका कैसे होसकता है? **समाधान**–प्रलयका होना "नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्–अर्थात् एकप्रकाशरूप (ज्योतिः) चेतनके सिवाय दिन रात्रि आकाश भूमि इत्यादि और कुछभी न होताभया " इत्यादि शास्त्रवचनसे सिद्ध है.

इत्थंच शुकवाक्येऽपीश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम्, विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यस्य ज्ञानं कारणम् ।

भाषा–(इत्थञ्च) इस रीतिसे शाब्दबोधमात्रके प्रति तात्पर्यज्ञानको कारण होनेसे (शुक) तोते मैनादिके वचनोंमेंभी ईश्वरहीके तात्पर्यज्ञानको कारण मानना उचित है अर्थात् तोते मैनाके उच्चारण किये श्लोकोंसे पुरुषको शाब्दबोध होताहै परन्तु उनका तात्पर्य कुछ नहीं होता; इसलिये ऐसे वाक्यस्थलोंमें भगवत्तात्पर्यकी कल्पना करके कार्यकारणभावके सहचारका निर्वाह करना उचित है; परन्तु जहां शुकादिने (विसंवादि) निष्फल प्रवृत्तिजनक मिथ्यावाक्य उच्चारण कियाहै वहां उसको सिखलानेवाले पुरुषका तात्पर्यज्ञानशाब्दबोधमें कारण जानना चाहिये.

अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्, तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः । वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्करेवार्थावधारणमित्याहुः ॥ ८४ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां शब्दखण्डम् ॥ ४ ॥

भाषा–(अन्येतु) और कईएक विद्वान्लोग यह कहतेहैं कि–तात्पर्यज्ञानको हरएक स्थलमें कारणता नहींहै, किन्तु किसी नानाअर्थक " सैन्धवमानय " इत्यादि वाक्यविशेषहीमें होसकतीहै. (तथाच) एवं शुकवाक्यसे वक्तृतात्पर्यज्ञानसे विनाभी शाब्दबोध होनेमें बाधा नहींहै और वेदवाक्योंमेंभी ईश्वरका तात्पर्य माननेका कुछ काम नहीं, किन्तु (अनादि) गुरुपरम्परापरिप्राप्त (मीमांसा) लाघवज्ञानात्मक तर्ककी सहकारताहीसे अर्थका निश्चय होसकताहै–इति ॥ ८४ ॥

इति श्रीगोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषितन्यायमुक्तावली-प्रकाशे शब्दपरिच्छेदः ॥ ४ ॥

अथ स्मृतिप्रक्रिया ।

पूर्वमनुभवस्मरणभेदाद्बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम् । तत्रानुभवप्रकारा दर्शिताः, सुगमतया स्मरणं न दर्शितम्—

भाषा—पूर्व "बुद्धिस्तु द्विविधा मता" इत्यादि मूलसे अनुभव तथा स्मरण भेदसे बुद्धि दो प्रकारकी कही.उसमें अनुभवकी रीति तो प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति तथा शाब्द भेदसे चार प्रकारकी कहचुके. शेष रहा स्मरणका प्रकार सो वह सुगम है इसलिये पूर्व नहीं दिखलाया किन्तु अवसरसंगतिसे अब कहतेहैं--

तत्र हि पूर्वानुभवः कारणम् । अत्र केचित् । अनुभवत्वेन न कारणत्वं किंतु ज्ञानत्वेनैव । अन्यथा सकृदनुभूतस्थले स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात् समानप्रकारकस्मरणेन पूर्वसंस्कारस्य विनष्टत्वात् । मन्मते तु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा स्मरणान्तरं जन्यत इत्याहुः ।

भाषा—उस स्मरणात्मक ज्ञानमें पूर्वानुभव कारण है अर्थात् जो वस्तु पूर्व अनुभूत होय उसीका स्मरण होसकताहै औरका नहीं.(अत्र केचित्) परन्तु यहां कई एक विद्वान्लोग ऐसा कहतेहैं कि—स्मरणके प्रति अनुभवत्वेन रूपेण अनुभवको कारणता नहीं किन्तु ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्मसे कारणता माननीही उचित है. (अन्यथा)यदि ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्मसे कारणता न स्वीकार करीजाय तो एकवार देखी हुई वस्तुका स्मरणसे उत्तर फिर स्मरण नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि अनुभूत वस्तुके अनुभवका तथा उस अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारोंका समानप्रकारक स्मरणसे नाश होचुकाहै अर्थात् यादृश वस्तुविषयक अनुभवजन्य संस्कार थे, उद्बोधक समवधानसे तादृश वस्तुविषयक स्मरण जननानन्तर स्वयं शान्त होचुकेंगे तो स्मरणानन्तर स्मरण नहीं होनाचाहिये, परन्तु होता तो है; क्योंकि बहुतसे ऐसे प्रिय पदार्थ हैं जिनके एकवार अवलोकनसे इस जीवको वे अनेकवार (स्मरण) याद आतेहैं और मेरे मतमें तो यह दोष नहीं, क्योंकि मैं तो ज्ञानत्वेन रूपेण ज्ञानको कारणता मानता हूं. प्रथमसंस्कारोंसे जो स्मरण हुआहै वहभी एक ज्ञानही है, उस स्मरणसे फिर संस्कारोंकी उत्पत्ति, संस्कारोंसे फिर स्मरण; ऐसे अनेकवार स्मरण होसकताहै.

तन्न । यत्र समूहालम्बनोत्तरं घटपटादीनां क्रमेण स्मरणमजनिष्ट, सकलविषयकस्मरणं तु नाभूत्,तत्र फलस्य संस्कारनाशकत्वाभावात् कालस्य रोगस्य चरमफलस्य वा संस्कारनाशकत्वं वाच्यम् । तथाच न क्रामिकस्मरणानुपपत्तिः ।

भाषा-(तन्न) यह मन्तव्य समीचीन नहीं है; क्योंकि जिस स्थलमें पहले " घटपटमठाश्च" इत्याकारक समूहालम्बनात्मक अनुभव हुआहै और पीछे उद्बोधक समवधानसे घटपटादिका क्रमसे स्मरण हुआहै किन्तु समूहालम्बनात्मक स्मरण नहीं हुआ ऐसे स्थलमें समानप्रकारक स्मरणरूप फलकी संस्कारनाशकता नहींहै. इसलिये हरएक फलको संस्कारनाशकता माननी उचित नहीं, किन्तु दीर्घकालको या दीर्घरोगको या (चरम) अंतिम फलको संस्कारनाशकता माननी उचित है. एवं जहां स्मरणउत्तर वारंवार फिर स्मरण होता है वहां जिसके अनन्तर स्मरणान्तर नहीं होना उस अन्तिमस्मरणकोही संस्कारनाशकता माननी उचित है; ऐसे माननेसे स्मरणउत्तर वारंवार स्मरणकी अनुपपत्ति नहीं है.

न च पुनः पुनः स्मरणाद्दृढतरसंस्कारानुपपत्तिरितिवाच्यम् । झटित्युद्बोधकसमवधानस्य दार्ढ्यपदार्थत्वात् ।

शंका-एकही संस्कारोंसे पुनःपुनः स्मरण हुए उन संस्कारोंमें दृढतरता नहीं रहेगी अर्थात् फिर २ स्मरणरूप कार्यके जननसे वे संस्कार शिथिल पड़जायँगे. समा०-सादृश्यज्ञान एकान्तचिन्तनादि उद्बोधककी निर्विलम्ब सन्निधिही संस्कारोंमें दृढतरता है अर्थात् जिस पदार्थके संस्कार चित्तमें जमे हैं उसके जैसा पदार्थान्तर देखनेसे या उसको एकान्तमें फिर २ चिन्तन करनेसे उसके संस्कार पक्के होजातेहैं.

न च विनिगमनाविरहादेव ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यम् । विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात् ।

शंका-आपने स्मृतित्वावच्छिन्नके प्रति अनुभवत्वेन कारणता मानी और हम ज्ञानत्वेन मानतेहैं. इनमें (विनिगमना) एक पक्षके कहनेवाली युक्तिके (विरहात्) न होनेसे यदि ज्ञानत्वेनभी जनकता मान लीजाय तो हानि क्याहै? समा०-यदि विशेषधर्मसे कार्यकारणभावका व्यभिचार ज्ञात न होय तो सामान्यधर्मसे कार्यकारणभावकी कल्पना करनी निरर्थक है. यहां अनुभवत्वविशेष धर्म है,क्योंकि वह प्रत्यक्षादि चारहीमें रहताहै और ज्ञानत्व सामान्यधर्म है; क्योंकि वह भ्रम स्मरणादि सभी ज्ञानोंमें रहताहै.

कथमन्यथा दण्डस्य भ्रमिद्वारा द्रव्यत्वेन रूपेण न कारणत्वम् ।

भाषा-(कथमन्यथा) यदि सामान्यधर्मेणही कारणता स्वीकृत होय तो घटादि कार्यके प्रति दण्डको भ्रमीद्वारा द्रव्यत्वेनभी कारणता मान लेनी चाहिये भाव यह कि-यद्यपि दण्डमें दण्डत्व तथा द्रव्यत्व दो धर्म समनियतवृत्ति विद्यमान हैं, इस-

लिये द्रव्यत्वेनभी कारणताका मानना अनुचित नहीं तथापि ऐसा किसी विद्वान्को सम्मत नहीं. भाव यही कि--विशेषधर्मके होतसन्ते सामान्यधर्मसे कारणता कोई नहीं मानता.

न चान्तरालिकस्मरणानां संस्कारनाशकत्वसंशयाद्व्यभिचारसंशय इति वाच्यम् । अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्पनापेक्षया लाघवेन चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्वकल्पनेन व्यभिचारसंशयाभावात् ॥ ८४ ॥ ॥ इति स्मृतिप्रक्रिया ॥

शंका—अन्तिमस्मरणसे पहले बीचमें होनेवाले स्मरणोंसेभी संस्कारनाशकी शंका हो सकतीहै. एवं मध्यपातिस्मरणोंसे संस्कारनाशके सन्देह होनेसे स्मृतित्वावच्छिन्नके प्रति अनुभवत्वेन कार्यकारणभावके व्यभिचारकाभी सन्देह होसकताहै. सम।०—अनेक संस्कार और उनके नाशकी कल्पना करनेसे लाघवसे अन्तिमस्मरणहीकी संस्कार नाशकता कल्पना करनी उचित है. एवं: कार्यकारणभावके व्यभिचारका सन्देहभी नहीं होता—इति ॥ ८४ ॥ ॥ इति स्मृतिप्रक्रिया ॥

अथ मनोनिरूपणम् ।

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयति, साक्षात्कार इति—

भाषा—अब मूलकार निरूपणक्रमसे प्राप्त मनका ' साक्षात्कारे ' इत्यादि ग्रन्थसे निरूपण करतेहैं—

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।

भाषा—सुखदुःखादिके साक्षात् करनेमें (करण) साधनको मन कहतेहैं.

एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम् । तथाहि । सुखसाक्षात्कारः सकरणको जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः ।

भाषा—इस मूलग्रन्थसे मनमें अनुमानप्रमाण दिखलाया है. (तथाहि) सुखादिका साक्षात्कारजन्य साक्षात्कार है; इसलिये अवश्य किसी एक (करण) साधनसे जन्य है; जैसे घटादिका साक्षात्कार जन्यसाक्षात्कार है और नेत्रादि उसके कारणभी प्रसिद्ध हैं इत्याकारक अनुमान प्रमाणसे सुखादिके करणात्मक मनकी सिद्धि होतीहै.

न चैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि कारणान्तराणि स्युरिति वाच्यम् । लाघवादेकस्यैव तादृशसकलसाक्षात्कारकरणतया सि-

द्धेः। एवं दुःखादीनामसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया मनःसिद्धिर्बोद्धव्या।

शंका—ऐसेही दुःखादिके साक्षात्कारके लिये कारणान्तर मानने पडेंगे. समाधान—लाघवसे एक मनहीमें तादृश सभीके साक्षात्कारके प्रति कारणता सिद्ध हो सकतीहै. इसलिये पृथक् २ माननी अनुचित है. ऐसेही सुखादिका असमवायिकारण जो संयोग उस संयोगआश्रयत्वेनभी मनकी सिद्धि होसकतीहै. यहां अनुमान ऐसा करना कि—"सुखदुःखाद्यसमवायिकारणं संयोगः प्रतियोगित्वेन क्वचिदाश्रितः मुख्यसम्बन्धत्वात्, समवायवत्" इस अनुमानसेभी मनकी सिद्धि होसकतीहै.

मनसोऽणुत्वे प्रमाणमाह, अयौगपद्यादिति—

भाषा—'अयौगपद्यात्' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार मनके अणुत्वमें प्रमाण कहतेहैं—

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ ८५ ॥

भाषा—एककालमें अनेक ज्ञानोंके न होनेसे मनमें अणुपनेका निश्चय होताहै८५।

ज्ञानानां चाक्षुषरासनादीनां यौगपद्यमेककालोत्पत्तिर्नास्तीत्यनुभवसिद्धम्। तत्र नानेन्द्रियाणां सत्यपि विषयसन्निकर्षे यत्सम्बन्धादेकेन्द्रियेण ज्ञानमुत्पद्यते यदसम्बन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते तन्मनः, तन्मनसो विभुत्वे चासन्निधानं न सम्भवतीति न विभु मनः।

भाषा—चाक्षुषरासनादि ज्ञानोंकी एककालावच्छेदेन उत्पत्ति नहीं होती यह वार्ता अनुभवसिद्ध है. वहां नेत्रादि नानाइन्द्रियोंका अपने २ विषयके साथ सम्बन्ध हुएभी जिसके सम्बन्धसे एक इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न होताहै और जिसके ना सम्बन्ध होनेसे और इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वह मन है. (तत्) वह असन्निधान मनके विभु माननेसे नहीं बनसकता, इसलिये मन विभु नहीं है.

न च तदानीमदृष्टविशेषोद्बोधकविलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इति वाच्यम्। तथा सति चक्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः।

शंका—जिस किसी नेत्रादि विशेषइन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न हुआहै वहां उस ज्ञानके जनक अदृष्टसहकारी हैं और जिन शेष घ्राणादि इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआहै वहां उस कालमें उन ज्ञानोंके उत्पादक अदृष्टविशेष उद्बोधकके विलम्बसेही ज्ञान उत्पत्तिमें विलम्ब समझना चाहिये. समाधान—(तथा सति) दृष्टसामग्रीके होते संतेभी यदि अदृष्ट विलम्बसे कार्यका विलम्ब अङ्गीकार होय तो चक्षुःआदि इन्द्रि-

योंकी कल्पनाकीभी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् एक अदृष्टकी कल्पनाहीसे विवाह होय सकताहै.

न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदा नानेन्द्रियज्ञानमिति वाच्यम् । मनसोऽतिलाघवात् त्वरया नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्तेः । उत्पलशतपत्रभेदादिवद्यौगपद्यप्रत्ययस्य तु भ्रान्तत्वात् ।

शंका-दीर्घ (शष्कुली) जलेबी आदिके भक्षणसे तथा नाना (अवधान) प्रतीतिभाजि पुरुषोंको कैसे एकही कालमें अनेक इन्द्रियजन्य ज्ञान होताहै? भाव यह कि-गरम २ दीर्घ जलेबी आदिके भक्षणमें उसके मधुर रसका तथा गन्धका तथा कोमल उष्णस्पर्श आदिका एकही कालमें पुरुषको भान होता है. एवं एकही कालमें ज्ञानसम्बन्धि अनेक कार्य करनेवाले पुरुषभी इस संसारमें बहुत हैं. यदि मन अणु होय तो यह सब नहीं होना चाहिये. समा०-मन अत्यन्त लघु तथा वेगशाली है. इसलिये बहुत शीघ्र नाना इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होकर नाना ज्ञानोंकी उत्पत्ति होतीहै. कमलशतपत्रभेदनकी तरह ज्ञानोंमेंभी यौगपद्यप्रत्यय भ्रमरूपही समझना चाहिये अर्थात् जैसे कमलके शतपत्रको नीचे ऊपर रखकर सूचीसे भेदन करें तो सूचीभेदन क्रमसेही होगा परन्तु अतिशीघ्र होनेसे प्रतीत ऐसे होताहै कि, एकही कालमें हुआ ऐसेही ज्ञानोंमेंभी अत्यन्ताव्यवहित कालोत्पत्तिकत्वरूप दोषसे यौगपद्य उत्पत्ति प्रतीत होती है, वस्तुतः नहींहै.

न च मनसः सङ्कोचविकाशशालित्वादुभयोपपत्तिरस्त्विति वाच्यम् । नानावयवतन्नाशादिकल्पने गौरवाल्लाघवान्निरवयवस्याणुरूपस्यैव मनसः कल्पनात् । इति संक्षेपः ॥ ८५ ॥

॥ इति द्रव्यपदार्थव्याख्या समाप्ता ॥

शंका-मनको संकोचविकाशस्वभाववाला मानलिया जाय तो एक तथा नाना उभय तरहके ज्ञानकी उपपत्ति होसकतीहै अर्थात् संकोचावस्थामें मनका एकही इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होताहै इसलिये एकही ज्ञानका उत्पादक है और विकाशावस्थामें नाना इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होताहै इसलिये एकही कालमें नानाज्ञानका उत्पादक है. समा०-मनके नाना अवयव तथा उनके संकोच विकाश या ध्वंस प्रागभावादि माननेमें अतिगौरव है इसलिये लाघवसे निरवयव अणुरूप मनकी कल्पनाही साध्वी है. यह संक्षेपसे मनका निरूपण है ॥ ८५ ॥

॥ इति द्रव्यनिरूपणम् ॥

श्रीः ।

अथ गुणपरिच्छेदः ५.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

यं शरण्यं समाश्रित्य मादृशा निर्गुणा नराः ॥
सम्भवन्ति गुणागाराः सेव्योऽसौ नानको गुरुः ॥ १ ॥

द्रव्यं निरूप्य गुणं निरूपयति, अथेत्यादिना—

भाषा—द्रव्यपदार्थका निरूपण करके अवसरसंगतिके अभिप्रायसे ग्रन्थकार 'अथ' इत्यादि ग्रन्थसे गुणोंका निरूपण करतेहैं—

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ॥

भाषा—सदाही द्रव्यके आश्रित रहनेवाले गुणक्रियाशून्योंका नाम 'गुण' है.

गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत्, इदम् । द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात्, नहि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्रावच्छेदिका न्यूनातिरिक्तदेशवृत्तित्वात् । अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किंचिद्वाच्यं तदेव गुणत्वमिति सिद्धम् ।

भाषा—यदि कोई पूछे कि—गुणत्वजातिमें क्या प्रमाण है? तो उसको (इदम्) यह कहना चाहिये कि—द्रव्यकर्मसे भिन्न सामान्यवालेमें जो कारणताहै वह कारणता होनेसे अवश्य किंचित् धर्मावच्छिन्ना है. जैसे घटनिष्ठ कार्यतानिरूपित दण्डगतकारणता दण्डत्वधर्मावच्छिन्ना है. ऐसेही निरवच्छिन्न कारणताका कहींभी सम्भव नहीं है. रूप रसादिमें रहनेवाले रूपत्व रसत्वादि धर्म या द्रव्य गुण कर्म तीनोंमें रहनेवाला सत्तारूप धर्म यावत् गुणनिष्ठ कारणताका अवच्छेदक नहीं होसकता; क्योंकि रूपत्वादि धर्म न्यूनदेशवृत्ति हैं और सत्ता अधिक देशवृत्ति है और अवच्छेदक नियमसे अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्मही होताहै. इसलिये चौवीस गुणोंमें अनुगत कोई एक धर्म अवश्य कहना चाहिये. वही ' गुणत्व ' इस नामसे प्रसिद्ध होसकताहै.

द्रव्याश्रिता इति । यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्तेस्तथापि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्तान्यजातिमत्त्वं त-

दर्थः भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं तद्वत्ता च गुणानामिति ।

भाषा-(द्रव्याश्रिता इति) यद्यपि मूलोक्त 'द्रव्याश्रितत्व' इतनामात्र लक्षण नहीं बनसकता क्योंकि द्रव्याश्रयता गुणोंकी तरह कर्मोंमेंभी है. एवं गुणोंका लक्षण कर्मोंमें अतिव्याप्त होगा; तथापि द्रव्यत्वनिरूपित जो गुणोंनिष्ठ व्यापकता तादृश व्यापकताकी अवच्छेदक जो सत्तासे भिन्न 'गुणत्व' रूपा जाति तादृश जातिमत्त्व गुणोंमें सिद्ध है यही 'द्रव्याश्रिता' इत्यादि मूलका अर्थ है. द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताका अवच्छेदक गुणत्वरूप धर्म होसकताहै और तादृश गुणत्वरूप धर्मवत्ता गुणोंमेंभी आसकतीहै.

कर्मत्वं द्रव्यत्वं वा न द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात् । द्रव्यत्वत्वं सामान्यत्वादिकं च न जातिरिति तद्व्युदासः ।

भाषा-द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्म द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताके अवच्छेदक नहीं होसकते; क्योंकि यदि हरएक द्रव्यमें द्रव्य रहे या कर्म रहे तो द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकता उस द्रव्य या कर्ममें आवे तो उनमें रहनेवाले द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्मभी उस व्यापकताके अवच्छेदक बने परन्तु यह वार्ता तो है नहीं; क्योंकि आकाशादि पांचमें कोई द्रव्यान्तर समवायसम्बन्धसे नहीं रहता. एवं आकाशादि चारमें कर्मभी नहीं रहता इसलिये द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्म द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताके अवच्छेदक नहीं होसकते; द्रव्यत्वमें रहनेवाला द्रव्यत्वत्वरूप धर्म और सामान्यमें रहनेवाला सामान्यत्वरूप धर्म जातिरूप नहींहै किन्तु उपाधिरूप है; इसलिये लक्षणमें 'जाति' पदके निवेशसे इन दोनोंका वारण समझना चाहिये.

निर्गुणा इति । यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मादावपि । तथापि सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम्।जात्यादीनां न सामान्यवत्त्वं ,कर्मणो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नातिव्याप्तिः ।

भाषा-(निर्गुणा इति) यद्यपि गुणशून्यता कर्मादिकोंमेंभी है, इसलिये गुणलक्षणकी कर्मादिमें अतिव्याप्ति होगी तथापि सामान्यवाला हो और कर्मसे भिन्न होकर जो निर्गुण हो वह गुण जानना चाहिये. सामान्यविशेषादि सामान्यवाले नहीं

हैं. इसलिये उनका वारण हुआ और कर्म कर्मसे भिन्न नहीं है, इसलिये उसकाभी वारण हुआ और द्रव्य निर्गुण नहीं है इसलिये उसकाभी वारण हुआ.

निष्क्रियेति स्वरूपकथनं, न तु लक्षणं गगनादावतिव्याप्तेः ।

भाषा-मूलमें 'निष्क्रियाः' यह गुणोंका लक्षण नहीं है किन्तु स्वरूपमात्रका कथनहै. आकाशादिकोंमें अतिव्याप्ति दोषसे दुष्ट होनेसे इसको लक्षण मानना उचितभी नहीं.

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥
द्रवो गुरुत्वं स्नेहश्च वेगो मूर्त्तगुणा अमी ॥

भाषा-रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व, ॥ ८६ ॥ द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह, तथा वेग, ये दश गुण मूर्तद्रव्यहीमें रहतेहैं.

मूर्तगुणा इति । अत्र वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युपलक्षणीयः । अमूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः । लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वमेवमग्रेऽपि ।

भाषा-यहां वेगाख्य संस्कारसे स्थितिस्थापक संस्कारकाभी ग्रहण जानलेना अर्थात् वहभी मूर्तद्रव्यहीमें रहताहै; यह सब अमूर्तद्रव्यमें कदापि नहीं रहते. इन सबका अनुगत एकलक्षण (तावत्) एतद्भिन्न भिन्नत्वरूपही जानना चाहिये अर्थात् इनसे भिन्न प्रपञ्चमात्रका भेद इन दशहीमें रहेगा ऐसेही आगेभी ऐसेही लक्षण समझलेने.

धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥८७॥
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ॥

अमूर्तगुणा इति । मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः ।

भाषा-धर्म, अधर्म, भावनाख्य संस्कार, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न ॥ ८७ ॥ ये दश गुण अमूर्त द्रव्यहीमें रहतेहैं. ऐसे विद्वान् लोगोंका निश्चयपूर्वक कथन है अर्थात् ये मूर्तद्रव्योंमें कदापि नहीं रहते-इति ।

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥८८॥

उभयेषामिति । मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषा-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग, ये पांच गुण मूर्त तथा अमूर्त दोनों तरहके द्रव्योंमें रहतेहैं ॥ ८८ ॥

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ॥
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥ ८९ ॥

भाषा-संयोग, विभाग, द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व, आदि चार गुण सर्वदा अनेकाश्रितही रहतेहैं ॥ ८९ ॥

अनेकाश्रिता इति । संयोगविभागद्वित्वादीनि द्विवृत्तीनि, त्रित्वचतुष्ट्वादिकं त्रिचतुरादिवृत्तीति बोध्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा-यहां अनेक पद एकसे भिन्नमात्रका बोधक है. एवं संयोग विभाग द्वित्वादि दो द्रव्योंमें रहतेहैं और त्रित्व चतुष्ट्वादि तीनों चारोंमें रहतेहैं. ऐसे जानना चाहिये ८९

अतः शेषा गुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ॥

भाषा-इन चारसे (शेष) बाकी सभी गुण एक २ द्रव्यमें नियमसे रहतेहैं.

अतः शेषा इति । रूपरसगन्धस्पर्शैकत्वपरिमाणैकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराद‍ृष्टशब्दा इत्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, एकपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, तथा शब्द ये २२ गुण एक एकही द्रव्यमें रहतेहैं.

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ९०
अद‍ृष्टभावनाशब्दाअमी वैशेषिका गुणाः ॥

भाषा-बुद्धि आदि छः, तथा रूपादि स्पर्शान्त चार, एवं स्नेह तथा सांसिद्धिक द्रवत्व ॥९०॥ अद‍ृष्ट भावनाख्य संस्कार तथा शब्द ये सब १६ विशेष गुण कहलातेहैं.

बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना इत्यर्थः । स्पर्शान्ता रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । द्रवो द्रवत्वम् ॥ ९० ॥

भाषा-बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये षट् बुद्ध्यादि हैं; रूप रस गन्ध स्पर्श ये चार स्पर्शान्त हैं; 'द्रव' नाम द्रवणरूपा क्रियाकाभी है, उसके वारणार्थ 'द्रवत्व' यह विवरण किया है. यह निःसन्देह गुणविशेषका वाचक है ॥ ९० ॥

वैशेषिका इति । विशेषा एव वैशेषिकाः, स्वार्थे ठक्, विशेषगुणा इत्यर्थः ।

भाषा-(वैशेषिका इति) 'विशेष' तथा 'वैशेषिक' ये दोनों एकार्थबोधक शब्द हैं. केवल "विनयादिभ्यष्ठक् ५ । ४ । ३४" इस सूत्रसे किये 'ठक्' प्रत्ययकृत शब्द स्वरूप मात्रका भेद है, अर्थका नहीं. "द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति द्रव्यकर्मावृत्ति जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्" यह विशेषगुणमात्रका अनुगत एक लक्षण है; अर्थात् द्रव्यकी विभाजक उपाधिद्वय कोईएक पृथिवीत्व जलत्वादि उन दोनोंके समानाधिकरण पृथिवी जलादि उभयमें न रहनेवाली तथा द्रव्यकर्म उभयमेंभी न रहनेवाली जो बुद्ध्यादि कतिपय गुणोंमें रहनेवाली जाति, तादृश जातिमत्त्व पूर्वोक्त सभी विशेष गुणोंमें अनुगत है-इति ।

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ॥ ९१ ॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ॥

भाषा-संख्यासे आदिलेकर अपरत्व पर्यन्त सात और नैमित्तिक द्रवत्व ॥ ९१ ॥ गुरुत्व तथा वेगाख्यसंस्कार ये दश सामान्यगुण कहलाते है.

सङ्ख्यादिरिति । सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानीत्यर्थः । ॥ ९१ ॥

भाषा-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, तथा अपरत्व ये सात संख्यादि हैं ॥ ९१ ॥

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ॥ ९२ ॥
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः-

द्वीन्द्रियेति । चक्षुषा त्वचापि ग्रहणयोग्यत्वात् ।

भाषा-संख्यासे आदि लेकर अपरत्व पर्यन्त सात और द्रवत्व तथा स्नेह ॥ ९२ ॥ ये नव गुण नेत्र तथा त्वग् इन दोनों इन्द्रियोंसे ग्रहण होसकते है.

-अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ॥

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः-

बाह्येति । रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात् ।

भाषा-और रूपसे आदि लेकर चार तथा शब्द ये पांचों गुण नेत्रादि बाह्यपांचों इन्द्रियोंसे ग्रहण होतेहैं अर्थात् चक्षुः, श्रोत्र, रसना, घ्राण, तथा त्वक् इन पांचों बाह्य एक एक इन्द्रियसे यथाक्रम रूप शब्द रस गन्ध तथा स्पर्श ये पांच गुण ग्रहण होतेहैं.

-गुरुत्वादृष्टभावनाः ॥ ९३ ॥
अतीन्द्रिया विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ॥
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥ ९४ ॥

भाषा-गुरुत्व अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म तथा भावनाख्य संस्कार ये चार गुण किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होते अर्थात् इन चारोंका केवल अनुमानद्वारा लाभ होता है. और आकाशादि विभु द्रव्योंके जो शब्दादि विशेष गुणहैं वे सब अकारण गुण उत्पन्न हैं अर्थात् जैसे रूपादि कारणगुणोत्पन्न हैं वैसे ये नहीं हैं ॥ ९३॥ ९४ ॥

विभूनामिति। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा इत्यर्थः। अकारणेति। कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यंते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते, बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः कारणाभावात् ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

भाषा-भाव यह कि-" कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः २० अ० २ आह्नि १" यह कणादमुनिका सिद्धान्त है; परन्तु यह विभुके विशेषगुणोंमें नहीं घटता अर्थात् जैसे रूपादि 'स्वाश्रय समवायिसमवेतगुणजन्यत्व' सम्बन्धसे अपने कारणके गुणो-से उत्पन्न होतेहैं; वैसे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना तथा शब्द ये दश कारणगुणसे उत्पन्न नहीं हैं.
कपालादि कारणगुणसे जो घटादिकार्यमें रूपादि गुण उत्पन्न होतेहैं वही कारणगु-णपूर्वक कहलातेहैं. उनको हम आगे कहेंगे. बुद्धि आदि तो वैसे नहींहैं; क्योंकि आत्माका तथा आकाशका कोई कारण नहीं है ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ॥
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥ ९५ ॥
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ॥

भाषा-अपाकज अर्थात् अग्निसंयोगसे न उत्पन्न होनेवाले रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श एवं अपाकज द्रवत्व, स्नेह, वेगाख्य संस्कार, गुरुत्व ऐकपृथक्त्व,

परिमाण ॥ ९५ ॥ तथा स्थिति, स्थापकाख्य संस्कार ये सब ११ गुण कारण गुणोंसे उत्पन्न होतेहैं.

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावादपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधमपाकजम् ॥९५॥ कारणगुणोद्भवा इति । तथैकत्वमपि बोध्यम् ।

भाषा–पाकज रूपादिकोंकी उत्पत्ति कारणगुणपूर्वका नहीं है; इसलिये 'अपाकज' यह कहाहै. मूलगत 'तथाविधम्' इसकाभी 'अपाकज'ही अर्थ है; वैसेही एकत्वकोभी कारणगुणपूर्वकही जानना चाहिये.

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः ॥ ९६ ॥

भाषा–संयोग विभाग और वेगाख्य संस्कार ये तीन गुण कर्मसे उत्पन्न होतेहैं ॥ ९६ ॥

कर्मजा इति । यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । तथापि कर्मजवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं बोध्यम्, एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥ ९६ ॥

भाषा–यद्यपि चक्रभ्रमणादि कर्मजन्यत्व घटादिकोंमेंभी है. इनमें इन संयोगादि तीनके लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी. एवं हस्त पुस्तकादिसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले काय पुस्तकादि संयोगजसंयोगमें इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी; क्योंकि 'संयोगजसंयोग' यह कर्मजन्य नहीं है किन्तु संयोगजन्य है तथापि (कर्मसे उत्पन्न होनेवालोंमें रहनेवाली जो गुणत्वकी व्याप्य संयोगत्वादिरूपा जाति तादृशजातिमत्ता) इन तीनके सिवाय और कहीं नहीं है ऐसेही और स्थलोंमभी ऐसेही जातिघटित लक्षण करके निर्वाह करना उचित है. ॥ ९६॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ॥
भवेदसमवायित्वं,–

भाषा–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, स्नेह, और शब्द, इन सबोंमें गुणान्तरोंके प्रति नियमसे असमवायि कारणताही रहती है.

स्पर्शान्तेति । स्पर्शोऽत्रातद्गुणो ग्राह्यः । एकपृथक्त्वेत्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम् । पृथक्त्वपदेन चैकपृथक्त्वं विवक्षितम् ।

भाषा-'स्पर्श' शब्दसे यहां अनुष्णस्पर्शका ग्रहण करना. एवं मूलमें पठित (एकपृथक्त्व) यहां ' त्व ' प्रत्ययका दोनोंके साथ सम्बन्ध करके (एकत्व) तथा 'पृथक्त्व' ऐसे जान लेना. यहां प्रकृतमें 'पृथक्त्व' पदसे केवल एकपृथक्त्व वांछित है.

भवेदसमवायित्वमिति । घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति । एवं कपालादिपरिमाणादीनां घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम् । एवं शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं प्रत्यसमवायिकारणत्वम् । एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि बोध्यम् ।

भाषा-(भवेदसमवायित्वमिति) घटादिके रूप रस गन्ध तथा स्पर्श कपालादिकोंके रूप रस गन्ध तथा स्पर्शसे यथाक्रम उत्पन्न होतेहैं. ऐसेही कपालादिगत परिमाणादिकोभी घटादिगत परिमाणादिके प्रति असमवायिकारणता है. ऐसेही शब्दकोभी स्वाव्यवहितोत्तर उत्पन्न द्वितीयशब्दके प्रति असमवायिकारणता है. ऐसेही स्थितिस्थापकाख्य संस्कारोंको तथा एकपृथक्त्वकोभी जानलेना अर्थात् कारणगत संस्कार तथा एकपृथक्त्व (कटादि) चटाईआदि कार्यगत संस्कारोंके तथा एकपृथक्त्वके जनक हैं.

-अथ वैशेषिके गुणे ॥ ९७ ॥

आत्मनः स्यान्निमित्तत्वं-

भाषा-जीवात्माके (बुद्धि) ज्ञानादि विशेषगुणोंमें गुणान्तरोंके प्रति नियमसे निमित्तकारणताही रहतीहै.

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादिति भावः ।

भाषा-जीवात्माके ज्ञानादि विशेषगुण पूर्वोक्त युक्तिके अनुरोधसे इच्छादि विशेषगुणोंके प्रति निमित्तकारणही स्वीकार कियेहैं.

-उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ॥

वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥९८॥

द्विधैव कारणत्वं स्यात्-

भाषा-उष्णस्पर्श, गुरुत्व, वेगाख्यसंस्कार, द्रवत्व, संयोग तथा विभाग इन छःम ॥ ९८ ॥ असमवायि तथा निमित्तभेदसे दोतरहकी कारणता रहती है.

द्विधैवेति। असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वं च। तथाहि। उष्णस्पर्शः उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजे निमित्तम्। गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायि प्रतिघाते निमित्तम्, वेगो वेगस्पन्दयोरसमवाय्यभिघाते निमित्तम्, द्रवत्वं द्रवत्वस्पन्दनयोरसमवायि संग्रहे निमित्तम्, भेरिदण्डसंयोगः शब्दे निमित्तम्। भेर्याकाशसंयोगेऽसमवायी, वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमित्तं वंशदलाकाशविभागेऽसमवायीति।

भाषा—अर्थात् असमवायिकारणताभी रहतीहै और निमित्तकारणताभी रहती है. (तथाहि) जैसे कपालादिगत उष्णस्पर्श घटादिगत उष्णस्पर्शका असमवायिकारण है, परन्तु घटादिगत पाकजरूपादिकोंके प्रति निमित्तकारणभी है. एवं कारणगत गुरुत्व कार्यगत गुरुत्वके प्रति तथा आद्यपतनरूपा क्रियाके प्रति असमवायिकारण है; परन्तु (प्रतिघात) अभिघाताख्य संयोगके प्रति निमित्तकारणभी है. एवं वेगभी स्वाव्यवहितोत्तर वेगान्तरके तथा स्पन्दरूपाक्रियाके प्रति असमवायिकारण है परंतु वाणादिजन्य अभिघाताख्य संयोगके प्रति निमित्तकारणभीहै. एवं कारणगत द्रवत्वभी कार्यगत द्रवत्वका तथा (स्पन्दन) ढलनरूपा क्रियाका असमवायिकारण है, परन्तु (संग्रहे) चूर्णादिके पिण्डीभावमें निमित्तकारणभी है. ऐसेही भेरी दण्डका संयोग शब्दमें निमित्तकारण है और भेरीआकाश संयोगके प्रति असमवायिकारण है. एवं (वंश) बांसके दोनों दलोंका विभाग शब्दमें निमित्तकारण है और बांसदलके आकाशसे विभागका असमवायिकारण है—इति।

—अथ प्रादेशिको भवेत् ॥
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा ॥ ९९ ॥
प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिः ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ॥ ९९ ॥

भाषा—आकाशादि विभुद्रव्योंके शब्द ज्ञानादि विशेषगुण संयोग तथा विभाग ये सब १२ गुण (प्रदेश) अव्याप्यवृत्ति हैं अर्थात् किञ्चिदवच्छेदेन रहते हैं ॥ ९९ ॥

यहांतक अनेकगुणोंके एक एक साधर्म्यका निरूपण किया अब इससे आगे प्रत्येक गुणके साधर्म्यको कहतेहैं—

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम् ॥
चक्षुषः सहकारि स्यात्—

भाषा-केवल (चक्षुः) नेत्रइन्द्रियसे जिसका ग्रहण हो उसका नाम 'रूप' है. वह रूप द्रव्यादिकोंकी उपलब्धिमें नेत्रइन्द्रियका सहायकभी है.

चक्षुरिति । रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेत् । मास्तु रूपशब्दप्रयोगस्तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव । रूपशब्दाप्रयोगेऽपि "नीलो वर्णः पीतो वर्णः" इति वर्णशब्दोल्लेखिनीप्रतीतिरस्त्येव । एवं नीलत्वादिकमपि प्रत्यक्षसिद्धम् ।

भाषा-'रूपं रूपं' इस अनुगत प्रत्ययसे रूपत्वजाति तो प्रत्यक्ष प्रमाणहीसे सिद्ध है. शंका-ऐसी वस्तु तो संसारमें कोई प्रतीत नहीं होती, जिसमें केवल 'रूप-शब्दका प्रयोग किया जाय किन्तु नीलपीतादि व्यक्तियां प्रतीत होती हैं. समा०-मत हो किसी पदार्थमें केवल 'रूप' शब्दका प्रयोग. तथापि नीलपीतादि अनेक व्यक्तियोंमें एक अनुगत जाति विशेष तो अनुभवसिद्ध है. एवं नीलपीतादिव्यक्तियोंमें मत हो अनुगतरूपेण 'रूप' शब्दका प्रयोग; तथापि "नीलो वर्णः, पीतो वर्णः" इस अनुगत प्रत्ययसे 'रूप' शब्दपर्यायवाचि 'वर्ण' शब्दका प्रयोग तो होताही है. एवं रूपत्वकी व्याप्य नीलत्वादि जातियांभी प्रत्यक्षही सिद्ध हैं.

न चैकैका एव नीलरूपादिव्यक्तय इत्येकव्यक्तिवृत्तित्वान्नीलत्वादिर्न जातिरिति वाच्यम् । 'नीलो नष्टो रक्त उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात् । अन्यथैकनीलनाशे जगदनीलमापद्येत ।

शंका-नीलपीतादि व्यक्ति तो संसारमात्रमें एक २ ही है; इसलिये उन एक२में रहनेवाले नीलत्वपीतत्वादि धर्म जातिरूप नहीं होसकते. समाधान-आमनिक्षिप्त घटादिमें "नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" इत्यादि प्रतीति होती है. इस प्रतीतिसे नील पीतादि व्यक्तियोंको उत्पादविनाशवाली होनेसे उनमें अनेकता सिद्ध होती है. (अन्यथा) यदि संसारमात्रमें एकही नीलव्यक्ति अङ्गीकार करें तो उसके नाश होनेसे शेष संसार नीलवर्णरहित होजाना चाहिये.

नच नीलसमवायरक्तसमवाययोरेव विनाशोत्पादविषयकोऽसावेष प्रत्यय इति वाच्यम् । प्रतीत्या समवायानुल्लेखात् ।

शंका-"नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" यह प्रत्यय तो नीलके समवायके नाशको तथा रक्तके समवायकी उत्पत्तिको अवगाहन करता है इसलिये इससे नीलपीतादि व्यक्तियोंमें नानात्व मानना उचित नहीं. समाधान-प्रतीतिमें जिस पदार्थका (उल्लेख) भान हो वही उसके विषय होता है. एवं "नलो नष्टः" इत्यादि प्रतीतिमें समवायका भान नहीं है; इसलिये इसको समवायावगाहनी प्रतीति मानना उचित नहीं है.

न च 'स एवायं नीलः' इति प्रत्ययाल्लाघवाच्चैक्यमिति वाच्यम् । प्रत्यक्षस्य तज्जातीयविषयकत्वात्, सैवेयं गुर्जरीतिवत् । लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम् ।

शंका-"स एवायं नीलः-अर्थात् यह वही नील व्यक्तिहै" इत्याकारक प्रत्ययके बलसे तथा लाघवसे नीलपीतादि व्यक्ति एकही एक माननी चाहिये. समाधान-"स एवायं नीलः" इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान तो "सैवेयं गुर्जरी"-अर्थात् यह वही गुजरात देशमें होनेवाली औषधी है" इस ज्ञानकी तरह केवल साजात्यको अवगाहन करता है अर्थात् व्यक्तिभेदमेंभी पुरुष कहताहै कि-मैंनेभी वही औषधी खाई है, जो चैत्रने खाईथी. एवं आपका लाघवसे संसारमात्रमें एक २ नीलपीतादि व्यक्तियोंका मानना "नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" इत्यादि प्रत्यक्षज्ञानसे बाधित है.

अन्यथा घटादीनामप्यैक्यप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशबुद्धेः समवायालम्बनत्वापत्तेरिति । एतेन रसादिकमपि व्याख्यातम् ।

भाषा-(अन्यथा) यदि केवल लाघवमात्रसेही नीलपीतादि व्यक्तियोंमें ऐक्य-स्वीकार करो तो घटपटादि पदार्थोंमेंभी ऐक्यही मानना चाहिये. अर्थात् संसारमा-त्रमें एकही घट तथा एकही पटको मानकर उत्पादविनाशबुद्धिको घटपटादिके समवायको अवगाहन करनेवाली समझना चाहिये. (एतेन) इस पूर्वोक्त कथनसे रसादिकोंमेंभी यही विचार समझ लेना अर्थात् रसादि व्यक्तियांभी संसारमें अनेक हैं.

चक्षुर्ग्राह्यमिति । चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणत्वमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । द्रव्यादेरिति, उपलम्भकमुपलब्धिकारणम् । इदमेव विवृणोति । चक्षुष इति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रत्युद्भूतरूपं कारणम् ।

भाषा-(चक्षुर्ग्राह्यमिति) नेत्रइन्द्रियसे ग्रहण होनेयोग्य विशेषगुणरूप है. ऐसा विवरण करनेसे संख्यादिमें अतिव्याप्तिभी नहीं है. ऐसेही आगे रसादिके विवरणमेंभी जानलेना. (द्रव्यादेरिति) 'उपलम्भक' नाम उपलब्धिके कारणीभूतका है. इसीका 'चक्षुषः' इत्यादि ग्रन्थसे विवरण करतेहैं. द्रव्य गुण कर्म तथा सामान्य चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपकी कारणता है.

-शुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

भाषा-वह रूप शुक्ल नीलपीतादिभेदसे अनेक प्रकारका है ॥ १०० ॥

शुक्लादीति । तच्च रूपं शुक्लनीलपीतरक्तकृष्णकर्बुरादिभेदादनेकप्रकारकं भवति । ननु कर्बुरं कथमतिरिक्तं रूपं भवति । इत्थम् । नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपोऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धिप्रसङ्गात्,नाप्यव्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते व्याप्यवृत्तिजातीयगुणानामव्याप्यवृत्तित्वे विरोधात् । तस्मान्नानाजातीयरूपैरवयविनि विजातीयं चित्रं रूपमारभ्यते । अत एवैकं चित्रमित्यनुभवोऽपि, नानारूपकल्पने तु गौरवात् ।

भाषा-वहरूप शुक्ल नील पीत रक्त हरित कपिश कृष्ण कर्बुर आदि भेदसे अनेकप्रकारका है. शंका-(कर्बुर) चित्ररूप अतिरिक्त माननेका कुछ काम नहीं किन्तु नीलपीतादि गुणोंके समुदायका नामही चित्ररूप है. समाधान-इस विचारसे अतिरिक्त मानना पड़ता है कि-नीलपीतादि अवयवोंसे उत्पन्न हुआ अवयवी नीरूपभी नहीं है; क्योंकि यदि नीरूप होय तो प्रत्यक्ष नहीं हुआ चाहिये और चित्रावयवीगत नीलपीतादि (व्याप्यवृत्ति) सर्वावयवावच्छेदेन उत्पन्न हुए हैं, यहभी नहीं कहसकते क्योंकि यदि ऐसा होय तो चित्रावयवीमें नीलावच्छेदेन पीतकी या पीतावच्छेदेनभी नीलकी उपलब्धि हुई चाहिये और (अव्याप्यवृत्ति) किंचिदवयवावच्छेदेन नीलादि उत्पन्न होते हैं, ऐसाभी नहीं कहसकते; क्योंकि (व्याप्यवृत्ति) सर्वावयवावच्छेदेन स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले नीलपीतादि गुणोंको (अव्याप्यवृत्ति) किञ्चिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न हुए माननाभी उनके स्वभावसे विरुद्ध है. (तस्मात्) इसलिये अवयवगत नीलपीतादि अनेक प्रकारके रूपोंसे चित्रावयवीमें विलक्षण एक चित्ररूप उत्पन्न होताहै, यही मानना उचित है; इसीसे "एकं चित्ररूपं" यह अनुभवभी प्रामाणिक है. 'चित्रं' इत्याकारक प्रतीतिके विषयमें अनेक रूपोंकी कल्पना करनेमें उपस्थितिकृत गौरवभी है,

इत्थंच नीलादीनां पीताद्यारम्भे प्रतिबन्धकत्वकल्पनादवयवि-
नि न पीताद्युत्पत्तिः । एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यातः ।

भाषा-(इत्थञ्च) इस पूर्वोक्त लाघवसे चित्ररूपकी अतिरिक्त सिद्धि हुई तो नीलादि व्यक्तियोंमें पीतादिव्यक्तियोंके उत्पन्न होनेमें प्रतिबन्धकता कल्पना करनेसे नीलरूपवाले अवयवीमें पीतरूपकी उत्पत्तिभी नहीं होसकती अर्थात् समवायसम्बन्धेन पीतरूपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन पीतातिरिक्तरूपत्वेन पीतातिरिक्त नीला-दिरूपोंको प्रतिबन्धकता है. इस पूर्वोक्त चित्ररूपके व्याख्यानसे चित्रस्पर्शका व्याख्यानभी समझलेना अर्थात् चित्रस्पर्शभी अवश्यही अङ्गीकार करना उचित है.

रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्तिः किंतु नानाजातीयरसवदवयवैरार-
ब्धेऽवयविनि रसाभावेऽपि न क्षतिः। तत्र रसनयाऽवयवरस
एव गृह्यते, रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावात् । अवय-
विनीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात् ।

भाषा-एवं रसादिकभी किंचिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न नहीं होते, किन्तु रूपसे इतनी विलक्षणता है कि-अनेकप्रकारके रसोंवाले अवयवोंसे उत्पन्न हुए अवयवीमें चित्ररस नाभी मानें तो हानि कुछ नहीं; क्योंकि चित्ररसकी प्रतीति तो अवयवगत अनेक रसोंसेभी होसकती है. एवं अवयवीमें चित्ररसकी कल्पना करनी व्यर्थ है. (तत्र) चित्ररसग्रहणस्थलमें रसनाइन्द्रियसे अवयवगत रसकाही ग्रहण होताहै. रसना घ्राण तथा श्रोत्रइन्द्रियमें द्रव्य ग्रहण करनेकी तो सामर्थ्यही नहीं. इसलिये अवयवीको रसशून्यभी मानलिया जाय तो हानि कुछ नहीं है.

नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्येव नानारूपं नीलादेः पीतादिप्रतिब-
न्धकत्वकल्पने गौरवात् । अतएव " लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे
पुच्छे च पाण्डुरः" इत्यादिशास्त्रमप्युपपद्यते ।

भाषा-(नव्यास्तु) और चिन्तामणिकारादि नवीनलोग तौ यह कहते हैं कि-चित्रावयवीस्थलमें अनेकप्रकारका रूप अव्याप्यवृत्तित्वेन रूपेणही उत्पन्न होताहै; ऐसे स्थलमें नीलरूपादिकोंमें पीतरूपादिके प्रति प्रतिबन्धकता कल्पना करनीभी महागौरव है. चित्ररूप कोई पृथक् वर्ण नहीं है, इसीसे "लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डु-रः॥ श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते" इत्यादि स्कन्धपुराणका वचनभी उप-पन्न होसकता है अर्थात् इस वचनमें नील(वृष)बलद विसर्जनके उद्देशसे अनेक वर्णयुक्त

वृषको नीलवृष कहा है. यदि चित्रवर्ण आचार्यको पृथक् स्वीकृत होता तो " चित्रं वृषं विसर्जयेत् " इतना मात्रही कहता.

न च व्याप्याऽव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयोर्विरोधः, मानाभावात् ।

शंका—व्याप्यवृत्ति स्वभाववाले पदार्थोंको अव्याप्यवृत्ति माननाभी उचित नहीं; क्योंकि व्याप्यवृत्तित्वरूप धर्मका तथा अव्याप्यवृत्तित्वरूप धर्मका परस्पर तेजस्तिमिरवत् विरोध है. **समाधान**—रूपादि जो व्याप्यवृत्तित्वेन उत्पन्न होतेहैं वे अव्याप्यवृत्तित्वेन उत्पन्न नहीं होसकते; इस विरोधमें कोई प्रमाण नहीं है.

न च लाघवादेकं रूपम् । अनुभवविरोधात् । अन्यथा घटादेरपि लाघवादैक्यं स्यादिति । एतेन स्पर्शादिकं व्याख्यातमिति वदन्ति ॥ १०० ॥

शंका—लाघवसे चित्ररूप एकही मान लिया जाय तो हानि क्याहै? समा०—एक माननेमें " अयं नीलादिनानावर्णयुक्तोऽवयवी " इत्यादि अनुभवसे विरोध होता है. (अन्यथा) यदि अनुभवसे विरुद्धभी लाघव स्वीकृत होय तो घटपटादि व्यक्तिभी संसारमात्रमें लाघवसे एक मानलेनी चाहिये. (एतेन) इसी कथनसे चित्रस्पर्शादिका निरासभी समझलेना;(इति वदन्ति)यह सब नवीन लोगोंका कथन है॥१००॥

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ॥

भाषा—वह रूप जलादि परमाणुओंमें नित्य है और पार्थिवपदार्थमात्रमें जन्य है.

जलादीति । जलपरमाणौ तेजःपरमाणौ च रूपं नित्यम् । पृथिवीपरमाणुरूपं तु न नित्यं पाकेन रूपान्तरोत्पत्तेः। न हि घटस्य पाकानन्तरं तदवयवोऽपक्व उपपद्यते,न हि रक्तकपालस्य कपालिका नीलावयवा भवति । एवंक्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धेः। अन्यज्जलतेजःपरमाणुरूपाभिन्नं रूपम् । सहेतुकं जन्यम् ।

भाषा—अर्थात् जलीय परमाणुओंमें तथा तैजस परमाणुओंमें रूप नित्य है और पार्थिव परमाणुओंमें रूप अनित्य है क्योंकि वहां(पाकेन) अग्निसंयोगसे रूपान्तरकी उत्पत्ति होतीहै. अग्निसंयोगद्वारा घटके परिपाक होनेसे उसके अवयव परिपक्व नहीं होते, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि अग्निसंयोगसे रक्तहुए (कपाल) घटार्धभागका (कपालिका) छोटा हिस्सा नीलपीतादि अवयवोंवाला देखनेमें नहीं आता, इसक्रमसे विचारनेसे पार्थिव परमाणुओंमेंभी पाककी सिद्धि होसकतीहै.

(अन्यत्) जल तथा तेजके परमाणुओंके रूपसे भिन्न जो रूप है वह सभी सहेतुक अग्निसंयोगादि कारणसे उत्पन्न होताहै.

रसं निरूपयति, रसस्त्विति—

भाषा—' रसस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार रसका निरूपण करतेहैं—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ॥

भाषा—रसनाइन्द्रियसे ग्रहण होनेवालेका नाम'रस' है.वह रस मधुर, लवण, कटु कषाय आम्लिक तथा तिक्त भेदसे षट् प्रकारका है ॥ १०१ ॥ और रसनाइन्द्रियका सहायक है, नित्यता तथा अनित्यता इसकी रूपकी तरहही जान लेनी चाहिये.

सहकारीति । रासनज्ञाने रसः कारणमित्यर्थः । पूर्ववदिति जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोऽपि रसोऽनित्य इत्यर्थः ।

भाषा—अर्थात् रासन साक्षात्कारके प्रति विषयतासम्बन्धसे रसको कारणता है. पूर्ववत् अर्थात् रूपकी तरह रसभी जलीय परमाणुओंमें नित्य है तथा पार्थिव पदार्थ मात्रमें अनित्य है.

गन्धं निरूपयति, घ्राणग्राह्य इति—

भाषा—' घ्राणग्राह्यो ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार गन्धका निरूपण करते हैं.

घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥१०२॥

भाषा—केवल घ्राणइन्द्रिय ग्रहणके योग्यका नाम 'गन्ध' है.वह गन्ध घ्राणइन्द्रिय हीका उपकारक है ॥ १०२ ॥

उपकारको घ्राणजन्यज्ञाने कारणमित्यर्थः । गन्धः सर्वोऽनित्य एव ॥ १०२ ॥

भाषा—(उपकारक) अर्थात् घ्राणज साक्षात्कारके प्रति विषयतासम्बन्धेन उभयविध गन्धको कारणता है. एवं सभी गन्ध अनित्यही हैं. रूपादिकी तरह नित्य कोईभी नहीं ॥१०३॥

सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ।

भाषा—एवं सौरभ तथा असौरभभेदसे वह गन्ध दोप्रकारका है.

स्पर्शं निरूपयति, स्पर्श इति—

भाषा—'स्पर्शः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्पर्शका निरूपण करतेहैं—

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः ॥१०३॥

भाषा-केवल त्वगृइन्द्रियसे ग्रहणके योग्यका नाम 'स्पर्श' है. वह स्पर्श त्वगृइन्द्रियका उपकारक है.

उपकारक इति । स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमित्यर्थः ॥१०३॥

भाषा-स्पार्शनप्रत्यक्षमें विषयतासम्बन्धेन स्पर्शको कारणता है ॥१०३॥

अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः ॥
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

भाषा-वह स्पर्श शीत उष्ण तथा अनुष्णाशीतभेदसे तीन प्रकारका है. वह स्पर्श काठिन्यादि धर्मवाला केवल पृथिवीहीमें रहताहै और इस स्पर्शकी नित्यता तथा अनित्यता (पूर्ववत्) रूपादिकी तरहही जानने योग्य है ॥ १०४ ॥

अनुष्णाशीत इति । पृथिव्या वायोश्च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः, जलस्य शीतः, तेजस उष्णः । काठिन्येति । कठिनसुकुमारस्पर्शौ पृथिव्या एवेत्यर्थः । कठिनत्वादिकं तु न संयोगनिष्ठो जातिविशेषः, चक्षुर्ग्राह्यतापत्तेः । पूर्ववदिति । जलतेजोवायुपरमाणुस्पर्शा नित्यास्तद्भिन्नस्पर्शास्त्वनित्या इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

भाषा-(अनुष्णाशीत इति) पृथिवीका तथा वायुका स्पर्श अनुष्णाशीत है अर्थात् न उष्ण है, न शीत है; और जलका स्पर्श शीत है. अग्निआदि तेजःपदार्थका स्पर्श उष्ण है. एवं कठिनकोमलादि स्पर्शभी पृथिवीमें रहता है. कठिनत्वादि धर्मसंयोगनिष्ठ जातिविशेष नहींहैं; क्योंकि यदि संयोगनिष्ठ जातिविशेष होय तो उसका संयोगकी तरह चाक्षुषप्रत्यक्षभी हुआ चाहिये; इसलिये 'कठिनत्व' आदि पृथिवीगत स्पर्शकेही व्याप्यवृत्ति धर्म हैं. (पूर्ववदिति) जल तेज तथा वायुके परमाणुओंका स्पर्श नित्य है. इनसे भिन्न पार्थिवपरमाणुओंका स्पर्श अनित्य है ॥१०४॥

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ॥

भाषा-ये रूपरसादि चारों केवल पृथिवीहीमें तेजःसंयोगसे उत्पन्न तथा परिवर्तन होतेहैं, अन्यत्र जलादिकोंमें नहीं होते.

एतेषां रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । नान्यत्रेति । पृथिव्या हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिः पावकसंयोगादुपलभ्यते, न हि शतधापि

ध्मायमाने जलादौ रूपादिकं परावर्तते । नीरे सौरभमौष्ण्यं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामौपाधिकमेवेति निर्णीयते पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादिवत् ।

भाषा—इन रूप रस गन्ध स्पर्शोंकी अग्निसंयोगसे उत्पत्ति केवल पृथिवीहीमें है और कहीं नहीं. (नान्यत्रेति) पृथिवीके रूप रस गन्ध तथा स्पर्शका परिवर्तन अग्निसंयोगसे हुआ प्रतीत होता है और जलको सैकड़ोंवार तपानेसेभी उसके रूपका परिवर्तन प्रतीत नहीं होता. एवं जैसे जलके सम्बन्धसे वायुमें तथा पृथिवीमें शीत स्पर्शका भान होता है वस्तुतः इनमें शीतस्पर्श नहीं है. वैसेही जलमें सौरभका तथा उष्णताका भानभी पृथिवीतेजःसंसर्गरूप उपाधिके वशसेही विज्ञ पुरुषोंने अन्वयव्यतिरेकद्वारा निर्णय किया है; वस्तुतः जलमें सौरभ तथा उष्णता नहीं है.

तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये ॥१०५॥

भाषा—उस पृथिवीमेंभी वैशेषिकके सिद्धान्तसे पाक परमाणओंमें होता है अर्थात् तेजःसंयोगसे प्रत्येक परमाणुमें रूपादिचतुष्टयका परिवर्तन होता है ॥ १०५ ॥

तत्रापि पृथिवीष्वपि परमाणावेव पाक इति वैशेषिका वदन्ति । तेषामयमाशयः । अवयविनाऽवष्टब्धेष्ववयवेषु पाको न सम्भवति, परंतु वह्निसंयोगेनावयविषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकः, पुनश्च पक्वपरमाणुसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमेण पुनर्महावयविपर्यन्तमुत्पत्तिः, तेजसामतिशयितवेगवशात् पूर्वव्यूहनाशो झटिति व्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति ।

भाषा—(तत्रापि) उस अनेक विध पृथिवीमेंभी परमाणुओंहीमें (पाक) अग्निसंयोगसे रूपादिका परिवर्तन होता है, यह (वैशेषिक) कणादमुनिके अनुयायीलोग कहतेहैं. उनके हृदयका भाव यह है कि—घटादि अवयविसे (अवष्टब्ध) निरोधित हुए छोटे कपालकादि अवयवोंमें पाक नहीं होसकता; परन्तु प्रबल अग्निसंयोगसे अवयवीके विनाशके अनन्तर प्रत्येक अवयवके स्वतंत्र परमाणुओंमें पाक होता है. फिर परिपक्व परमाणुओंके परस्परसंयोगसे द्व्यणुक त्र्यणुकादि क्रमेण फिर घटादि महाअवयवी पर्यन्त उत्पत्ति होती है. तेजःपदार्थके अत्यन्त वेगवशसे शीघ्रही पूर्व (व्यूह) संघातका नाश तथा संघातान्तरकी उत्पत्ति होती है—इति

अत्र द्व्यणुकादिविनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्द्रव्यमिति शिष्यबुद्धिवैशद्याय क्षणप्रक्रिया। तत्र विभागजविभागानङ्गीकारे नवक्षणा।

भाषा-यहां 'द्व्यणुकादि विनाशसे लेकर फिर उत्पन्न हुआ अवयवी कितने क्षणोंके पश्चात् रूपरसादिवाला होता है?' इस वार्ताका शिष्यलोगोंकी बुद्धिके विशदकरणार्थ निरूपण करते हुए ग्रन्थकार क्षणिक प्रक्रियाको दिखलातेहैं. इस प्रकरणमें यदि विभागज विभागको ना अङ्गीकार करें अर्थात् (कारण) कपालादि तथा (अकारण) आकाशादिके विभागसे जैसे (कार्य) घटादि तथा (अकार्य) आकाशादिका विभाग स्वीकृत है, वैसे (कारण) कपालद्वयादि मात्रके विभागसे (कारण) कपालादि तथा (अकारण) आकाशादिके विभागको न मानें तो नवक्षणमें अवयवी विनष्ट होयकर फिर रूपादिवाला होजाता है.

विभागजविभागाङ्गीकारे तु विभागः किञ्चित्सापेक्षो विभागं जनयेत्, निरपेक्षस्य तत्त्वे कर्मत्वं स्यात्। संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति हि वैशेषिकसूत्रम्। स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वं च तस्यार्थः। अन्यथा कर्मणोऽप्युत्तरसंयोगजनने पूर्वसंयोगनाशापेक्षणादव्याप्तिः स्यादिति।

भाषा-एवं विभागज विभागका अङ्गीकार करें तो विभागभी (किञ्चित्) स्वसमवायिनिष्ठ क्रियाकी (सापेक्षा) सहकारतासे विभागान्तरको उत्पन्न करेगा; क्योंकि पदार्थान्तरकी सहकारतासे विना विभागका जनक तो केवल कर्मही है. यदि विभागभी निरपेक्ष होकर विभागान्तरका जनक होगा तो कर्मके लक्षणकी उसमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि संयोगका तथा विभागका जो निरपेक्ष कारण होय वह कर्म होता है. यह वार्ता वैशेषिक शास्त्रके १७ वें सूत्रमें लिखी है अर्थात् (स्व) कर्म, संयोग तथा विभागको उत्पन्न करता हुआ अपनेसे उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले भावान्तरकी अपेक्षा नहीं करता. यह उक्त सूत्रका भावार्थ है. (अन्यथा) यदि ऐसा अर्थ नहीं करें तो कर्मकोभी उत्तरसंयोगके उत्पन्न करनेमें पूर्वसंयोग नाशकी अपेक्षाही है. निरपेक्ष कारण नहीं है. एवं उक्त सूत्रलक्षण की पूर्वसंयोगनाशकी अपेक्षा करनेवाली कर्मव्यक्तिमें अव्याप्ति होगी.

तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा। अथ द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात् तदैकादशक्षणा।

भाषा-(तत्र) इस प्रकरणमें (द्व्यणुकादि) द्रव्यारम्भक संयोगका जो विनाश तादृश विनाशविशिष्ट कालकी अपेक्षासे यदि विभागज विभागका विचार किया जाय तो दशक्षणमें अवयवी फिर रूपादिमान् होसकता है और यदि द्रव्यनाशविशिष्ट कालकी अपेक्षाको लेकर विभागज विभागका विचार किया जाय तो एकादश क्षणमें अवयवी फिर रूपादिवाला होसकताहै.

तथाहि अथ नवक्षणा-वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरेण विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्व्यणुकनाशः १ । ततः परमाणौ श्यामादिनाशः २ । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः३ । ततो द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया ४ । ततो विभागः ५। ततः पूर्वसंयोगनाशः ६ । तत आरम्भकसंयोगः ७ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ८ । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ९ ।

भाषा-(तथाहि) इसी वार्ताको नवक्षणादि प्रक्रियाके क्रमसे लिखतेहैं—पहले अग्निसंयोगसे द्व्यणुकारम्भक परमाणुद्वयमेंसे एक परमाणुमें क्रिया होतीहै. उस क्रियासे पीछे द्व्यणुकारम्भक परमाणुअन्तरके साथ उस क्रियायुक्त परमाणुका विभाग होताहै, उसके पीछे द्व्यणुकारम्भक संयोगका नाश होताहै. उसके पीछे द्व्यणुकका नाश होताहै १ । प्रथमक्षणकी गणनाभी यहांहीसे करनी उचित है; क्योंकि पीछे ग्रन्थकारने " द्व्यणुकादिनाशमारभ्य " इत्यादि कथनसे यही प्रतिज्ञा करीहै. उसके पीछे परमाणुगत श्यामादि गुणोंका नाश होताहै २ । उसके पीछे तीसरे क्षणमें परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ३ । उसके पीछे चौथे क्षणमें द्व्यणुकरूप द्रव्यकी उत्पादिका क्रिया होतीहै ४ । उसके पीछे पञ्चमक्षणमें उस क्रियासे विभाग होताहै ५ । उसके पीछे छठे क्षणमें विश्लिष्टपरमाणुओंके पूर्वसंयोगका नाश होताहै ६ । उसके पीछे सातवें क्षणमें द्व्यणुकारम्भकसंयोग होताहै ७ । उसके पीछे आठवें क्षणमें फिर द्व्यणुककी उत्पत्ति होतीहै ८ । उसके पीछे नवम क्षणमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ९ । इति ।

ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तोत्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणक्रियास्त्विति चेत् । न । अग्निसंयुक्ते परमाणौ यत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च तत्र परमाणौ क्रियान्तराभावात्, कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेः । निर्गुणे द्रव्ये द्रव्यारम्भानुगुणक्रियानुपपत्तेश्च ।

शंका-श्यामादि गुणोंके नाशक्षणमें या रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिक्षणमें परमाणुओंमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पादिका क्रिया मान लीजाय तो हानि क्या है? समाधान-अग्निसंयुक्त परमाणुओंमें जो द्व्यणुकादिका विनाशक प्रथम कर्म है उसके विनाशसे विना और परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिसे विना उनही परमाणुओंमें द्व्यणुकादि द्रव्यारम्भकी. दूसरी क्रिया नहीं होसकती प्रथमक्रिया स्वसत्त्वावस्थामें दूसरी क्रियाकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक होतीहै; इसलिये क्रियावालेमें क्रियान्तर नहीं होसकती और निर्गुण द्रव्यमें द्रव्यारम्भणानुकूल क्रियाका होनाही असम्भव है.

तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिसमकालं रक्ताद्युत्पत्तिः स्यादिति चेत् । न । पूर्वरूपादिध्वंसस्यापि रूपान्तरे हेतुत्वात् ॥

॥ इति नवक्षणा ॥

शंका-तथापि परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंकी निवृत्तिक्षणहीमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिभी मानलीजाय तो एक क्षणका लाघव है. समाधान-यह कथनभी सुयुक्तिक नहीं है; क्योंकि पूर्वरूपादि ध्वंसको रूपान्तरादिकी उत्पत्तिमें कारणता है और कार्यकारणका समकालमें होना असम्भव है । इति नवक्षणा ॥

अथ दशक्षणा-सा चारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात् ।

अथ दशक्षणा-वह दशक्षणप्रक्रिया द्रव्यारम्भसंयोगविनाशविशिष्ट कालकी अपेक्षासे विभागजविभागका अङ्गीकार करनेसे प्रतीत होतीहै अर्थात् द्व्यणुकादि द्रव्यारम्भक संयोगके विनाशकालहीमें यदि परमाणुद्वयके विभागसे परमाणु तथा आकाशादिका विभागभी मानलिया जाय तो दशक्षणमें पुनः द्रव्य रूपादिमान् होताहै.

तथाहि । वह्निसंयोगाद्द्व्यणुकारम्भके परमाणौ क्रिया । ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशविभागजविभागौ १ । ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ २ । ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ ३ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणो नाशः ४ । ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद्द्रव्यारम्भानुगुणाक्रिया ५ । ततो विभागः ६ । ततः पूर्वसंयोगनाशः ७ । तत आरम्भकसंयोगः ८ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ९ । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः १० ।

॥ इति दशक्षणा ॥

भाषा-(तथाहि) प्रथम अग्निसंयोगसे द्व्यणुकारम्भक परमाणुमें क्रिया होतीहै; उस क्रियासे पीछे परमाणुद्वयका विभाग होताहै, उस विभागसे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भक संयोगका नाश होताहै उसके पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यका नाश तथा परमाणु आकाशका विभाग ये दोनों एकही क्षणमें होतेहैं १। उससे पीछे द्वितीय क्षणमें परमाणुगत श्यामादिरूपका नाश तथा परमाणु आकाशके प्रथम संयोगका नाश ये दोनों एकही क्षणमें होतेहैं २। उससे पीछे तृतीयक्षणमें परमाणुगत रक्तादिकी उत्पत्ति तथा परमाणुआकाशका उत्तरसंयोग ये दोनों एकही क्षणमें होतेहैं ३। उससे पीछे चतुर्थक्षणमें अग्निनोदनसे उत्पन्न हुई परमाणुगत क्रियाका नाश होता है ४। उससे पीछे पंचमक्षणमें अदृष्टवाले आत्माके संयोगसे अर्थात् वह परिपक्व द्रव्य जिस जीवात्माके भोगार्थ बनाहै उसके सम्बन्धसे द्रव्यारम्भणानुकूल क्रिया होतीहै ५। उससे पीछे छठे क्षणमें उस क्रियासे परमाण्वाकाशादिका विभाग होताहै ६। उस विभागसे पीछे सातवें क्षणमें विभक्त अवयवोंके पूर्वसंयोगका नाश होताहै ७। उससे पीछे अष्टमक्षणमें द्रव्यारम्भक संयोग होताहै ८। उससे पीछे नवम क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होतीहै ९। उससे पीछे दशमक्षणमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै १०। इति।

अथैकादशक्षणा-वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म। ततो विभागः, ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १। ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागश्यामनाशौ२। ततः पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्ती ३। तत उत्तरसंयोगः ४। ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मनाशः ५। ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद्द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया ६। ततो विभागः ७। ततः पूर्वसंयोगनाशः ८। ततो द्रव्यारम्भकसंयोगः ९। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः १०। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ११। इति॥

अथ एकादशक्षणाप्रक्रिया-अग्निसंयोगसे परमाणुओंमें क्रिया होतीहै, उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग होताहै, उस विभागसे द्रव्यके आरम्भकसंयोगका नाश होताहै उससे पीछे द्व्यणुकरूप कार्यद्रव्यका विनाश होताहै १। उससे पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यनाशाधिकरणकालकी अपेक्षासे दूसरे क्षणमें परमाणुद्वयविभागसे परमाण्वाकाशका विभाग तथा परमाणुगत श्यामादिरूपका नाश होताहै२। उससे पीछे तीसरे क्षणमें प्रथम जहां परमाणुओंका संयोग था उसका नाश तथा रक्तादि

गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ३ । उससे पीछे चौथे क्षणमें क्रियाकी विश्रान्तिका कारक परमाणुओंका उत्तरसंयोग होताहै ४ । उससे पीछे पञ्चमक्षणमें अग्निके नोदनसे उत्पन्न हुए परमाणुगत कर्मका नाश होताहै ५ । उससे पीछे छठे क्षणमें अदृष्टवाले जीवात्माके संयोगसे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भणानुकूला क्रिया होतीहै ६ । उस क्रियासे पीछे सातवें क्षणमें फिर विभाग होताहै ७ । उससे पीछे अष्टमक्षणमें प्रथम हुए संयोगका नाश होताहै ८। उससे पीछे नवमक्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यारम्भक संयोग होताहै ९ । उससे पीछे दशमक्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होतीहै १० । उससे पीछे एकादश क्षणमें फिर द्रव्यमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ११ । इति ।

मध्यमशब्दवदेकस्मादग्निसंयोगान्न रूपनाशरक्तोत्पादौ, तावत्कालमेकस्याग्नेरस्थिरत्वात् । किंच यद्युत्पादको नाशकस्तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपश्चिरं परमाणुः स्यात् । नाशकश्चेदुत्पादकस्तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्ततरता न स्यात् ॥

भाषा-मध्यमशब्दकी तरह एकही अग्निसंयोग श्यामादि गुणोंका नाशक तथा रक्तादि गुणोंका उत्पादक नहीं होसकता अर्थात् आदि अन्तके शब्दद्वयको छोड़कर मध्यवर्ति यावत् शब्दोंको जैसे स्वपूर्वशब्दनाशके प्रति तथा स्वउत्तर शब्द उत्पत्तिके प्रति कारणता है वैसे द्व्यणुकादि द्रव्यके विनाशक एकही अग्निसंयोगसे श्यामादि गुणोंका विनाश तथा रक्तादिकी उत्पत्ति नहीं होसकती; क्योंकि (तावत्कालं) श्यामनाशोत्पत्तिके अव्यवहित पूर्वक्षणपर्यन्त वह द्व्यणुकादि द्रव्यका विनाशक एक अग्निसंयोगस्थायी नहीं रहता, (किञ्च) इसमें औरभी युक्ति है कि-यादि रक्तादि उत्पादक अग्निसंयोगहीको श्यामादिविनाशकभी मानें तो श्यामादिरूपके नष्ट होनेसे दैवात् यादि अग्निसंयोगकाभी नाश होय तो पीछे चिरकालपर्यन्त परमाण्वादि द्रव्य रूपरहितही पड़ा रहना चाहिये; परन्तु यह वार्ता किसी विद्वान्के अनुभवसम्मत नहीं है. ऐसेही यादि श्यामादि गुणोंके विनाशक अग्निसंयोगकोही रक्तादिका उत्पादकभी मानें तो साधारण रक्तकी उत्पत्तिके अनन्तर यादि दैवात् अग्निसंयोगका नाश होय तो रक्ततरता नहीं हुई चाहिये; परन्तु साधारण रक्त हुए पीछे अग्निसंयोगनाश होनेसेभी रक्ततर स्वयं होजाताहै.यह वार्ता अनुभवसिद्धहै. इसलिये श्यामादिके विनाशक तथा रक्तादिके उत्पादक अग्निसंयोग भिन्न २ हैं; यही मानना उचित है.

अथ पञ्चक्षणा-एवं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् पञ्चमादि क्षणेऽपि गुणोत्पत्तिः ।

अथ पञ्चक्षणा—एवं यदि परमाणुअन्तरमें कर्मका चिन्तन करें अर्थात् द्व्यणुककी विनाशक क्रियावाले परमाणुसे भिन्न जो द्व्यणुकान्तरका आरम्भक परमाणु उस परमाणुमें यदि कर्मका चिन्तन करें अर्थात् द्व्यणुकारम्भक संयोगके विनाशादि उत्पत्तिक्षणमें यदि द्व्यणुकान्तरारम्भक कर्मका चिन्तन करें तो पञ्चमादि क्षणोंमेंभी रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होसकतीहै—

तथाहि। एकत्र परमाणौ कर्म, ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी। ततस्तु द्व्यणुकनाशः परमाण्वन्तरकर्मजश्च विभाग इत्येकः कालः १। ततः श्यामादिनाशः, विभागाच्च पूर्वसंयोगनाश इत्येकः कालः २। ततो रक्तोत्पत्तिः द्रव्यारम्भकसंयोगश्चेत्येकः कालः ३। अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः ४। अथ रक्तोत्पत्तिः ५॥ इति पञ्चक्षणा॥

भाषा—(तथाहि) अग्निसंयोगसे एक परमाणुमें क्रिया हुई उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग हुआ, उस विभागसे द्व्यणुकारम्भक संयोगका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें कर्म हुआ उससे पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यका नाश तथा परमाणुअन्तरमें कर्मजन्य विभाग हुआ, इतना एक काल जानना चाहिये १। उससे पीछे नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका विनाश तथा परमाणुअन्तर विभागसे पूर्वसंयोगका विनाश हुआ, इतना द्वितीयक्षणरूप एक काल जानना चाहिये २। उससे पीछे नष्टद्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा द्व्यणुकादि द्रव्यका आरम्भक संयोग हुआ. इतना तृतीय क्षणरूप एक काल जानना चाहिये ३। उसके पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति हुई ४। उससे पीछे रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति हुई ५॥ इति पञ्चक्षणाप्रक्रिया॥

अथ षट्क्षणा—द्रव्यनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्षष्ठे गुणोत्पत्तिः।

अथ षट्क्षणा—एवं पूर्वोक्त रीतिसे यदि द्व्यणुकादि द्रव्य नाश समकालमें परमाणुअन्तरमें कर्मका चिन्तन करें तो छठे क्षणमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होतीहै.

तथाहि। परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः। अथ द्व्यणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी १। अथ श्यामनाशः परमाण्वन्तरकर्मजो विभागश्च २। ततो रक्तोत्पत्तिः

परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशश्च ३। ततः परमाण्वन्तरसंयोगः ४। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ५। अथ रक्तोत्पत्तिः ६॥ इति षट्क्षणा॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगज परमाणुकी क्रियासे परमाणुअन्तरका विभाग होता है. उस विभागसे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भक संयोगका विनाश होता है. उससे पीछे द्व्यणुकका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें क्रिया होती है १। उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका विनाश तथा परमाणु अन्तरमें होनेवाली क्रियासे उत्पन्न होनेवाला विभाग होता है २। उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादिरूपकी उत्पत्ति होती है तथा परमाणु अन्तरमें पूर्वसंयोगका विनाश होता है ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें रक्तहुए परमाणुका परमाणु अन्तरके साथ संयोग होता है ४। उससे पीछे पञ्चम क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होती है ५। छठे क्षणमें सम्पन्न द्व्यणुकादि द्रव्यमें रक्तादिरूपकी उत्पत्ति होती है ६॥ इति षट्क्षणाप्रक्रिया॥

अथ सप्तक्षणा-एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्सप्तक्षणा।

अथ सप्तक्षणा-एवं यदि श्यामादि गुणनाशक्षणमें पूर्वोक्त रीतिसे परमाणुअन्तरमें कर्मका चिन्तन करें तो सप्तक्षणमें पुनः द्रव्य रूपादिगुणोंवाला होता है.

तथाहि। परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरेण विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १। ततः श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी २। ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे कर्मजविभागश्च ३। ततः परमाण्वन्तरेण पूर्वसंयोगनाशः ४। ततः परमाण्वन्तरेण संयोगः ५। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ६। ततो रक्तोत्पत्तिः ७॥ इति सप्तक्षणा॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगसे परमाणुमें क्रिया होती है; उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग होता है; उस विभागसे द्रव्यारम्भक संयोगका विनाश होता है. १। उससे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यका विनाश होताहै १। उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्टद्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादिगुणोंका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें क्रिया होती है २। उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा परमाणुअन्तरमें क्रियाजन्य विभाग होताहै ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें परमाणुअन्तरके साथ पूर्व संयोगका नाश

होता है ४। उससे पीछे पंचमक्षणमें रक्तपरमाणुका परमाणुअन्तरके साथ संयोग होता है ५। उससे पीछे छठे क्षणमें द्व्यणुकादिद्रव्यकी उत्पत्ति होतीहै ६। उससे पीछे सातवें क्षणमें उस द्रव्यमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै. ७ । इति सप्तक्षणाप्रक्रिया ॥

अथाष्टक्षणा—एवं रक्तोत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा ।

अथ अष्टक्षणा—एवं यदि रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिकालमें पूर्वोक्त रीतिसे परमाणु अन्तरमें कर्मका चिन्तन करें तो अष्टक्षणमें द्रव्य पुनः रूपादि गुणयुक्त होताहै.

तथाहि । परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १। ततः श्यामनाशः २। ततो रक्तोत्पत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी ३ । ततः परमाण्वन्तरकर्मजविभागः ४ । ततः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः ५ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः ६ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ७ । अथ रक्तोत्पत्तिः ८ । इत्यष्टक्षणा ॥ १०५ ॥

भाषा—(तथाहि) अग्निसंयोगसे परमाणुमें क्रिया हुई. उस क्रियासे परमाणुके परमाणुअन्तरसे विभाग हुआ. उस विभागसे द्रव्यारम्भक संयोगका विनाश हुआ. उससे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यका नाश हुआ १ । उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका नाश हुआ २ । उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा परमाणु अन्तरमें क्रिया होतीहै ३ । उससे पीछे चौथे क्षणमें परमाणुअन्तरमें उत्पन्न हुए कर्मसे विभाग होताहै ४ । उससे पीछे पंचमक्षणमें परमाणुअन्तरमें पूर्वसंयोगका विनाश होताहै ५ । उससे पीछे छठे क्षणमें रक्तपरमाणुका परमाणुअन्तरके साथ संयोग होता है ६ । उससे पीछे सातवें क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होतीहै ७ । उससे पीछे अष्टमक्षणमें उस द्रव्यमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ॥ १०५ ॥ इति अष्टक्षणाप्रक्रिया ॥

नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ॥

भाषा—नैयायिकोंके मतमें तो द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यमेंभी पाक होसकताहै.

नैयायिकानामिति । नैयायिकानां मते द्व्यणुकादाववयविन्यपि पाको भवति । तेषामयमाशयः । अवयविनां सच्छिद्रत्वाद्वह्नेः सूक्ष्मावयवैरन्तःप्रविष्टैरवयवेष्ववष्टब्धेष्वपि पाको न विरुध्यते, वैशेषिकमतेऽनन्तावयवितन्नाशकल्पने गौरवात् ।

भाषा–गौतमादि नैयायिकोंके सिद्धान्तमें तो द्व्यणुकादि अवयवोंमेंभी अग्निसंयोगसे पाक होसकताहै परमाणुपर्यंत धावन करनेका कुछ प्रयोजनही नहीं. उनके हृदयका भाव यह है कि–घटादि अवयवी सदा छिद्रयुक्तही रहतेहैं; उन छिद्रोंमें अग्निके सूक्ष्म अवयव प्रवेश कर जातेहैं; इसलिये परस्पर मिले मिलाये अवयवीरूप अवयवोंमेंभी पाक मान लेनेमें कुछ विरोध नहीं है. एवं वैशेषिकके मतमें अनन्त अवयवी तथा उसका ध्वंस कल्पनेमें गौरवभी है.

इत्थं च 'सोऽयं घटः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञापि संगच्छते। यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति।

भाषा–इस रीतिसे जब अवयवीका विनाश अङ्गीकार न किया तो "सोऽयं घटः" इत्याकारक प्रत्यभिज्ञाज्ञानभी बन सकता है अर्थात् यदि अवयवी अग्निसंयोगसे विनष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होय तो " सोऽयं घटः" यह प्रत्यभिज्ञाज्ञान नहीं हुआ चाहिये परन्तु होता तो है.इसलिये अग्निसंयोगसे अवयवीका विनाश मानना उचित नहीं परन्तु जहां ' सोऽयं ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक बुद्धि नहीं होती वहां अवयवीका अग्निआदिसंयोगसे विनाशभी हमको स्वीकार है–इति ।

संख्यां निरूपयितुमाह, गणनेति –

भाषा–' गणना ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संख्याका निरूपण करतेहैं–

गणनाव्यवहारे तु हेतुः संख्याऽभिधीयते ॥१०६॥

भाषा–गणनाव्यवहारमें हेतुभूत गुणका नाम संख्या है ॥ १०६ ॥

गणनव्यवहारासाधारणकारणं संख्येत्यर्थः ॥ १०६ ॥

भाषा–अर्थात् परिगणनरूप व्यवहारका असाधारण कारणरूप संख्यात्मक गुण है ॥ १०६ ॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ॥

भाषा–उसमें एकत्वरूप संख्या नित्यपदार्थोंमें नित्य है तथा अनित्यपदार्थोंमें अनित्य है.

नित्येष्विति । नित्येषु परमाण्वादिष्वेकत्वं नित्यम् । अनित्ये घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् परमाणुआदि नित्यपदार्थोंमें एकत्व नित्य है तथा घटादि अनित्योंमें एकत्व अनित्य है.

द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः॥१०७॥

भाषा—और द्वित्वादि संख्यासे लेकर परार्ध पर्यन्त यावत् संख्या अपेक्षाबुद्धि जन्य है ॥ १०७ ॥

द्वित्वादय इति । द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः ॥ १०७ ॥

भाषा—अर्थात् (व्यासज्यवृत्ति) धर्मद्वय समनियतवृत्ति द्वित्वादि परार्द्धपर्यंत यावत् संख्या अपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न होतीहै. "एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा॥लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः ॥ अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दश वृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ १ ॥" इस गणितविद्याके नियमानुसार यदि एक अंकके आगे "१०००००००००००००००००" ऐसे सत्रह शून्य लगादिये जावें तो उस संख्याका नाम परार्द्ध है. एवं द्वित्वादि संख्यासे लेकर एतादृश परार्द्धपर्यन्त यावत्संख्या अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होतीहै ॥ १०७ ॥

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ॥

भाषा—यह सब द्वित्वादि धर्म अनेक आश्रयोंमें पर्याप्तिसम्बन्धसे रहते हैं, यह पूर्वजविद्वान् लोगोंका अनुभवानुरोधेन कथन है.

अनेकेति । यद्यपि द्वित्वादिसमवायः प्रत्येकं घटादावपि वर्तते, तथाऽप्येको द्वाविति प्रत्ययाभावादेको नद्वाविति प्रत्ययसद्भावाच्च द्वित्वादीनां पर्याप्तिलक्षणः कश्चन सम्बन्धोऽनेकाश्रयोऽभ्युपगम्यते ।

भाषा—यद्यपि द्वित्वादिका समवायभी प्रत्येक घटादिमें रहता है, इसलिये ऐसे स्थलमें पर्याप्तिसम्बन्धकी कल्पना करनी उचित नहीं तथापि " एको द्वौ " इत्याकारक प्रत्ययके न होनेसे तथा "एको न द्वौ" इत्याकारक प्रत्ययके होनेसे द्वित्वादिकोंका 'पर्याप्ति' नामक कोईएक सम्बन्ध अनेक द्रव्यरूप आश्रयोंमें रहनेवाला प्रतीत होताहै. "अयमेको घटः, इमौ द्वौ" इत्याकारक प्रतीति सिद्ध स्वरूप सम्बन्धविशेषका नाम 'पर्याप्ति' है ।

अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः ॥१०८॥

भाषा—उस अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेसे उन द्वित्वादि धर्मोंकाभी विनाश होताहै १०८

अपेक्षाबुद्धिनाशादिति।प्रथममपेक्षाबुद्धिः,ततो द्वित्वोत्पत्तिः,ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्परूपं, ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाश इति ।

भाषा-प्रथम क्षणमें " अयमेकः अयमेकः " इत्याकारक अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होतीहै. दूसरे क्षणमें उस अपेक्षाबुद्धिसे द्वित्वकी उत्पत्ति होतीहै. तीसरे क्षणमें द्वित्वके द्वित्वत्वरूप विशेषणका निर्विकल्पात्मक " इमे द्वित्वद्वित्वत्वे" इत्याकारक ज्ञान होताहै. चौथे क्षणमें द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्वका लौकिक प्रत्यक्ष तथा अपेक्षाबुद्धिका विनाश होताहै, पीछे पञ्चमक्षणमें द्वित्वादिका विनाश होताहै.

यद्यपि ज्ञानान्तरं द्विक्षणमात्रस्थायि, योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्। तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते, अन्यथा निर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यान्न तु द्वित्वप्रत्यक्षम्, तदानीं विषयाभावात्, विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात् । तस्माद्द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षाबुद्धेर्नाशकं कल्प्यते ।

भाषा-यद्यपि और साधारण यावत् ज्ञान द्विक्षणमात्र स्थित रहतेहैं, क्योंकि यह नियम है कि-प्रत्यक्षके योग्य विभुके विशेषगुण स्वउत्तरवर्त्ति विभु विशेषगुणसे नाश हुआ करतेहैं तथापि अपेक्षाबुद्धिकी तीनक्षण स्थितिकी कल्पना करनी पड़तीहै (अन्यथा) यदि तीन क्षण स्थितिकी कल्पना न करें अर्थात् और ज्ञानोंकी तरह द्विक्षणस्थायिही अपेक्षाबुद्धिभी मानें तो द्वित्वत्वनिर्विकल्परूप ज्ञानकालहीमें अपेक्षाबुद्धिके नाशके अनन्तर द्वित्वकाभी नाश होगा तो द्वित्वका साक्षात्कार नहीं होसकेगा; क्योंकि उस कालमें द्वित्वआत्मकविषय नहीं रहाहै और चक्षुरादि इन्द्रियद्वारा विद्यमान विषयकाही ज्ञान होताहै. यह वार्ता सभी विद्वानोंके सम्मत है. इसलिये द्वित्वादिका साक्षात्कारही अपेक्षाबुद्धिका विनाशक है, यह कल्पना करनी पड़तीहै,

न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम् । कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावादपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशस्तन्नाशक इति कल्पनात् ।

शंका-अपेक्षाबुद्धि विनाशके पीछे द्वित्वादिका विनाश कैसे होताहै? समाधान-अपेक्षाबुद्धिके असत्त्वकालमें द्वित्वादिधर्मोंका साक्षात्कार नहीं होता इसलिये यह निश्चय होता है कि-अपेक्षाबुद्धिही द्वित्वादि धर्मोंके उत्पन्न करनेवाली है और अपेक्षाबुद्धिका विनाशही उन द्वित्वादि धर्मोंका विनाशक है.

अतएव तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिकं तेनैव गृह्यत इति कल्प्यते ।

भाषा-(अतएव) पूर्वोक्त युक्तिसे अपेक्षाबुद्धिको अवश्य द्वित्वादिउत्पादिकता है; इसीलिये यहभी कल्पना होतीहै कि-उस उस पुरुषकी अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्नहुए द्वित्वादिको वही वही पुरुष ग्रहण करसकताहै; दूसरा नहीं.

न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, लाघवेन द्वित्वं प्रति कारणत्वस्यैवोचितत्वात् । अतीन्द्रिये द्व्यणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम्, सर्गादिकालीनपरमाण्वादावीश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनामपेक्षाबुद्धिर्वा द्वित्वादिकारणमिति ।

शंका-अपेक्षाबुद्धिको यदि द्वित्वादि उत्पत्तिके प्रति कारणता न मानें किन्तु केवल द्वित्वादि प्रत्यक्षके प्रतिही कारणता मानें तो हानि क्या है? समाधान-लाघवानुरोधसे द्वित्वादिके प्रतिही अपेक्षाबुद्धिको कारणता माननी उचित है अर्थात् 'द्वित्वप्रत्यक्षत्व' की अपेक्षासे 'द्वित्वत्व' रूप धर्मको कार्यतावच्छेदक माननेमें लाघव है. द्व्यणुकादि अतीन्द्रियपदार्थोंमें योगी लोगोंकी अपेक्षाबुद्धि होती है. सृष्टिके आदिकालमें परमाणुआदिकोंमें ईश्वरकी अपेक्षाबुद्धि होती है अथवा दूसरे ब्रह्माण्डमें होनेवाले योगीलोगोंकी अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादिका कारण होती है-इति ॥१०८॥

अपेक्षाबुद्धिः केत्यत आह, अनेकेति-

शंका-वह अपेक्षाबुद्धि कैसी होती है?

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते ॥

समा०-अनेक पदार्थोंमें एकत्वअवगाहन करनेवाली बुद्धिका नाम 'अपेक्षाबुद्धि' है.

'अयमेकोऽयमेकः' इत्याकारिकेत्यर्थः । इदं तु बोध्यम् । यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र द्वित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्योत्पद्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः ।

भाषा-अर्थात् अनेक पदार्थोंमें "अयमेकोऽयमेकः" इत्याकारक बुद्धिका नाम 'अपेक्षाबुद्धि' है. यहांपर यह भेदभी जानने योग्य है कि-'कन्दली' नामक ग्रंथका कर्ता श्रीधर पंडित तो यह कहता है कि-जिस स्थलमें एकत्वका ज्ञान अनियत है अर्थात् नियमपूर्वक नहीं होता उस स्थलमें द्वित्वादि भिन्न बहुत्वसंख्या-

की उत्पत्ति होती है. जैसे सेना सभादि पुरुषसमूहमें या वनवाटिकादि वृक्षसमूहमें एकत्वज्ञान अनियत है; इसलिये इत्यादि स्थलोंमें द्वित्वादिभिन्न बहुत्वसंख्याकी उत्पत्ति होती है-इति

आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यन्ते, तथाच त्रित्वत्वादिव्यापिका बहुत्वत्वजातिर्नातिरिच्यते। सेनावनादौ चोत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो दोषात्।

भाषा-और उदयनाचार्य तो यह कहते हैं कि-त्रित्वादिहीका नामान्तर 'बहुत्व' है; बहुत्व कोई त्रित्वादिसे पृथक् धर्म नहीं है. एवं त्रित्वत्वादि धर्मोंकी व्यापकीभूता बहुत्वत्वरूपा जातिभी कोई अतिरिक्त नहीं है. सेनावनादिकोंमेंभी त्रित्वादि उत्पन्न तो होतेहैं परन्तु उनमें नियतानेक एकत्वज्ञानाभावरूप दोषके प्रभावसे त्रित्वत्वादि धर्मोंका ग्रहण नहीं होता.

इत्थं च 'इतो बहुतरेयं सेना' इति प्रतीतिरुपपद्यते,बहुत्वस्य संख्यान्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावान्नोपपद्येतेत्यवधेयम्।

भाषा-(इत्थञ्च) ऐसे मन्तव्यसे " इतो बहुतरेयं सेना " अर्थात् इस सेनासे इस द्वितीय सेनाके बहुत्वमें स्वसजातीयनिरूपित उत्कर्ष प्रतीत होता है. इस प्रतीतिकीभी उपपत्ति होसकती है; परन्तु यदि बहुत्वको त्रित्वादिसे संख्यान्तर मानें तो उसकी अपने आपमें न्यून अधिकता कुछ नहीं बन सकती, इसलिये " इतो बहुतरेयं सेना " इस प्रतीतिका उपपन्न होना दुर्घट है-इति।

परिमाणं निरूपयति, परिमाणमिति-

भाषा-' परिमाणं ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार परिमाणका निरूपण करतेहैं-

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्॥ १०९॥
अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः॥

भाषा-मानव्यवहारके कारणीभूतका नाम'परिमाण' है॥ १०९॥ वह परिमाण अणु दीर्घ महत् तथा ह्रस्व भेदसे चार प्रकारका है.

परिमितिव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणमित्यर्थः॥ १०९॥ तच्चतुर्विधम्, अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं च। इदं चातुर्विध्यं प्रत्यक्षसिद्धम्। तत्राणुत्वह्रस्वत्वे महत्त्वदीर्घत्वे च समनियते।

भाषा-अर्थात् "इदं अणु, इदं महत्" इत्याकारक जो (परिमिति) परिमापण

रूप व्यवहार उसका असाधारण कारणीभूत परिमाण है ॥ १०९ ॥ वह अणु महत् दीर्घ तथा ह्रस्वभेदसे चार प्रकारका है. यह चारों प्रकारका प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध है. उनमें अणुत्व ह्रस्वत्व तथा महत्त्व दीर्घत्व ये दो दो आपसमें समनियत रहतेहैं. भाव यह कि--इन चारों प्रकारके परिमाणको पहले परम मध्यम भेदसे दोप्रकारका जानना चाहिये. उनमें परमअणुत्व तथा परमह्रस्वत्व परमाणुओंमें तथा मनमें है. एवं मध्यम अणुत्व तथा मध्यमह्रस्वत्व द्व्यणुकमें है. एवं परममहत्त्व तथा परमदीर्घत्व गगनादिकोंमें है और मध्यममहत्त्व तथा मध्यमदीर्घत्व घटादि पदार्थोंमें है. इस रीतिसे ये दो दो परस्पर समनियत हैं.

अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्॥११०॥
संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ॥
अनित्यं-

भाषा--वह परिमाण घटपटादि अनित्यपदार्थोंमें अनित्य है तथा गगनादि नित्यपदार्थोंमें नित्य है ॥ ११० ॥ इनमें अनित्यपरिमाणकी संख्यासे परिमाणसे तथा (प्रचय) शिथिलाख्य संयोगसे उत्पत्ति होतीहै.

तत्परिमाणम् । नित्यमित्यत्र परिमाणमित्यनुषज्यते । जायत इत्यत्रापि परिमाणमित्यनुवर्तते । अनित्यमिति पूर्वेणान्वितम् । तथाचानित्यं परिमाणं संख्याजन्यं परिमाणजन्यं प्रचयजन्यं चेत्यर्थः ।

भाषा--मूलपठित ' तत् ' शब्दसे परिमाणका ग्रहण है. एवं ' नित्यं ' इस पदके साथ ' परिमाणं ' इस पदका पूर्वकारिकासे अनुवर्तन करके सम्बन्ध करना. एवं ' जायते ' इस क्रियापदके साथभी ' परिमाणं ' इस पदका पीछे सम्बन्ध करना कारिकाके उत्तरार्द्धके आदिमें पठित 'अनित्य' पदका पूर्व पदोंके साथ अन्वय है. एवं यह अर्थ हुआ कि--अनित्यपरिमाण संख्याजन्य परिमाणजन्य तथा प्रचयजन्य होनेसे तीन प्रकारसे उत्पन्न होताहै.

तत्र सङ्ख्याजन्यमुदाहरति, द्व्यणुकादाविति-

भाषा-उनमें ' द्व्यणुकादौ ' इत्यादि ग्रन्थसे संख्याजन्यको दिखलाते हैं-

-द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम् ॥१११॥

भाषा-द्व्यणुकादिकोंका परिमाण संख्यासे उत्पन्न होताहै ॥ १११ ॥

द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणम् । परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात् । द्व्यणुकादिपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम्, अतः परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य,द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्य समवायिकारणमित्यर्थः ॥ १११ ॥

भाषा-द्व्यणुकके या त्रसरेणुके परिमाणके प्रति परिमाणु परिमाणको या द्व्यणुक परिमाणको कारणता नहीं है; क्योंकि परिमाणको नियमसे स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाणजनकता है.भाव यह कि-परिमाणका यह स्वभाव है कि, यह अपनेसे उत्कृष्ट परिमाणहीका जनक होताहै और द्व्यणुकादिका परिमाण तो परमाणुके अणुत्वकी अपेक्षासे कुछ उत्कृष्ट नहीं है और त्रसरेणुका परिमाण परमाणुपरिमाणका सजाति नहीं है क्योंकि त्रसरेणुका परिमाण इन्द्रियग्राह्य होनेसे मध्यममहत् है तथा परमाणुका परिमाण परम अणु है इसलिये परमाणुद्वयगत द्वित्वसंख्या द्व्यणुकपरिमाणके प्रति तथा द्व्यणुक तीनगत त्रित्वसख्या त्रसरेणुपरिमाणके प्रति असमवायिकारण हैं; यही मानना उचित है ॥ १११ ॥

परिमाणजन्यमुदाहरति, परिमाणं घटादाविति-

भाषा-एवं ' परिमाणं ' इत्यादि ग्रन्थसे परिमाणजन्य परिमाणको दिखलाते हैं.

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते ॥

परिमाणजं कपालादिपरिमाणजन्यम् ।

भाषा-घटादिगत परिमाणके प्रति कपालादिगत परिमाणको असमवायि कारणता है.

प्रचयजन्यमुदाहर्त्तुं प्रचयं निर्वक्ति, प्रचय इति -

भाषा-एवं प्रचयजन्य परिमाण प्रदर्शनार्थ पहले 'प्रचयः' इत्यादि ग्रन्थसे प्रचयको दिखलाते हैं.

प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते ॥११२
परिमाणं तूलकादौ-

भाषा-' प्रचय ' नाम शिथिलाख्य संयोगका है ॥ ११२ ॥ उस संयोगसे (तूल) रूई आदिकोंमें परिमाणान्तरकी उत्पत्ति होती है.

परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह, नाश इति—

भाषा—उस परिमाणका स्वाश्रय नाश होनेसे नाश होताहै; इसीको 'नाशस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं.

—नाशस्त्वाश्रयनाशतः॥

अर्थात् परिमाणस्यैव।

भाषा—उस परिमाणका अपने आश्रयद्रव्यके नाश होनेसे नाश होताहै अर्थात् आश्रयद्रव्यके नाश मात्रसे केवल परिमाणहीका नाश होताहै, गुणान्तरका नहीं.

न चावयविनाशः कथं परिमाणनाशकः, सत्यप्यवयविनि त्रिचतुरादिपरमाणुविश्लेषे तदुपचये चावयविनः प्रत्यभिज्ञानेऽपि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यम्।

शंका—अवयवीका नाश उसके परिमाणका नाशक तो नहीं बनसकता; क्योंकि पटादि अवयवी बनाभी रहे परन्तु उसमेंसे यदि तीन चार (परमाणु) हिस्से अर्थात् तन्तु आदि निकाल लिये जाँय अथवा और डालदिये जाँय तो 'यह वही पट है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाज्ञान उसमें होनेसेभी उसका परिमाणान्तर होजाताहै;यह वार्ता तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें अवयवीनाशरूप कारणके न होनेपरभी परिमाणनाशरूप कार्य देखनेमें आया; इसलिये व्यतिरेकव्यभिचार हुआ.

परमाणुविश्लेषे द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे च त्र्यणुकनाश इत्येवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात्। सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापवादितुमशक्यत्वात्। शरीरादाववयवोपचये ऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः।

समाधान—परमाणुद्वयके विश्लेषसे द्व्यणुकका विनाश तो आपको स्वीकृतही होगा. एवं द्व्यणुकके नाश होनेसे त्रसरेणुका नाशभी माननेही योग्य है; इसी क्रमसे महाअवयवीपर्यन्त विनाशका विचार अवश्य करना उचित है. इस क्रमसे यदि परिमाणका विनाशक अवयवीनाशही बुद्धिमें आजाय तो केवल उसके ना स्वीकार करणमात्रसे आप अवयवीनाशका अपलाप नहीं करसकते, असमवायिकारणके विनाशसे कार्यका विनाश नियमसे होताहै. एवं शरीरादिकोंमेंभी (अवयव) अङ्गोंके बढ़नेसे शरीरके असमवायिकारण अवयवसंयोगका विनाश अवश्य होताहै, इसलिये अवयवी शरीरका विनाशभी अवश्य मानना चाहिये.

न च पटविनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात् परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यम्। तत्रापि वेमाद्यभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात् पटनाशस्यावश्यकत्वात्।

शंका-दोचार तन्तुओंके निकलनेसे पटके विनाश होनेपरभी उस पटमें यदि तन्तु अन्तरका संयोग होय तो वही पट अधिक परिमाणवाला होजाताहै, वह नहीं हुआ चाहिये. समाधान-ऐसे स्थलमेंभी वेमादिके अभिघाताख्य संयोगसे पटका असमवायिकारण जो परस्पर तन्तुद्वयसंयोग उसका नाश होताहै; इसलिये पटका विनाशभी अवश्यही मानना चाहिये.

किंच तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्, तन्त्वन्तररूपकारणाभावात्। तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरवत्।

भाषा-(किञ्च) तन्तुअन्तरभी यदि उसी पूर्वपटके अवयवही मान लिये जांय तो उन तन्तुओंके सम्बन्धसे पहले वह पटही नहीं होना चाहिये; क्योंकि स्वसम्बन्धसे प्रथम तन्तुअन्तररूप कारण विद्यमानही नहीं है और यदि तन्तुअन्तरको उस पटका (अवयव) समवायिकारणही नहीं मानें तो उनसे पटपरिमाणके अधिक होनेकी संयुक्तद्रव्यकी तरह शंकाही नहीं होसकती अर्थात् जैसे घटपटादिके परस्पर संयोगसे घटके या पटके परिमाणको अधिक कोई नहीं मानता किन्तु संयुक्तमात्र व्यवहार करतेहैं वैसेही तन्तुअन्तरके सम्बन्धसे प्रथम पटमेंभी समझना चाहिये.

तस्मात्तत्र तंत्वन्तरसंयोगे सति पूर्वं पटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्यं स्वीकार्यम्। अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीपकलिकादिवत्।

भाषा-इसलिये ऐसे स्थलमें यही सिद्धान्त अवश्य मानना उचित है कि, तन्तु अन्तरके संयोग होनेसे उस पूर्वपटका विनाश हुआहै और नूतन पटान्तरकी उत्पत्ति हुई है. एवं " स एवायं पटः " इत्यादि प्रत्यभिज्ञाज्ञानका निर्वाह दीपशिखाकी तरह सजातीयके अवगाहन करनेवाला समझना चाहिये अर्थात् जैसे क्षण२ में बदलती हुई दीपशिखामें " यह वही दीपशिखाप्रज्वलित है" इत्याकारक साजात्यावलम्बी प्रत्यय लोकमें सर्वानुभवसिद्ध है; वैसेही प्रकृतमेंभी जानना चाहिये.

न च पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहकारात् पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यम् । मूर्तयोः समानदेशताविरोधात् । एकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य बाधितत्वाच्च। पूर्वद्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरित्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्।

शंका-प्रथम तन्तुही यदि औरतन्तुओंकी सहकारतासे पहले पटके रहनेपरभी दूसरे पटको उत्पन्न करें तो क्या दोष है?समाधान-दो मूर्तद्रव्य समान एक देशमें नहीं रहसकते अर्थात् मूर्तद्रव्य देशका प्रतिरोधक होता है, इसलिये दो मूर्त एक देशमें नहीं रह सकते और ऐसे स्थलमें एकही बार नानाद्रव्यकी उपलब्धिभी नहीं होती अर्थात् एकही पटादि पदार्थ एकही कालमें दोतरहका कभी किसी पुरुषको दिखाई नहीं दिया इसलिये उत्तरद्रव्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकरूप पूर्वद्रव्यके विनाश होनेसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होतीहै; इस वार्ताको अवश्य मानना चाहिये.

पृथक्त्वं निरूपयति, संख्यावदिति-

भाषा-एवं 'संख्यावत्' इत्यादि ग्रन्थसे पृथक्त्वका निरूपण करतेहैं-

संख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम्॥११३॥

भाषा-पृथक्प्रत्ययका कारणीभूत पृथक्त्वगुणभी संख्याकी तरहही जानना चाहिये ॥ ११३ ॥

पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । तन्नित्यतादिकं संख्यावत् । तथाहि।नित्येष्वेकत्वं नित्यमनित्येष्वनित्यम् । अनित्यमेकत्वं स्वाश्रयद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते आश्रयनाशान्नश्यति।तथैकपृथक्त्वमपि । द्वित्वादिवच्च द्विपृथक्त्वादिकमपीत्यर्थः ॥११३॥

भाषा-अर्थात् "अयं अस्मात् पृथक्" इत्याकारक प्रत्ययका असाधारण कारण 'पृथक्त्व'है उसके नित्य अनित्य होनेका विचार संख्याकी तरह जानना चाहिये.(तथाहि) अर्थात् जैसे नित्यपदार्थोंमें एकत्व नित्य है और अनित्योंमें अनित्य है और वह अनित्य एकत्व अपने आश्रयमें स्वाश्रयकी उत्पत्तिसे दूसरे क्षणमें उत्पन्न होता है, एवं स्वाश्रयनाशहीसे नाश होताहै. वैसेही पृथक्त्वकोभी जानना चाहिये. एवं पूर्वोक्त द्वित्वादिकोंकी तरह द्विपृथक्त्वादिकोंका उत्पत्तिविनाशभी जानलेना चाहिये अर्थात् अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारणसे इनकी उत्पत्ति है तथा अपेक्षाबुद्धि आदिके विनाशसे इनका विनाश है ॥ ११३ ॥

ननु 'अयमस्मात् पृथग्' इत्यादावन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते, नचास्तु पृथक्त्वं, न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यम्, रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः। न हि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति, न वा घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति येन परम्परासम्बन्धः कल्प्य इत्यत आह, अन्योन्याभावत इति-

शंका-" अयमस्मात् पृथक् " इत्यादि प्रतीतिमें अन्योन्याभावका भान होताहै; इसलिये इस प्रतीतिसे पृथक्त्वको गुणान्तर मानना योग्य नहीं और यदि कहो कि-पृथक्त्वके गुणान्तर माननेसे सर्वत्र निर्वाह हो सकताहै इसलिये अन्योन्याभाव माननेकी अवश्यकताही नहीं तो यहभी ठीक नहीं; क्योंकि यदि अन्योन्याभावप्रतीति सिद्ध न होय तो " रूपं न घटः " यह प्रतीति नहीं हुई चाहिये. भाव यह कि-इस प्रतीतिका निर्वाह पृथक्त्वसे नहीं होसकता; क्योंकि रूपमें घटात्मक अवधिको लेकर कोई पृथक्त्वनामक गुणान्तर नहीं है और घटमें स्वात्मक अवधिको लेकरभी पृथक्त्व नहीं रहता जिससे ' सामानाधिकरण्य ' रूप परंपरासम्बन्धकी कल्पनासे उक्त प्रतीतिका निर्वाह किया जाय इसी भावको लेकर मूलकार ' अन्योन्य ' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थको कहतेहैं-

अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते ॥
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा॥११४॥

समाधान-इस पृथक्त्वात्मकगुणकी अन्योन्याभावसे चरितार्थता नहीं होती; क्योंकि"अयमस्मात् पृथक्" इससे "इदमिदं न" यह प्रतीति विलक्षण है ॥ ११४॥

विलक्षणेति। ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेत्। न। विनाऽर्थभेदं घटात् पृथगितिवत् 'घटो न पटः' इत्यत्रापि पञ्चमी स्यात्। तस्मात् यदर्थकयोगे पञ्चमी सोऽर्थो नञर्थोऽन्योन्याभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्प्यत इति ॥ ११४ ॥

शंका-इन दोनों प्रतीतियोंमें परस्पर केवल शब्दमात्रकी विलक्षणता है किन्तु अर्थभेद नहीं है. समाधान-यदि अर्थभेद न होय तो जैसे " घटात् पृथक् " इस प्रयोगमें पञ्चमीविभक्ति हुईहै, वैसे 'घटो न पटः' इस प्रयोगमेंभी पञ्चमी होनी चाहिये. भाव यह कि-यादि ' नञ् ' तथा 'पृथक्' अव्यय इन दोनोंका एकही अर्थ होय तो

जैसे पृथक्के योगसे " पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २ । ३ । ३२ " इस सूत्रसे पञ्चमीआदि विभक्ति होतीहैं; वैसेही ' नञ् 'के योगमेंभी होनी चाहिये; परन्तु किसी स्थलमेंभी विधानके न होनेसे होती नहीं है. इसलिये दोनोंका एक अर्थ मानना भी उचित नहींहै; इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जिस अर्थके योगमें पञ्चमी हुई है, वह अर्थ नञ् अर्थ अन्योऽन्याभावसे भिन्न अवश्य कोई गुणान्तर है-इति ॥ ११४ ॥

संयोगं निरूपयति, अप्राप्तयोरिति-

भाषा-एवं ' अप्राप्तयोः ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संयोगका निरूपण करतेहैं-

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ॥

तं विभजते, कीर्तित इति-

कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः ॥११५॥
तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः ॥

एष संयोगः ॥ ११५ ॥

आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः ॥ ११६ ॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ॥
कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७॥
तृतीयः स्यात्-

भाषा-अप्राप्त द्रव्योंके परस्पर (प्राप्ति) मिलापका नाम ' संयोग ' है; वह संयोग तीन प्रकारका है. उनमें प्रथम अन्यतर क्रियासे उत्पन्न होताहै ॥ ११५ ॥ दूसरा उभयक्रियासे उत्पन्न होताहै और तीसरा संयोगसे संयोग उत्पन्न होताहै. इनमें प्रथम पर्वत पक्षी आदिकोंका संयोग है अर्थात् पर्वत अचल है, केवल पक्षीआदिकी क्रियासे पर्वतमें संयोग होताहै ॥ ११६ ॥ एवं परस्पर (मेष) मेढआदिका (सन्निपात) टक्कर लगानारूप दूसरा संयोग है अर्थात् ऐसा संयोग उभयत्र क्रिया हो तो होताहै. एवं कपालवृक्षके संयोगसे होनेवाला घटवृक्षका संयोग ॥ ११७ ॥ तीसरा संयोग है.

सन्निपातः संयोगः । द्वितीय उभयकर्मजः ॥ ११६ ॥ ११७॥ तृतीय इति, संयोगज इत्यर्थः । तृतीयः स्यादिति च पूर्वेणान्वितम् ।

भाषा-मूलमें 'सन्निपात' यह शब्द संयोगका वाचक है. एवं द्वितीयशब्द उभयक्रियाजन्य संयोगपर है ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ (तृतीय इति) अर्थात् संयोगसे उत्पन्न होनेवाला संयोग मूलघटित 'तृतीयः स्यात्' इस भागका पूर्वले पदोंके साथ अन्वय है.

-कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ॥
अभिघातो नोदनं च शब्दहेतुरिहादिमः ॥ ११८ ॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात्-

भाषा-वह क्रियाजन्य संयोग फिर दो प्रकारका है. एक अभिघाताख्य संयोग है; और दूसरा नोदनाख्य है. जिस संयोगके होनेसे शब्द होय वह अभिघाताख्य संयोग है ॥ ११८ ॥ एवं जिसके होनेसे शब्द न होय वह नोदनाख्य संयोग है.

आदिमोऽभिघातः ॥ ११८ ॥ द्वितीयो नोदनाख्यः संयोग इति ।

भाषा-मूलमें 'आदिम' शब्दसे अभिघाताख्य संयोगका ग्रहण है ॥ ११८ ॥ तथा 'द्वितीय' शब्दसे नोदनाख्यसंयोगका ग्रहण है.

विभक्तप्रत्ययासाधारणं कारणं विभागं निरूपयति, विभाग इति-

भाषा-एवं 'विभाग' इत्यादि ग्रन्थसे विभक्तप्रत्ययके असाधारण कारणीभूत विभागका निरूपण करतेहैं-

-विभागोपि त्रिधा भवेत् ॥
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥
विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ॥
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥

भाषा-एवं संयोगकी तरह विभागभी तीन प्रकारका है. उनमें प्रथम एककी क्रियासे उत्पन्न होताहै; दूसरा दोनोंकी क्रियासे उत्पन्न होताहै ॥ ११९ ॥ और तीसरा विभागसे विभाग उत्पन्न होताहै. वह तीसरा फिर दोप्रकारका है. पहला केवल कारणमात्रके विभागसे उत्पन्न होताहै और दूसरा कारणाकारण उभयके विभागसे उत्पन्न होताहै ॥ १२० ॥

एककर्मेति । उदाहरणं तु श्येनशैलविभागादिकं पूर्ववद्बोध्यम् ॥ ॥ ११९ ॥ तृतीयो विभागजः कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति । आद्यस्तावत्-यत्र कपाले कर्म ततः

कपालद्वयविभागस्ततो घटारम्भकसंयोगनाशस्ततो घटनाशस्ततस्तेनैव कपालविभागेन स्वकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते, तत आकाशसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगस्ततः कर्मनाश इति ।

भाषा—तीनों प्रकारके विभागके उदाहरणभी पीछे लिखे तीनों प्रकारके संयोगकी तरहही जानने चाहिये अर्थात् श्येन शैलादिका विभाग अन्यतरक्रियाजन्य है तथा मेषद्वयका विभाग उभयक्रियाजन्य है और तीसरा विभागजविभाग दोप्रकारका है. एक कारणमात्र विभागजन्य है, दूसरा कारणाकारणविभागजन्य है; उनमें प्रथमका उदाहरण जैसे पहले कपालमें क्रिया हुई उस क्रियासे कपालद्वयका विभाग हुआ, उस विभागसे पीछे घटके आरम्भक कपालद्वयके संयोगका विनाश हुआ पीछे घटका नाश हुआ, उससे पीछे उसी कपालद्वयविभागसे पूर्वोक्त क्रियायुक्त कपालका आकाशके साथ विभाग उत्पन्न होता है; उससे पीछे आकाशसंयोगका विनाश होता है. उससे पीछे कपालका उत्तर देशके साथ संयोग होता है. उससे पीछे कपालगत क्रियाका विनाश होता है—इति ।

न च तेन कर्मणैव कथं देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम् । एकस्य कर्मण आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य च विरोधात् ।

शंका—उस कपालद्वयविभागजनक प्रथमक्रियाहीसे यदि (देशान्तर) कपालाकाशादि विभागभी मान लियाजाय तो हानि क्या है? अर्थात् वह प्रथमक्रियाही कपालाकाशादि देशान्तर विभागकोभी उत्पन्न क्यों नहीं करती? उसके लिये जुदा कपालद्वयविभागमें कारणता कल्पनेकी कौन आवश्यकता है. समाधान—एक क्रियामें (आरम्भकसंयोग) कपालद्वय संयोगादिविरोधि विभागजनकता तथा (अनारम्भकसंयोग) कपालाकाशसंयोगादि विरोधिविभागजनकता नहीं रहती क्योंकि इन दोनों धर्मोंका परस्पर विरोध है.

अन्यथा विकसत् कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात् ।

भाषा—(अन्यथा) यदि आरम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको तथा अनारम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको एकही मानें तो विकसत्कमलके कुड्मलका भङ्ग होजाना चाहिये अर्थात् खिलते हुए कमलकी डोड़ी टूट जानी चाहिये. यहां भाव यह है कि—खिलतेहुए कमलमें अग्रावच्छेदेन अनारम्भक संयोगके विरोधिविभागकी जनका क्रिया है, उसी क्रियासे यदि मूलावच्छेदेन आरम्भकसंयो-

गविरोधिविभागभी मान लिया जाय तो उस विभागसे कमलके आरम्भकसंयोगके नाश होनेके पश्चात् कमलका विनाशभी हुआ चाहिये परन्तु ऐसा होता देखनेमें नहीं आता.

तस्माद्यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं जनयेत्, तदा आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत् ।

भाषा-इसलिये आरम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको तथा अनारम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको एक मानना उचित नहीं है; किन्तु यही मानना उचित है कि-क्रिया जिस कालमें अनारम्भकसंयोगविरोधि विभागको उत्पन्न करती है उस कालमें आरम्भक संयोगके विरोधिविभागको नहीं उत्पन्न करती.

न च कारणविभागेनैव द्रव्यनाशात्पूर्वं कुतो देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम् । आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागसम्भवात् ॥ १ ॥

शंका-कारणविभागहीसे अर्थात् कपालद्वयविभागादिहीसे घटादि द्रव्यनाशसे पहले देशान्तरविभागभी क्यों नहीं उत्पन्न होता? यदि होता है तो "ततो घटनाशः, ततस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते" यह पूर्वकथन आपका असङ्गत होगा. समाधान-कपालद्वय विभागादिसे घटादिद्रव्यनाशके पहले देशान्तर विभाग उत्पन्न नहीं होसकता; क्योंकि आरम्भकसंयोगके (प्रतिद्वंद्वि) विरोधिविभागवाले कपालादि अवयवका (सति द्रये) द्रव्यनाशके विना देशान्तरके साथ विभाग होना असम्भव है १ ।

द्वितीयस्तावत् । यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययो भवति तत्र च शरीरतरुविभागे हस्तक्रिया न कारणं व्यधिकरणत्वात्, शरीरे तु क्रिया नास्त्येव, अवयविकर्मणो यावदवयवकर्मनियतत्वात् । अतस्तत्र कारणाकारणविभागेन कार्याकार्यविभागो जन्यत इति । २ ।

भाषा-एवं द्वितीयका उदाहरण जैसे जहां(हस्त)हाथमें क्रिया होनेसे हाथ वृक्षका विभाग हुआहै. पश्चात् उसीसे शरीरमेंभी विभक्त (प्रत्यय) प्रतीति होतीहै, वहां शरीर वृक्षके विभागमें हस्तक्रियाको कारणता नहीं है क्योंकि इन दोनोंका परस्पर एक अधिकरण नहीं है और कार्यकारणभाव नियमसे समानाधिकरण पदार्थोंहीका होताहै.

शरीरवृक्षके विभागके प्रति शरीरक्रियाको कारणता कहें तो वहभी ठीक नहीं क्योंकि शरीरमें क्रिया हुईही नहीं. भाव यह कि-अवयवीके यावत् अवयवोंमें क्रिया होनेसे अवयवीमें क्रिया मानी जातीहै, अन्यथा नहीं; इसलिये ऐसे स्थलमें कारणाकारणके विभागसे कार्याकार्यविभागका उत्पन्न होनाही मानने योग्य है अर्थात् हस्तवृक्षके विभागहीसे शरीरवृक्षका विभाग उत्पन्न हुआ मानना चाहिये. हस्तवृक्षके विभाग होनेहीसे शरीरमेंभी विभक्तप्रत्यय होताहै ॥ २ ॥

अत एव विभागो गुणान्तरम् । अन्यथा शरीरे विभक्तप्रत्ययो न स्यात्।अतः संयोगनाशेन विभागो नान्यथासिद्धो भवति॥१२०॥

भाषा-इसीलिये विभागभी गुणान्तर है, किन्तु संयोगनाशरूप नहीं है. (अन्यथा) यदि गुणान्तर न मानें किन्तु संयोग नाशरूपही मानें तो शरीरमें विभक्तप्रत्यय नहीं होना चाहिये इसलिये संयोगनाशसे विभाग अन्यथा सिद्ध नहीं है ॥१२०॥

परापरव्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति, परत्वं चेति--

भाषा-एवं 'परत्वं' इत्यादि ग्रन्थसे परापर व्यवहारके निमित्त कारणीभूत परत्व तथा अपरत्वका निरूपण करतेहैं-

परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम् ॥
दैशिकं कालिकं चेति मूर्त्त एव तु दैशिकम्॥१२१॥
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम् ॥१२२॥

भाषा-देशिक कालिक भेदसे परत्व तथा अपरत्व दोप्रकारका कहा है. उनमेंसे देशिक परत्वापरत्व तो मूर्तपदार्थहीमें रहते हैं ॥ १२१ ॥ अधिकमूर्तसंयोगज्ञानसे परत्व उत्पन्न होताहै. एवं उससे (अल्प) न्यून मूर्तसंयोगज्ञानसे अपरत्व उत्पन्न होताहै ॥ १२२ ॥

दैशिकमिति । दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानादुत्पद्यते । एवं तदल्पीयस्त्वज्ञानादपरत्वमुत्पद्यते । अत्रावधित्वार्थे पञ्चम्यपेक्षा । यथा पाटलिपुत्रात् काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः, पाटलिपुत्रात् कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपर इति ॥१२१॥१२२॥

भाषा--अनेक मूर्तपदार्थोंके परस्पर संयोगसंयोगान्तरज्ञानसे दैशिकपरत्व उत्पन्न होताहै . एवं परत्वउत्पादक संयोगसंयोगान्तरकी अपेक्षा न्यूनसंयोगसंयोगान्तेक

ज्ञानसे अपरत्व उत्पन्न होताहै. यहां अवधिज्ञानार्थ पञ्चमीविभक्तिकी अपेक्षा है; जैसे (पाटलिपुत्रात्) "पटनाको अवधि मानकर काशीकी अपेक्षा प्रयाग परे है अर्थात् पटनेमें स्थित पुरुषको काशीकी अपेक्षा प्रयाग दूर है. एवं पटनेहीमें स्थित पुरुषको कुरुक्षेत्रकी अपेक्षा प्रयाग अपर है अर्थात् समीप है." इत्याकारक व्यवहारके असाधारण निमित्तभूत मूर्तपदार्थोंमें परत्वापरत्व ये दो धर्म रहते हैं॥ १२१ ॥ १२२ ॥

तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये ॥

भाषा-उन दैशिक परत्वापरत्वोंका असमवायिकारण दैशिक परत्वापरत्व आश्रयके साथ दिशाका संयोगरूपही है.

तयोर्दैशिकपरत्वापरत्वयोः। असमवायी असमवायिकारणम्। तदाश्रये दैशिकपरत्वापरत्वाश्रये।

भाषा-मूलनिष्ठ 'तयोः' इस पदसे दैशिक परत्वापरत्वका ग्रहण है. एवं 'असमवायी' पदसे असमवायिकारणका ग्रहण है. 'तदाश्रये' इस पदसे दैशिक परत्वापरत्वके आश्रय अर्थात् पूर्वोक्तरीतिसे जिन प्रयागादि स्थलोंमें दैशिक परत्वापरत्व उत्पन्न होताहै उसका ग्रहण है.

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥ १२३॥
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ॥

भाषा-एवं सूर्यक्रियाके भूयस्त्वज्ञानसे कालिकपरत्व उत्पन्न होताहै ॥ १२३ ॥ तथा सूर्यक्रियाके अल्पीयस्त्वज्ञानसे कालिकअपरत्व उत्पन्न होताहै.

दिवाकरेति। अत्र परत्वमपरत्वं च कालिकं ग्राह्यम्। यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः, यस्य न्यूनः स कनिष्ठः। कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव।

भाषा-(अत्र) इस प्रकरणमें 'परत्व' तथा 'अपरत्व' कालिक जानना चाहिये. (यस्य) जिस पीछे उत्पन्न हुए पदार्थके साथ सूर्यक्रियाकी अपेक्षासे (यस्य) जिस प्रथम उत्पन्न हुए पदार्थसे सूर्य्यकी क्रिया अधिक सम्बन्ध रखतीहै वह पदार्थ ज्येष्ठ है अर्थात् अधिक आयुवाला है. एवं जिससे जिसमें न्यून सम्बन्ध रखतीहै वह उससे कनिष्ठ है अर्थात् कम आयुःवाला है यह कालिक परत्वापरत्व व्यवहार केवल जन्यद्रव्यहीमें होताहै, औरपदार्थोंमें नहीं होता.

अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः१२४॥

अत्र कालिकपरत्वापरत्वयोः ॥ १२४ ॥

भाषा-(अत्र) इस कालिक परत्वापरत्वमें काल (पिण्ड) जन्यद्रव्यके संयोगको असमवायिकारणता है ॥ १२४ ॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ॥

तेषां कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम् ।

भाषा-उन कालिक तथा दैशिक परत्वापरत्वोंका अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेसे नाश होताहै.

क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह, । बुद्धेरिति-

भाषा-यहां ' बुद्धेः ' इत्यादि ग्रन्थसे क्रमप्राप्त बुद्धिका निरूपण करतेहैं-

बुद्धेः प्रकारः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः ॥ १२५ ॥

अथावशिष्टोऽप्ययपरः प्रकारः परिदर्श्यते ॥

अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥१२६॥

भाषा-बुद्धिका प्रकार तो हम बहुलरूपसे पीछे आत्मनिरूपणहीमें कह चुकेहैं ॥ १२५ ॥ परन्तु उसमें जितना कुछ थोड़ासा (अविशिष्ट) बाकी है वह यहांभी दिखलातेहैं. अप्रमा तथा प्रमाभेदसे ज्ञान दोप्रकारका होताहै ॥ १२६ ॥

अप्रमां निरूपयति, तच्छून्य इति-

भाषा-यहां ' तच्छून्ये ' इत्यादि मूलग्रन्थसे अप्रमाज्ञानका निरूपण करतेहैं-

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ॥

तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥१२७॥

भाषा-(तत्) रजतत्वादिधर्माभाववाली शुक्तिमें जो (तन्मतिः) "रजतत्ववद् रजतं " इत्याकारक बुद्धि, ऐसी बुद्धिका नाम 'अप्रमा' है. विपर्यय तथा संशय आत्मकज्ञान उसी अप्रमाआत्मक बुद्धिहीका प्रपञ्च समझना चाहिये ॥ १२७ ॥

तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः । तत्प्रपञ्चो ऽप्रमाप्रपञ्चः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

भाषा-अर्थात् तद्धर्माभाववालेमें जो तद्धर्मप्रकारक ज्ञान उस ज्ञानका नाम 'भ्रम' है. मूलगत 'तत्प्रपञ्चः' इस पदसे अप्रमाज्ञानका प्रपञ्च समझना चाहिये ॥ १२७ ॥

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ॥

भवेन्निश्चयरूपा या-

आद्य इति, विपर्यास इत्यर्थः ।

भाषा-देहमें आत्मबुद्धि, तथा शंखमें पीतबुद्धि, शुक्तिमें रजतबुद्धि, इत्यादि यदि निश्चयरूपा होय तो उस बुद्धिका नाम 'विपर्ययज्ञान' है.

शरीरादौ यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकमेवं शङ्खादौ 'पीतः शङ्खः' इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद्भ्रम इति ।

भाषा-शरीरादिमें जो " गौरोऽहं, श्यामोऽहं " इत्याकारक आत्मत्वप्रकारक ज्ञान तथा शंखादिमें जो " पीतः शंखः " इत्याकारक पीतत्वप्रकारक ज्ञान यह यदि निश्चयरूप होय तो उसका नाम 'भ्रम' है-इति ।

-संशयोऽथ प्रदर्श्यते ॥ १२८ ॥

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ॥

भाषा-अब संशयात्मक ज्ञानका आकार दिखलातेहैं कि-॥ १२८ ॥ क्या यह पुरुष है कि स्थाणु है? इत्यादि ज्ञानका नाम ' संशय ' है.

किंस्विदिति वितर्के ।

भाषा-मूलगत ' किंस्वित् ' यह पद वितर्कका बोधक है तथा 'स्थाणुः' यह पद शाखाच्छिन्नवृक्षका बोधक है. भाव यह कि-'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मावगाहि ज्ञान ' का नाम 'संशय' है. उदाहरण इसका ' किंस्वित् ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलहीमें है.

निश्चयस्य लक्षणमाह, तदभावेति-

भाषा-एवं'तदभाव' इत्यादि ग्रन्थसे प्रमात्मक निश्चयज्ञानका लक्षण कहतेहैं-

तदभावाप्रकाराधीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥

भाषा-जो धर्म जिसमें नहीं रहता वह उसमें न भासे किन्तु जो धर्म जिस वस्तुमें विद्यमान है तद्धर्मप्रकारक ज्ञानही होय तो उसका नाम 'निश्चय' अर्थात् ' प्रमाज्ञान ' है ॥१२९॥

तदभावाप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः॥१२८॥१२९॥

भाषा-अर्थात् शुक्तित्वादि धर्माभावाप्रकारकत्वे सति जो शुक्तित्वप्रकारक शुक्तिविशेष्यक 'शुक्तिरियं' इत्यादि ज्ञान, उसका नाम 'निश्चय' है; इस लक्षणमें प्रथम सप्तम्यन्त विशेषण संशयमें अतिव्याप्तिवारणार्थ जानना चाहिये ॥१२८॥१२९॥

संशयं लक्षयति, स संशय इति–

भाषा–एवं ' स संशयो ' इत्यादि मूलग्रंथसे संशयका लक्षण दिखलाते हैं–

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ॥

भाषा–(एकत्र) एक धर्मीमें विरुद्धभावाभाव धर्मावगाही ज्ञानका नाम ' संशयज्ञान ' है.

एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् एक धर्मिविषयक विरुद्धभावाभावप्रकारक ज्ञानका नाम 'संशय' है. उदाहरण ' किंस्वित् ' इत्यादि मूल है.

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥

भाषा–साधारणादि धर्मका ज्ञान संशयमें कारणीभूत है ॥१३०॥

साधारणेति । उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयकारणम् । यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वा 'अयं स्थाणुर्न वा' इति सन्दिग्धे । एवमसाधारणधर्मज्ञानमपि कारणम् । यथा शब्दत्वं नित्यानित्यव्यावृत्तं शब्दे गृहीत्वा शब्दो नित्यो न वेति सन्दिग्धे ।

भाषा–अर्थात् उभयपदार्थ साधारण जो कोई एक धर्म उस धर्मका ज्ञान संशयका कारण है; जैसे ऊँचापना स्थाणु तथा पुरुष इन दोनोंमें एक जैसा है. उस ऊँचेपनेको मन्दअन्धकारमें दूरसे देखकर " अयं स्थाणुर्न वा " इत्याकारक पुरुषको सन्देह होताहै. ऐसेही असाधारण धर्मका ज्ञानभी संशयका कारण है; जैसे शब्दत्वधर्मकी गगनादि नित्य पदार्थोंसे तथा घटपटादि अनित्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति ग्रहण पूर्वक केवल शब्दमात्र वृत्तिता ग्रहण करकेभी " शब्दो नित्यो न वा " इत्याकारक पुरुषको सन्देह उत्पन्न होता है.

विप्रतिपत्तिस्तु'शब्दो नित्यो न वा'इत्यादिशब्दात्मिका न संशयकारणम्। शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वाभाव्यात् किंतु तत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते, संशयस्तु मानस एवेति।

भाषा–यहां यदि कोई कहे कि–' शब्दो नित्यो न वा ' इत्याकारक वादियोंका (विप्रतिपत्ति) विवादही संशयमें कारण है तो यह ठीक नहीं. क्योंकि 'शब्दो नित्यो न वा ' इत्याकारक वादियोंका विवाद शब्दात्मक है और शाब्दज्ञान-

में तथा व्याप्तिज्ञानमें स्वभावसे निश्चयमात्र जनकता रहती है किन्तु संशयकारणता नहीं रहती; (किन्तु) परन्तु इतना भेद है कि-ऐसे स्थलमें शब्दसे समरूपेण कोटिद्वयावगाही ज्ञान उत्पन्न होता है; तदनन्तर वहांही मानसिक संशय ज्ञान उत्पन्न होता है.

एवं ज्ञाने प्रामाण्यसंशयाद्विषयसंशय इति ।

भाषा-एवं (ज्ञाने) इदं जलं इत्यादिज्ञानमें (प्रामाण्यसंशयात्) " इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा न वा " इत्यादि प्रामाण्यसंशयसे (विषय) " इदं जलं न वा " इत्यादि संशयभी उत्पन्न होता है.

एवं व्याप्यसंशयादपि व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम् । किंतु संशये धर्मिज्ञानं धर्मीन्द्रियसन्निकर्षो वा कारणमिति ॥१३०॥

भाषा-एवं धूमादि व्याप्यमें " पर्वतो धूमवान्न वा " इत्याकारक सन्देह होनेसे वह्निआदि व्यापकमेंभी " पर्वतो वह्निमान्न वा " इत्याकारक सन्देह होताहै इत्यादि औरभी जान लेने; परन्तु संशयमें धर्मीका ज्ञान या धर्मीके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध नियमसे कारणीभूत है ॥ १३० ॥

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।

भाषा-अप्रमात्मक ज्ञानका उत्पादक दोष है तथा प्रमात्मक ज्ञानका उत्पादक गुण है.

दोष इति । अप्रमां प्रति दोषः कारणं, प्रमां प्रति गुणः कारणम् । तत्रापि पित्तादिरूपा दोषा अननुगतास्तेषां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सिद्धम् । गुणस्य प्रमाजनकत्वं त्वनुमानात्सिद्धम् । यथा प्रमा ज्ञानसाधारणकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वादप्रमावत् ।

भाषा-अर्थात् अप्रमाज्ञानके प्रति दोषको कारणता है तथा प्रमाज्ञानके प्रति गुणको कारणता है; उनमेंभी पित्तादिरूप अनेक दोष अननुगत हैं अर्थात् कहीं कोई रहता है, कहीं कोई रहता है; उन दोषोंको अप्रमाज्ञानके प्रति कारणता अन्वयव्यतिरेकद्वारा सिद्ध है अर्थात् कोई एक दोष विद्यमान होय तो अप्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, न होय तो नहीं होता और गुणको प्रमात्मक ज्ञान जनकता तो अनुमान द्वारा सिद्ध है; (यथा) जैसे अप्रमाज्ञानकी तरह जन्यज्ञान होनेसे प्रमाज्ञानभी

अवश्यज्ञानसामान्यकारणसे भिन्न किसी एक कारणसे जन्य है, ऐसा अनुमान कर सकते हैं. वह ज्ञान सामान्यकारणसे भिन्न कारण गुणही होसकताहै.

न च दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम्।'पीतः शङ्खः' इति ज्ञानस्थलेऽपि पित्तरूपदोषसत्त्वाच्छङ्खप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावस्य कारणत्वमपेक्ष्य गुणकारणताया न्याय्यत्वाच्च ।

शंका–प्रमाज्ञानके प्रति दोषाभावकोही कारणता मानलें तो हानि क्याहै? समाधान–" पीतः शंखः " इत्याकारक ज्ञानस्थलमेंभी पीतरूप दोष विद्यमान है ऐसे स्थलमें शंखत्वप्रकारक शंखविशेष्यक ज्ञान प्रमात्मक नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि यहां आपके सिद्धान्तानुसार दोषाभावरूप कारण विद्यमान नहीं है और विनिगमनाविरहसे अर्थात् एकत्र पक्षपातिनीयुक्तिके न होनेसे अनन्तदोषाभावोंको कारणता माननेकी अपेक्षा केवल गुणमें कारणता माननीही उचित है.

न च गुणसत्त्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छङ्खे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यम्,तथा च किं गुणस्य हेतुत्वकल्पनयेति वाच्यम् । तथाऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः ।

शंका–प्रमाज्ञानोत्पादक गुणके विद्यमान होनेसभी पीतरूप दोषको प्रतिबन्धक होनेसे शंखमें श्वेतताका ज्ञान नहीं होता, इसलिये पित्तादि दोषाभावोंकोभी कारणता अवश्य माननी चाहिये. एवं यदि दोषाभावमें अवश्य कारणता क्लृप्त है तो गुणोंमें कारणता पृथक् कल्पना करनेसे क्या लाभहै? समाधान–तथापि अन्वयव्यतिरेकद्वारा गुणोंमेंभी कारणता सिद्ध है. भाव यह कि–पित्तादि दोषाभावस्थलमेंभी विशेषणवद्विशेष्यके साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप गुणके न रहनेसे शंखमें 'पीतः' इत्याकारक ज्ञान प्रमा नहीं होसकता; इसलिये दोषाभावसे गुण अन्यथासिद्ध नहीं होसकता.

एवं 'भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणम्' इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च ।

भाषा–(एवं) यदि अन्वयव्यतिरेक होनेसभी गुणोंको अन्यथासिद्ध मानों तो भ्रमज्ञानके प्रतिभी गुणाभावहीको कारणता होनी चाहिये तथा दोषको अन्यथासिद्ध मानना चाहिये यह कथनभी सुवच होसकताहै.

तत्र दोषाः के इत्याकांक्षायामाह, पित्तेति–

भाषा-इस प्रसङ्गमें दोष कौन हैं ? ऐसी आकांक्षाको लेकर ' पित्त ' इत्यादि मूलग्रन्थसे दोषोंका निरूपण करतेहैं-

पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधो मतः ॥१३१॥

भाषा-पित्तदूरत्वादिरूप दोष इस प्रकरणमें अनेक प्रकारके हैं ॥ १३१ ॥

क्वचित्पीतादिभ्रमे पित्तं दोषः, क्वचिच्चन्द्रादेः स्वल्पपरिमाणभ्रमे दूरत्वं दोषः, क्वचिच्च वंशोरगभ्रमे मण्डूकवसाञ्जनमित्येवंरूपा-दोषा अननुगता एव भ्रान्तिजनका इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

भाषा-कहीं " पीतः शंखः " इत्यादिज्ञानस्थलमें पित्तरूप दोष है और कहीं " वितस्तिपरिमाणकश्चन्द्रः" इत्यादि ज्ञानस्थलमें दूरत्वरूप दोष है. एवं कहीं (वंश) बांसकी यष्टीमें सर्पभ्रमापादक मण्डूकवसाञ्जनरूप दोष है; इत्यादि अनेक प्रकारके अननुगत दोष भ्रान्तिज्ञानके जनक हैं ॥ १३१ ॥

अथ के गुणा इत्याकांक्षायां प्रत्यक्षादौ क्रमशो गुणान् दर्शयति, प्रत्यक्षेति-

भाषा-एवं इस प्रसङ्गमें गुण कौन हैं ? ऐसी आकांक्षाको लेकर ' प्रत्यक्षे ' इत्यादि मूलसे प्रत्यक्षादि ज्ञानोंमें यथाक्रमानुसारेण ग्रन्थकार गुणोंको दिखलाता है-

प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम् ॥
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः॥१३२॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ॥
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥१३३॥
शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा ॥
गुणः स्यात्-

भाषा-विशेषणविशिष्ट विशेष्यके साथ जो नेत्रादि इन्द्रियोंका सन्निकर्ष वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका जनक गुण है ॥ १३२ ॥ एवं साध्यविशिष्ट पक्षमें पूर्वोक्त परामर्शात्मक ज्ञान अनुमितिज्ञानका जनक गुण है. गवयादि शक्यमें जो " गोसदृशो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक सादृश्यबुद्धि, वह उपमितिज्ञानका जनक गुण है॥१३३॥

प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः, अनुमितौ साध्यवति साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानं गुण इति । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१२३॥

भाषा–एवं पूर्वोक्त योग्यताका या वक्ताके तात्पर्यका प्रमात्मकज्ञान शाब्दबोधमें गुण है. प्रत्यक्षज्ञानमें विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षही गुणरूप है. एवं अनुमितिज्ञानमें साध्यवालेमें जो साध्यव्याप्य वैशिष्टयज्ञान अर्थात् " वन्हिव्याप्यधूमवानयं पर्वतः " इत्यादि परामर्शात्मक ज्ञान वही गुणरूप है. ऐसेही आगेभी जानलेना अर्थात् उपमिति ज्ञानमें शक्यमें सादृश्यबुद्धिही गुणरूप है. एवं शाब्दबोधमें योग्यताज्ञान या तात्पर्यका यथार्थज्ञानही गुणरूप है–इति।

प्रमां निरूपयति, भ्रमभिन्नमिति–

भाषा–एवं 'भ्रमभिन्न' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार प्रमाका निरूपण करते हैं–

–भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥ १३४ ॥

भाषा–इस प्रकरणमें भ्रमभिन्नज्ञानकी प्रमा संज्ञा है ॥ १३४ ॥

ननु यत्र शुक्तिरजतयोः'इमे रजते' इति ज्ञानं जातं तत्र रजतांशेऽपि प्रमा न स्यात् तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह, अथवेति–

शंका–जहां शुक्ति तथा रजत उभयमें " इमे रजते " इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां इस ज्ञानको रजतांशमेंभी प्रमात्व नहीं हुआ चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान भ्रम भिन्न नहीं है किन्तु शुक्तिअंशमें भ्रमरूपही है. समाधान–इसका उत्तर 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं कहते हैं–

अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ॥
तत्प्रमा–

भाषा–अथवा तत्प्रकारक तद्वद्विशेष्यक ज्ञानका नाम 'प्रमाज्ञान' है.

तद्वद्विशेष्यकं तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः।

भाषा–अर्थात् घटत्ववद्विशेष्यक घटत्वप्रकारक ज्ञानका नाम 'प्रमाज्ञान' है. ऐसेही वस्तुमात्रके ज्ञानमें जानना चाहिये.

अथैवं स्मृतेरपि प्रमात्वं स्यात्ततः किमिति चेत्तथा सति तत्करणस्यापि प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेत्। न।यथार्थानुभवकरणत्वस्यैव प्रमाणत्वेन विवक्षणात्।

शंका–इस लक्षणसे स्मृतिज्ञानकोभी प्रमात्व हुआचाहिये; क्योंकि स्मृतिभी तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारकाही होतीहै. समाधान–यदि मानभी लें तो हानि क्या है ?

शंका-ऐसे माननेसे स्मृतिके कारणीभूत अनुभवको या संस्कारकोभी प्रमाणान्तर मानना होगा. समाधान-'प्रमाण' नाम तो हमको यथार्थ अनुभवके करणहीका विवक्षित है. स्मृतिज्ञान यथार्थ अनुभव नहींहै. इसलिये उसके कारणको प्रमाणभी नहीं कहसकते.

इदं तु बोध्यम् । येन सम्बन्धेन यद्वत्ता तेन सम्बन्धेन तद्वद्विशेष्यकत्वं तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारकत्वं वाच्यम्, तेन कपालादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः ।

भाषा-(इदं तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी जानना चाहिये कि-जिस वस्तुको जिस सम्बन्धसे यद्धर्मवत्ता है उसमें उसीसम्बन्धसे तद्वद्विशेष्यकत्व तथा उसी सम्बन्धसे तत्प्रकारकत्व समझना चाहिये. एतादृश निवेशसे "संयोगेन घटवन्तौ कपालौ" इत्यादि भ्रमज्ञानमें प्रमालक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होसकती.

एवं सति निर्विकल्पकं प्रमा न स्यात् तस्य सप्रकारकत्वाभावादत आह, न प्रमेति-

शंका--ऐसे स्वीकार करनेसे निर्विकल्पक ज्ञान प्रमा नहीं होसकता; क्योंकि वह किञ्चित्प्रकारक नहीं है. समाधान-इसका उत्तर मूलकार स्वयं कहते हैं-

-न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ १३५ ॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ॥

भाषा-निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमारूप या भ्रमरूप नहीं कहसकते ॥ १३५ ॥ क्योंकि उसका स्वरूपासम्बन्धानवगाहि तथा विशेष्यताप्रकारतासे रहित है.

ननु वृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः स्यात् प्रमा च स्यादिति चेत् । नाप्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववति संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् ।

शंका-आपके कथनानुसार "वृक्षः कपिसंयोगी" इत्याकारक ज्ञानको भ्रमरूपभी होना चाहिये तथा प्रमारूपभी होना चाहिये; क्योंकि वृक्षमें शाखावच्छेदेन कपिसंयोग हैभी, तथा मूलावच्छेदेन नहींभी है. समाधान--कपिरूप प्रतियोगिके व्यधिकरण कपिसंयोगाभाव वालेमें यदि कपिसंयोगका ज्ञान होय तो वह ज्ञान भ्रमरूप होसकताहै; अन्यथा नहीं.

न च वृक्षे कपिसंयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्, तत्र संयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यम् ।

तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्। लक्ष्यस्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः।

शंका-जहां वृक्षहीमें कपिसंयोगाभावावच्छेदेन कपिसंयोगज्ञान हुआहै वहां उस ज्ञानको भ्रमात्मक नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि वहां संयोगाभावप्रतियोगि व्यधिकरण नहीं है,किन्तु प्रतियोगिसमानाधिकरणही है. समाधान-ऐसे स्थलमें संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानभी भ्रमरूपही है. शंका-एवं प्रमालक्षणका अननुगम हुआ? समा०-लक्ष्यस्थलोंके अननुगम अर्थात् विचित्र भिन्न २ होनेसे लक्षणाननुगम अर्थात् लक्षण अनेकरूप माननेमेंभी हानि नहीं-इति।

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः॥ १३६॥

भाषा-प्रमाज्ञानमें प्रमात्वधर्म स्वतो ग्रहण नहीं होता यदि ऐसा होय तो संशय ज्ञान कहींभी नहीं हुआ चाहिये ॥ १३६ ॥

प्रमात्वमिति। मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति, तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यत इति॥ १॥ भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा तया च ज्ञानमनुमीयते॥२॥ मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते॥ ३॥

भाषा-मीमांसकलोग ज्ञानमें प्रमात्वधर्मका स्वतः ग्रहण मानतेहैं. उनमें (गुरु) प्रभाकरके मतमें ज्ञानस्वप्रकाशरूप है अर्थात् जैसे वस्त्वन्तरको विषय करताहै वैसेही अपने आपकोभी करताहै. एवं जैसे वह स्वनिष्ठज्ञानत्वादि धर्मोंको स्वयं ग्रहण करताहै वैसेही स्वनिष्ठ प्रमात्वधर्मकोभी स्वयं ग्रहण करताहै १। और कुमारलभट्टके मतमें ज्ञान अतीन्द्रियपदार्थ है किन्तु ज्ञानसे उत्पन्न हुई विषयनिष्ठ ज्ञातता प्रत्यक्षरूपा है. उस ज्ञातताद्वारा ज्ञानका तथा उसके प्रमात्वका अनुमान होताहै, उस अनुमानका प्रकार यह है कि--इयं घटनिष्ठ ज्ञातता घटविशेष्यकघटत्वप्रकारक ज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात् या यद्वृत्तिर्यत्प्रकारिका ज्ञातता सा तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानसाध्या यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञातता इति २। एवं मुरारिमिश्रके मतमें प्रथमव्यवसायात्मक ज्ञाननिष्ठ यावत् धर्मोंका द्वितीय (अनुव्यवसाय) ज्ञानविषयक ज्ञानसे ग्रहण होताहै ३। एवं औरभी सब वादियोंके मतमें

(तत्) उसी अनुव्यवसायात्मक ज्ञानविषयक ज्ञानसे (तत्) उस व्यवसायात्मक ज्ञानका प्रमात्व ग्रहण होताहै.

विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयस्तन्मतं दूषयति । न स्वतो ग्राह्यमिति ।

शंका-ज्ञानविषयक ज्ञान तो विषयानवगाही है अर्थात् केवलज्ञानहीको विषय करताहै, उसके विषयको नहीं करता और प्रथम ज्ञानगत प्रमात्वधर्म विषयघटित है इसलिये वह उसका विषय होना दुर्घट है. समाधान-ज्ञानका यह स्वभाव है कि-यह विषयनिरूप्यही होताहै अर्थात् विषयविषयकही होताहै; (अतो) इसलिये (ज्ञानवित्ति) ज्ञानविषयक ज्ञानके घटादि विषयभी (वेद्य) विषय होसकतेहैं. भाव यह कि-ज्ञानविषयक ज्ञान स्वविषयभूत ज्ञानके विषयको तथा स्वविषयभूत ज्ञानको तद्गतधर्मादिके सहित ग्रहण करता है. ये सब पूर्वोक्त वादियोंके सिद्धान्त हैं. इन सबका " प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं " इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार खण्डन करतेहैं-

संशयेति । यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात्तदाऽनभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशयः । यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात् कथं संशयः, तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम् ।

भाषा-(संशयेति) यदि ज्ञानगत प्रमात्व धर्मका (स्वतः) अपने आपसे ग्रहण होय तो अनभ्यासदशापन्न ज्ञानमें अर्थात् जिस ज्ञानके सजातीयज्ञानमें कदापि प्रमात्व ग्रहण नहीं किया उसमें प्रमात्वका सन्देह नहीं हुआ चाहिये और होता तो है परन्तु आपके सिद्धान्तसे उसका समर्थन दुर्घट है; क्योंकि आपके सिद्धान्तसे वहां यदि ज्ञान ज्ञात है अर्थात् निश्चित है तो तन्निष्ठ प्रामाण्यभी ज्ञातही है. उसमें संशयकी योग्यताही नहीं और यदि कहो कि, वहां ज्ञानही अज्ञात है तो तौभी धर्मिज्ञानकेही न होनेसे संशयकी योग्यता नहीं है. भाव यह कि-धर्मिसामान्यज्ञानानन्तरही धर्मसंशयका सम्भव होसकता है, अन्यथा नहीं; इसलिये ज्ञानमें प्रमात्वधर्मका अनुमान करनाही उचित है.

तथाहि । इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा । इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा गन्धवति पृथिवी-

त्वप्रकारकज्ञानत्वात् । एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेह-
वति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात् ।

भाषा-(तथाहि) वह अनुमान इस रीतिसे करना चाहिये कि-यह ज्ञान (संवादि) सफलप्रवृत्तिका जनक होनेसे प्रमारूप है. (यन्नैवं (जो सफल) प्रवृत्तिका जनक नहीं होता (तन्नैवं) वह प्रमारूपभी नहीं होता; (यथा) जैसे अप्रमाज्ञान सफलप्रवृत्तिजनकभी नहीं है इसलिये प्रमाभी नहीं है. ऐसेही प्रवृत्तिके अजनक ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वके ग्राहक अनुमानभी है; जैसे यह पृथिवीत्व प्रकारकज्ञान गन्धवालेमें पृथिवीत्व प्रकारकज्ञान होनेसे प्रमारूप है.भाव यह कि-गन्ध केवल पृथिवीहीका व्याप्यधर्म है एवं यदि उस गन्धवालेमें " इयं पृथिवी " इत्याकारक पृथिवीत्वप्रकारक ज्ञान होगा तो वह अवश्य प्रमारूपही होगा. ऐसेही यह " इदं जलं " इत्याकारक जलत्वप्रकारक जलविशेष्यक ज्ञानभी स्नेहवालेमें जलत्वप्रकारक ज्ञान होनेसे प्रमारूप है.

न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यम्। पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात्, तत्र गन्धग्रहेण गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात् । तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते संशयानुरोधात् ।

शंका-इन स्थलोंमें पहले हेतुका ज्ञान कैसे होताहै?समा०-यहां पृथिवीत्वप्रकारकत्वका अर्थात् पृथिवीत्वप्रकारावगाही ज्ञाननिष्ठ धर्मका स्वतो ग्रहण होताहै; एवं पृथिवीमें गन्धके ग्रहणसे गन्धवद्विशेष्यकत्वका अर्थात् गन्धवद्विशेष्यावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्म्मकाभी स्वतोही ग्रहण होताहै किन्तु केवल संशयानुपपत्तिके अनुरोधसे पृथिवीत्वप्रकारकत्वावच्छिन्न पृथिवीत्ववद्विशेष्यकत्व धर्ममात्रका ग्रहण नहीं होता.

न च प्रमात्वस्य साध्यस्य प्रसिद्धिः कथमिति वाच्यम् । इदं ज्ञानप्रमात्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात् ।

शंका-प्रमात्वात्मक साध्यकी प्रसिद्धि प्रथम कौन स्थलमें है और कैसे होती है? समाधान-(इदन्ता) ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्मका स्वतो ग्रहण होताहै. भाव यह कि-इदन्ताज्ञानमें "इदमनिदं न वा" इत्याकारक सन्देह कभी किसीको नहीं होता इसलिये यह स्वतो ग्राह्य है.

न च प्रकारभेदेन प्रामाण्यभेदाद्घटत्वप्रकारकत्वादेः कथं प्रसिद्धिरिति वाच्यम् । घटत्वप्रकारकत्वस्य स्वविशेष्यकत्वस्य च स्व-

तो ग्राह्यत्वात् । घटस्य च पूर्वमुपस्थितत्वात् । घटविशेष्यकं घटत्वप्रकारकमिति ज्ञाने प्रामाण्यस्य बाधकाभावः । व्यवसायपरं तु प्रामाण्यं न गृह्यते तत्र संशयसामग्रीसत्त्वे संशयस्यैवोपपत्तेः ।

शंका-इदन्ताज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्म स्वतो ग्राह्य रहो परन्तु प्रकारभेदसे प्रमात्वकाभी तो भेद है. एवं घटत्वप्रकारकत्वकी अर्थात् घटत्वप्रकारावगाही ज्ञाननिष्ठधर्मकी प्रसिद्धि कैसे होसकतीहै? समा०-घटत्वप्रकारकत्वका अर्थात् घटत्वप्रकारावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्मका तथा स्वविशेष्यकत्वका अर्थात् घटत्ववद्विशेष्यावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्मकाभी स्वतो ग्रहण होताहै. घटको प्रथम उपस्थित होनेसे घटनिष्ठ विशेष्यतावगाहि ज्ञाननिष्ठप्रमात्वग्रहण करनेमें तथा घटत्वनिष्ठप्रकारतावगाहि ज्ञाननिष्ठप्रमात्वके ग्रहण करनेमें कोई बाधक नहीं है. भाव यह कि-विशकलित विशेष्यविशेषणावगाहि ज्ञानगत प्रमात्वधर्मका स्वतोही ग्रहण हो सकताहै; किन्तु केवल विशेषण विशेष्य उभयविशिष्टावगाहि ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वका स्वतो ग्रहण नहीं होता क्योंकि वहां संशयसामग्रीके होत संते संशयही उत्पन्न होताहै.

किंचाभ्यासदशायां तृतीयानुव्यवसायादिना प्रामाण्यस्य स्वत एव ग्रहसम्भवात् प्रथमानुव्यवसायपरं न तद्ग्राहकमिति कल्प्यते संशयानुरोधात् ।

भाषा-(किञ्च) अभ्यासदशामें अर्थात् जहां ज्ञानके सजातीय ज्ञानमें प्रमात्वग्रहण होचुका है वहां तीसरे (अनुव्यवसाय) ज्ञानविषयक ज्ञानद्वारा प्रमात्वधर्मका स्वतोही ग्रहण होसकता है. एवं ऐसे स्थलमेंभी संशयानुरोधसे केवल यही कल्पना करसकतेहैं कि-प्रथम अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमात्वधर्मका ग्राहक नहीं होसकता अन्यथा संशय नहीं हुआ चाहिये.

अथ प्रामाण्यानुमितौ प्रामाण्याग्रहेण तस्या विषयनिश्चयरूपत्वार्थं तत्र प्रामाण्यग्रहो वाच्यः, सोऽप्यनुमित्यन्तरेणेति फलमुखी कारणमुखी वाऽनवस्थेति चेत् । न ।

शंका-प्रमात्वधर्मग्राहक पूर्वोक्त अनुमितिज्ञानमेंभी तो प्रमात्वग्रहण नहीं हुआहै (तस्याः) उस अनुमितिके विषयकी निश्चयरूपताके लिये (तत्र) उस अनुमितिज्ञानमेंभी प्रमात्वग्रह अवश्य हुआ चाहिये. एवं उस अनुमितिज्ञानमेंभी प्रमात्वका ग्रहण दूसरी अनुमितिहीसे होगा. एवं दूसरीमें प्रमात्वग्रहार्थ तीसरीकी अपेक्षा होगी.

ऐसेही आगे आगे फलमुखी अर्थात् प्रमात्वग्रहरूप फलप्रधाना या कारणमुखी अर्थात् अनुमितिज्ञानात्मक कारण प्रधानाअनवस्थाभी हो सकती है अर्थात् एकप्रमात्वकी सिद्ध्यर्थ दूसरे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वकी अपेक्षा, एवं द्वितीयप्रमात्वकी सिद्ध्यर्थ तृतीयज्ञाननिष्ठ प्रमात्वकी अपेक्षा, एवं आगे आगे इस रीतिसे फलमुखी अनवस्था होसकतीहै. एवं प्रथम अनुमितिज्ञानरूप कारणकी पुष्टिके लिये द्वितीय अनुमितिज्ञानकी अपेक्षा, द्वितीयके लिये तृतीयकी अपेक्षा, एवं आगे २ इस रीतिसे कारणमुखी अनवस्था होसकतीहै।

अगृहीताऽप्रामाण्यग्रहकस्यैव निश्चयरूपत्वात् । यत्र च प्रामाण्यसंशयस्तत्रैव परं प्रामाण्यानुमितेरपेक्षा, यावदाशङ्कं प्रामाण्यानुमितिरिष्यत एव ।

समा०–अनवस्था नहीं होसकती क्योंकि जिस ज्ञानमें अप्रमात्वग्रह नहीं गृहीत हुआ है अर्थात् " इदं ज्ञानमप्रमा " इत्याकारक व्यवहार जिस ज्ञानमें नहीं हुआ है; हम लोग उस ज्ञानको निश्चयरूपही मानते हैं किन्तु जिस स्थलमें ज्ञाननिष्ठप्रमात्वका संशय होता है वहांही केवल प्रामाण्यग्राहक अनुमितिज्ञानकी अपेक्षा होती है स्थलान्तरमें नहीं होती जहां पर्यन्त आशंका होय वहां पर्यन्त प्रामाण्यग्राहक अनुमितिकोभी हम स्वीकार करतेहैं. भाव यह कि-यदि प्रमात्वग्राहक उत्तरउत्तर सभी ज्ञानोंमें " इदं ज्ञानं प्रमा न वा " इत्याकारक आशंका उत्पन्न होती जाय तो अनवस्था होसकती है; परन्तु ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं इसलिये अनवस्था नहीं होसकती.

सर्वत्र तु न संशयः क्वचित्कोट्यनुपस्थितेः, क्वचिद्विशेषदर्शनादितः, क्वचिद्विषयान्तरसञ्चारादिति संक्षेपः ।]

भाषा–और युक्तिसेभी हरएक स्थलमें संशयका होना दुर्घट है; वह यह है कि-संशयज्ञान स्वभावसे परस्पर विरुद्ध नानाधर्मावगाहि होता है. एवं जहां कोट्यनुपस्थित है अर्थात् जहां विरोधि धर्मकी उपस्थिति नहीं हुई है वहां संशय नहीं होसकता एवं जहां विषयका विशेषरूपसे दर्शन होचुकाहै वहांभी संशय नहीं होसकता; अथवा जहां एकविषयविषयक ज्ञानानन्तर शीघ्रही ज्ञान प्रवाहका विषयान्तरमें संचार हुआ है वहांभी संशय नहीं होसकता; इत्यादि अनेकस्थलोंमें संशयके असम्भवसे पूर्वोक्त फलमुखी या कारणमुखी अनवस्थाकी शंकाभी निरर्थक है. (इति संक्षेपः) यह संक्षेपसे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वका परतो ग्रहण दिखलाया है. यहां प्रमाके लक्षणमें (गुरु) प्रभाकर शंका करतेहैं.]

सम्भव नहीं होसकता, वह दोषभी नहीं है; क्योंकि रांगेमें रजतत्वविशिष्ट रजतबुद्धिके अनुरोधसे रजतके साथ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरूप सन्निकर्षकी कल्पना करनेमेंभी विरोध नहीं है. यहां यह भाव है कि-'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' पूर्वोक्त रीतिसे अलौकिक सम्बन्धविशेषका नाम है. जहां इन्द्रिययोग्य पदार्थके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होय और उसी कालमें उस इन्द्रियके अयोग्यपदार्थका स्मरण होय तो वहां इन्द्रियसम्बन्ध पदार्थका तथा स्मृतिगोचर पदार्थका एक ज्ञान होताहै. एवं स्मरणांशमें वह ज्ञान अलौकिक है और इन्द्रियसम्बन्धजन्य अंशमें लौकिक है. इस रीतिसे प्रकृतमें पूर्वानुभवजन्य रजतके संस्कारका " इदं रजतं " इत्याकारक प्रत्यक्षके साथ अन्वयव्यतिरेक है. इसलिये राँगेआदिमें 'इदं रजतं' इस चाक्षुषज्ञानका रजतानुभवजन्य संस्कारजन्य रजतस्मृति कारण है. एवं ऐसे स्थलमें 'नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत स्मृतिज्ञानविषयत्व' रूप परंपरा सन्निकर्षात्मक ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिके सम्भव होनेसे अन्यथाख्यातिभी बन सकती है अर्थात् जैसे 'सुरभि चन्दनं,' इत्यादि स्थलमें सौरभांशमें ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरूप अलौकिक सन्निकर्ष स्वीकृत है, वैसेही 'इदं रजतं' इत्यादि स्थलमें रजतांशमेंभी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिकी कल्पना करली जाय तो (क्षति) हानि नहीं है. (शंका) आपको सम्बन्धविशेषकी अधिक कल्पना करनेमें गौरव होगा? समाधान-फलमुखगौरव दोषकर नहीं होता अर्थात् जिस गौरवसे इष्टार्थकी सिद्धि होय उस गौरवको विद्वान्लोग दोषकर नहीं मानते.

किंच रङ्गरजतयोः 'इमे रजते रङ्गे वा' इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र न कारणबाधोऽपि ।

भाषा-किञ्च जिस स्थलमें रङ्ग तथा रजत इन दोनोंमें " इमे रजते " अथवा " इमे रङ्गे " इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां रजतादिसाक्षात्कारके कारणीभूत रजतादिके सन्निकर्षका बाधभी नहीं है. भाव यह कि-ऐसे स्थलमें रङ्ग रजत उभयके साथ युगपत् इन्द्रियसन्निकर्ष हुए पश्चात् रङ्गरजतमें " इमे रजते " या "इमे रङ्गे" इत्याकारक ज्ञानमें कोई बाधक नहीं है क्योंकि रजतत्व या रङ्गत्व इन दोनोंमें किसीएक धर्मके साथ इन्द्रियसंयुक्त समवायरूप सम्बन्ध विद्यमान है, परन्तु एतादृश ज्ञान उभयअंशमें प्रमारूप कदापि नहीं होसकता, क्योंकि विशेषणवद्विशेष्य सन्निकर्षरूप प्रमासामग्रीका उभयअंशमें अभाव है, किन्तु उभयस्थलीय ज्ञानमें आंशिकप्रमात्वही रहेगा इसलिये ऐसे स्थलमें अन्यथाख्याति अवश्य माननी पड़ती है.

अपि च यत्र रङ्गरजतयोः'इमे रजतरङ्गे' इति ज्ञानं तत्रोभयत्रयुगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम् । रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्र-

हे चान्यथाख्यातिभयात्त्वन्मते दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्गभेदाग्रहस्य च सत्त्वात् ।

भाषा-(अपिच)आपके अख्यातिवादमें औरभी किंचिद्विचारणीय है कि-जिस स्थलमें रङ्ग रजत उभयमें "इमे रजतरङ्गे" इत्याकारक उभयत्र विपरीतज्ञान हुआहै वहां उभयत्रही एककालावच्छेदेन पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हुई चाहिये, अर्थात् रङ्गमेंभी एककालावच्छेदेन प्रवृत्तिनिवृत्ति दोनों हुई चाहिये तथा रजतमेंभी उसी कालमें प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों हुई चाहिये. क्योंकि अन्यथाख्यातिके भयसे आपको रङ्गमें रङ्गप्रतियोगिक भेदज्ञानका तथा रजतमें रजतप्रतियोगिक भेदज्ञानका तो स्वीकारही नहीं अर्थात् रङ्गमें रङ्गप्रतियोगिक भेदज्ञान माननेसे तथा रजतमें रजतप्रतियोगिक भेदज्ञान माननेसे अन्यथाख्याति अवश्य माननी पड़ती है; इसलिये आपके सिद्धान्तसे रङ्गमें रङ्गभेदाग्रहका तथा रजतमें रजतभेदाग्रहका सर्वथा सत्त्व प्रतीत होताहै और यही अनिष्टसाधनताज्ञानपूर्वक रङ्गमें निवृत्तिका कारण है तथा इष्टसाधनताज्ञानपूर्वक रजतमें प्रवृत्तिका कारण है. एवं अन्यथाख्यातिहीके भयसे आपके सिद्धान्तानुसार दोषवशसे रङ्गमें रजतभेदाग्रहका तथा रजतमें रङ्गभेदाग्रहकाभी सत्त्व है. भाव यह कि-रङ्गमें रजतभेदाग्रह होनेसे रङ्गमें इष्टभेदाग्रहरूपा प्रवृत्तिसामग्री विद्यमान है; एवं रजतमें रङ्गभेदाग्रह होनेसे रजतमें अनिष्टभेदाग्रहरूपा अर्थात् " इदं मदनिष्टसाधनं " इत्याकारक ज्ञानरूपा निवृत्तिसामग्रीभी विद्यमान है, इसलिये उभयत्र युगपत् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हुई चाहिये. तात्पर्य यह कि-पुरोवर्ति एकदेशमें उपस्थित हुए रङ्गरजतमें विपरीतबुद्ध्या उभयत्र युगपत् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हुई चाहिये, परन्तु हो नहीं सकतीं क्योंकि इष्टसाधनताज्ञानपूर्वक विषयके अभिमुखगमनका नाम 'प्रवृत्ति' है तथा अनिष्टसाधनताज्ञानपूर्वक विषयके विमुखगमनका नाम 'निवृत्ति' है. यह परस्पर विपरीतगति एक कालमें एक पुरुषमें एक विषयके उद्देशसे असम्भव है.

किंचानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रहादनुमितिर्निर्बाधा, यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं तदाऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापतितम्, सेयमुभयतःपाशा रज्जुः ।

भाषा-(किञ्च) आपके अख्यातिवादमें औरभी थोडा विचारणीय है कि आप अनुमितिज्ञानके प्रति व्याप्यवद् भेदाग्रहको कारणता मानतेहैं या कि विशिष्टज्ञानको? यदि व्याप्यवद्भेदाग्रहको कहो तो जलह्रदमें वन्हिव्याप्यधूमवत्पर्वतके भेदाग्रहसे " ह्रदो वन्हिमान् " इत्याकारिका अन्यथाख्यातिरूपा अनुमिति आपके सिद्धान्तसे

निराबाध हुई चाहिये अर्थात् जबतक बाधज्ञान नहीं हुआ तबतक व्याप्यवद्भेदाग्रह-रूप अनुमितिकारण सर्वदा विद्यमान् है, अनुमितिरूप कार्य्यभी अवश्य हुआ चाहिये और यदि इस दोषके वारणार्थ विशिष्टज्ञानको अनुमितिकारणता कहो तो " अयोगोलकं वन्हिमत् " इत्याकारक अनुमितिके अनुरोधसे अर्थात् इस अनुमितिकी कारण सामग्रीकी आवश्यकतासे आपको " वन्हिव्याप्यधूमवदयोगोलकम् " इत्याकारक अन्यथाख्यातिरूप परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान अयोगोलकमें मानना लगेगा. भाव यह कि-अनुमितिज्ञानानुरोधसे अन्यथाख्याति आपके उभयथा गले पतित है अर्थात् अनुमितिज्ञानके प्रति भेदाग्रहको कारणता कहो तो प्रथमरीतिसे आपको अनुमितिज्ञान अन्यथाख्यातिरूप मानना पड़ेगा और यदि विशिष्टज्ञानको अनुमितिकारणता कहो तो द्वितीयरीतिसे आपको अनुमितिकारणीभूतपरामर्शज्ञान अन्यथाख्यातिरूप मानना पड़ेगा;यही आपके गलेमें उभयतः पाशा रज्जु है अर्थात् आपको दोनों तरहसे अन्यथाख्यातिसे इनकार करना कठिन है.

इत्थंचान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं रजततयाऽवेदिषमित्यनुभवादिति संक्षेपः ॥ १३६ ॥

भाषा-(इत्थञ्च) इस पूर्वोक्तरीतिसे जब आपके सिद्धान्तसेभी अन्यथाख्याति बलात् सिद्ध हुई तो हमारे सिद्धान्तमें तो " रङ्गं रजततयाऽवेदिषम्-अर्थात् मैंने रङ्गहीको रजतरूपसे जानाथा" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक अनुभवही अन्यथाख्यातिमें प्रमाणरूप है. भाव यह कि-भ्रमज्ञानबाधके पीछे पुरुषको 'रङ्गं रजततयाऽवेदिषम्' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक अनुभव होवे है, उसीसे प्रथमज्ञानमें भ्रमरूपताका साक्षात् निश्चय होवेहै. (इति संक्षेपः) यह संक्षेपसे प्रभाकरके अख्यातिवादका खण्डन तथा अन्यथाख्यातिका मण्डन दिखलाया है ॥१३६॥

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति, व्यभिचारस्येति-

शंका-अनुमान प्रमाण यदि होय तो उससे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्मका ग्रहण होसके, परन्तु अनुमान प्रमाण तो कुछ वस्तु नहीं; क्योंकि-अनुमानका कारणभूत जो व्याप्ति उसका स्वरूप तथा उसके स्वरूपका ग्राहक कोई नहीं है. समाधान--व्याप्तिका स्वरूप तो हम पीछे अनुमानखण्डमें कहचुके परन्तु उसके ग्रहणका उपाय वहां नहीं कहा इसलिये ' व्यभिचारस्य ' इत्यादिग्रन्थसे मूलकारस्वयं दिखलातेहैं-

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ॥
हेतुर्व्याप्तिग्रहे, तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥१३७॥

भाषा—व्यभिचारका अग्रहण तथा सहचारका ग्रहण व्याप्तिग्रहणमें कारण है और यदि किसी स्थलमें व्यभिचारकी मिथ्याशंका उत्पन्न होय तो वह तर्कसे निवृत्त हो सकती है ॥ १३७ ॥

व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे कारणमित्यर्थः । व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकत्वात् तदभावः कारणम् । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता । भूयोदर्शनं तु न कारणम्, व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेऽपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात् क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमुपयुज्यते ।

भाषा—पदार्थोंके परस्पर व्यभिचारका अग्रहण तथा सहचारका ग्रहण व्याप्तिस्वरूपके ग्रहणमें कारणीभूत है. व्यभिचारज्ञान व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक है, इसलिये उसका अभावभी कारण है. एवं " तत् वह्न्यादि सत्त्वे तत् धूमादिसत्त्वं; तत् वह्न्यादि अभावे तत् धूमादि अभावः " इत्याकारक अन्वयव्यतिरेकद्वारा सहचारज्ञानकोभी व्याप्तिस्वरूप ग्राहकता है. व्यभिचारका स्फुरण न होय तो किसी एक स्थलमें एकवार सहचार दर्शनसेभी व्याप्तिग्रहण होताहै; इसलिये पुनःपुनः सहचारदर्शनको कारणता माननी उचित नहीं है परन्तु किसीएक स्थलमें व्यभिचारशंका विहननद्वारा भूयो दर्शनकाभी व्याप्तिग्रहणमें उपयोग है.

यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नापैति तत्र विपक्षबाधकतर्कोऽपेक्षितः । तथाहि । वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादिति यद्याशङ्का भवति तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिसन्धानान्निवर्तते ।

भाषा—और जिस स्थलमें भूयोदर्शनसेभी व्यभिचारशंका निवृत्त नहीं होती, वहां शंका अपनयनार्थ विपक्षबाधक तर्ककी अपेक्षाभी होती है (तथाहि)"वन्हिविरहस्थलमेंभी यदि धूम रहे तो हानि क्या है?" इत्याकारक यदि कोई आशंका करे तो उसका वह्निधूमका परस्पर कार्यकारणभाव विचारणेसे परिहार होताहै.

यद्ययं वह्निमान्न स्यात्तदा धूमवान्न स्यात्, कारणं विना कार्यानुत्पत्तेः ।

भाषा—यदि यह धूमवान् पर्वत वह्निमान् न होय तो धूमवान्भी नहीं हुआ चाहिये, क्योंकि वह्निधूमका परस्पर कार्यकारणभाव है; इसलिये वह्निरूप कारणसे

विना धूमरूप कार्यका सम्भव होना दुर्घट है. एवं "धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तदा वन्हिजन्यो न स्यात्" यह परिनिष्ठित तर्कका आकार जानना उचित है.

यदि क्वचित्कारणं विनापि कार्यं भविष्यत्यहेतुक एव भविष्यतीति तत्राप्याशङ्का भवेत् तदा सा व्याघातादपसरणीया। यदि कारणं विना कार्यं स्यात्तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य वा नियमत उपादानं तवैव न स्यादिति। यत्र स्वत एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति तदिदमुक्तम्। तर्कः क्वचिदिति॥ १३७॥

भाषा-यदि किसी स्थलमें कारणसे विनाभी कार्य उत्पन्न होगा तो वह कार्य अहेतुकही होगा. इसलिये (तत्र) तादृश तर्क कारणीभूत कार्यकारणभावग्रहमेंभी "अहेतुकमेव कार्यं स्यात्" इत्याकारक शंका प्रतिबन्धक होसकतीहै परन्तु ऐसी शंकाका अपसरण (दूरीकरण) व्याघातदोषप्रदर्शनद्वारा होसकताहै; अर्थात् शंकाकारक वादीके व्यवहारव्याघातप्रदर्शनसे उक्त शंकाकी निवृत्ति होसकतीहै. भाव यह है; शंकाकारक वादीको यह कहसकतेहैं कि-यदि वह्नि आदि कारणसे विनाभी धूमादिकार्योंका सम्भव होय तो धूमके लिये वह्निका तथा तृप्तिके लिये भोजनका ग्रहण आपको नियमसे नहीं करना चाहिये और जहां स्वभावसे शंका उत्पन्नही नहीं हुई वहां तर्ककी अपेक्षाभी नहींहै इसीलिये मूलमें "तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्त्तकः" यह कहा है. अर्थात् किसीएक स्थलविशेषमें तर्क शंकाका निवर्त्तक होताहै सर्वत्र नहीं ॥ १३७ ॥

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधिं निरूपयति, साध्यस्येति-

भाषा-इदानीं प्रतिपक्षीके व्याप्तिग्रहके प्रतिबन्धनार्थ 'साध्यस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार उपाधिका निरूपण करतेहैं-

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ॥
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ १३८ ॥

भाषा-जो साध्यका व्यापक होय तथा हेतुका अव्यापक होय, उसका नाम 'उपाधि' है. उस उपाधेका 'निष्कर्ष' अर्थात् सारभूत स्वरूप यह आगे दिखलाते हैं ॥ १३८ ॥

साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकमुपाधिरित्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् साध्यत्वेनाभिमत वस्तुका व्यापक होकर जो हेतुत्वेनाभिमत वस्तुका अव्यापक होय उसका नाम 'उपाधि' है.

ननु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वं नोपाधिः स्यात् तस्य साध्यव्यापकत्वाभावात्, श्यामत्वस्य कोकिलादावपि सत्त्वात् ।

शंका–आपने 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' ऐसा उपाधिका स्वरूप कहाहै, परन्तु यह लक्षण हरएक उपाधिमें घट नहीं सकता. जैसे "काकः श्यामः मित्रातनयत्वात्" इस अनुमानमें 'शाकपाकजत्व' रूप उपाधि तो है, क्योंकि मित्रातनयत्वरूप हेतु काकरूप पक्षमें न रहनेसे स्वरूपासिद्ध है. एवं श्यामत्वधर्मरूप साध्यके अभाववाले अर्थात् मित्रास्त्रीके अष्टम गौर पुत्रमें रहनेसे यह हेतु व्यभिचारीभी है. एवं ऐसे दोषपूरित हेतुमें उपाधिका चिन्तन करनेसे यही हेतु व्याप्यत्वासिद्धभी होसकताहै परन्तु एतत्स्थलीय उपाधिमें आपका कहा लक्षण सम्यक् नहीं होता. क्योंकि–साध्यव्यापकत्वका अर्थ यह है कि–जहां जहां साध्य रहे वहां वहां नियमसे उपाधि रहे; परन्तु यह बात शाकपाकजत्वरूप उपाधिमें नहींहै. देखिये–श्यामत्वधर्म कोकिलाघटपटादि अनेकस्थलोंमें रहताहै परन्तु वहां शाकपाकजत्व अर्थात् शाकपाकसे उत्पन्न होना कहींभी नहीं है; इसलिये आपके लक्षणानुसार यह शाकपाकजत्वरूप धर्म उपाधि नहीं हुआ चाहिये. परन्तु विद्वान् लोगोंने इसको उपाधिरूपसे स्वीकार किया है यातें आपके लक्षणमें कुछ न्यूनता अवश्य है.

एवं 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्, प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्त्वात्, तत्र च रूपाभावात् । एवं 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र भावत्वं नोपाधिः स्याद्विनाशित्वस्य प्रागभावेपि सत्त्वात्, तत्र च भावत्वाभावादिति चेत् । न ।

भाषा–एवं आपके लक्षणानुसार "वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्" इस अनुमानमें 'उद्भूतरूपवत्त्व' धर्मभी उपाधि नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि यह धर्मभी साध्यका व्यापक नहीं है. देखिये–प्रत्यक्षत्वरूप साध्य जीवात्मामेंभी रहताहै परन्तु वहाँ 'उद्भूतरूपवत्त्व' धर्म नहीं रहता; इसलिये आपके उपाधिलक्षणका लक्ष्य यह

धर्मभी नहीं बन सकता परन्तु विद्वान् लोगोंने इसकोभी उपाधिरूपसे स्वीकार किया है यान्ते आपके लक्षणमेंही न्यूनता माननी उचित है; एवं आपके लक्षणानुसार " ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् " इस अनुमानमें ' भावत्व ' धर्म्मभी उपाधि नहीं हुआ चाहिये क्योंकि-यह धर्मभी साध्यका व्यापक नहींहै. देखिये-विनाशित्वरूप साध्य तो प्रागभावमेंभी है परन्तु वहां 'भावत्व' रूप उपाधि नहींहै.एवं भावत्वधर्म साध्यका व्यापक न होनेसे आपके उपाधिलक्षणका लक्ष्यभी नहीं हो सकता परन्तु विद्वान् लोग इस धर्मकोभी प्रकृतमें उपाधिरूपसे स्वीकार करतेहैं; इसलिये आपके लक्षणमेंही न्यूनता माननी उचित है.

यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे तात्पर्यात् । १ ।

समा०-हमारे मूलोक्त " साध्यस्य व्यापको यस्तु " इत्यादि ग्रन्थका यह तात्पर्य्य है कि-उपाधिरूप धर्म यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यका व्यापक होय तद्धर्मावच्छिन्न साधनका अव्यापक होना चाहिये अर्थात् यादृश धर्मविशिष्ट साध्यके साथ उपाधिका सहचार होय तादृश धर्मविशिष्ट हेतुके साथ अवश्य व्यभिचार होना चाहिये. एवं यह लक्षण यावद् उपाधिस्थलमें अनुगत है- प्रथम " धूमवान् वह्नेः " इस स्थलमें 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को देखिये.यहां यद्धर्मपदेन पर्वत अयोगोलकअन्यतरत्व रूप धर्म्मका ग्रहण करनेसे तदवच्छिन्न आधारतानिरूपित आधेयतासम्बन्धसे पर्वतायोगोलकअन्यतरत्वावच्छिन्न धूमरूप साध्यके साथ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिकी व्यापकता है; तथा पर्वतायोगोलकान्यतरत्वावच्छिन्न वह्निरूप हेतुके साथ उक्त उपाधिकी अव्यापकता है । १ ।

मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजत्वम् । तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं च । २ ।

भाषा-एवं " स श्यामः मित्रातनयत्वात् " इस स्थलमें यद्धर्म्मपदेन 'मित्रातनयत्वरूप धर्मका ग्रहण करनेसे समानाधिकरणसम्बन्धेन मित्रातनयत्वावच्छिन्न श्यामत्वरूप साध्यका व्यापक तथा तादात्म्येन मित्रातनयत्वावच्छिन्न जो मित्रातनयत्व उसका अव्यापक शाकपाकजत्वरूप उपाधि है । २ ।

एवं पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वं बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यापकं च । ३ ।

भाषा-'एवं " वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात् " इस स्थलमें यद्धर्मपदेन ' बहिर्द्रव्यत्व ' रूप धर्मका ग्रहण करनेसे बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्वरूप साध्यका

व्यापक तथा बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वरूप हेतुका अव्यापक उद्भूतरूप-वत्त्वरूप उपाधि है ३ ।

एवं 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नसाध्य-व्यापकंभावत्वम् । ४ ।

भाषा-एवं "ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्" इस स्थलमें यद्धर्मपदेन जन्यत्वरूप धर्मका ग्रहण करनेसे जन्यत्वावच्छिन्न विनाशित्वरूप साध्यका व्यापक तथा तादात्म्येन जन्यत्वावच्छिन्न जो जन्यत्व उसका अव्यापक भावत्वरूप उपाधि है । ४ ।

सद्धेतोस्त्वेतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्याव्यापकं किंचित् स्यात् । व्यभिचारिणि त्वन्तत उपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यच्चोपाधि-शून्यं साध्यव्यभिचारनिरूपकमाधिकरणं तदन्यतरत्वावच्छिन्न-स्य साध्यस्य व्यापकत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेः सम्भवतीति ॥१३८॥

भाषा-'वन्हिमान् धूमात्' इत्यादि सद्धेतुस्थलोंमें तो ऐसा धर्म कोई नहीं मिलसकता कि यादृशधर्मविशिष्ट साध्यके साथ किसी एक उपाधिरूप धर्मकी व्यापकता तथा तादृश धर्मविशिष्ट हेतुके साथ उसी उपाधिरूप धर्मकी अव्यापकता होय और "धूमवान्वन्हेः" इत्यादि व्यभिचारि स्थलमें तो (अन्ततः) यदि धर्मान्तर नभी स्फुरण होय तो उपाधिके अधिकरण जो साध्याधिकरण पर्वत महानसादि और उपाधिसे शून्य तथा साध्यव्यभिचारनिरूपक हेतुके अधिकरण जो अयोगोलकादि एतद् अन्यतरत्वावच्छिन्न साध्यव्यापकता अर्थात् पर्वत अयोगोलकान्यतर-त्वविशिष्ट धूमरूप साध्यका व्यापक तथा पर्वतअयोगोलकान्यतरत्वविशिष्ट वह्न्यादि हेतुका अव्यापक आर्द्रेन्धनसंयोगादिरूप उपाधिधर्म्म होसकताहै ॥१३८॥

अत एव लक्ष्यमप्युपाधिस्वरूपमेतदनुसारेण दर्शयति, सर्वे इति-

भाषा-मूलकारके "साध्यस्य व्यापको यस्तु" इत्यादि ग्रन्थका 'यद्धर्मावच्छिन्न' इत्यादि लक्षणहीमें तात्पर्य है (अत एव) इसीलिये इस लक्षणका लक्ष उपाधिका स्वरूपभी इसी लक्षणके अनुसार 'सर्वे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दिखलाते हैं-

सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ॥
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥१३९॥

भाषा-जिन उपाधिरूप धर्मोंका प्रकृतसाध्यके सहित हेतुके किसीएक अधिकरणमें व्यभिचार है, अर्थात् उपाधिसाध्य दोनोंही हेतुके किसी एक अधिकरणमें नहीं रहते वे सभी उपाधिरूप धर्म साध्यसमानाधिकरणही कहेजातेहैं ॥ १३९ ॥

स्वसाध्येति । स्वमुपाधिः स्वं च साध्यं च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारितेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

भाषा-यहां 'स्व' पदसे उपाधिका ग्रहण है और इस 'स्व' पदका 'साध्य' पदके साथ इतरेतरयोगद्वन्द्व है एवं उपाधिसाध्य दोनोंकी व्यभिचारिता हेतुके किसी एक अधिकरणमें होनीही उपाधिकी साध्यव्यापकता समझनी चाहिये. यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥ १३९ ॥

उपाधेर्दूषकताबीजमाह, व्यभिचारस्येति-

भाषा-एवं 'व्यभिचारस्य' इत्यादि ग्रन्थसे उपाधिमें दूषकता बीज अर्थात् उपाधि जैसे परकीय अनुमानको दूषित करतीहै उसका मूल कहतेहैं-

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ॥

भाषा-व्यभिचारका अनुमान करवाना अर्थात् हेतुको व्यभिचारी सिद्ध करदेना उपाधिका मुख्य प्रयोजन है.

उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः । तथाहि । यत्र शुद्धसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैवोपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा धूमवान् वह्नेरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारीतद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति । व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात् ॥ १ ॥

भाषा-हेतुका यदि किसी एकस्थलमें उपाधिके साथ व्यभिचार होय तो उसीसे साध्यके साथ हेतुके व्यभिचारकाभी अनुमान होताहै (तथाहि) जिस स्थलमें उपाधि केवल शुद्धसाध्यकी व्यापक है वहां केवल शुद्ध उपाधि व्यभिचारसेही हेतुमें साध्यव्यभिचारका अनुमान होताहै. जैसे "धूमवान् वन्हेः" इत्यादि स्थलमें यह अनुमान करसकतेहैं कि धूमके व्यापकीभूत आद्रन्धनसंयोगका व्यभिचारी होनेसे वन्हिरूप हेतु स्वसाध्यधूमकाभी अवश्य व्यभिचारी है क्योंकि जो व्यापकका व्यभिचारी होता है वह व्याप्यका व्यभिचारीभी अवश्य होताहै.

यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवदुपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि, मित्रातनये शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वादिति। बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात् स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः ।

भाषा—एवं जिस स्थलमें किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न साध्यका व्यापक उपाधिरूप धर्म है वहां उसी धर्मवाले हेतुके साथ उपाधिव्यभिचारसे साध्यके व्यभिचारकाभी अनुमान होताहै. जैसे " स श्यामो मित्रातनयत्वात् " इत्यादि स्थलमें यह अनुमान करसकतेहैं कि-मित्राके अष्टम गौर पुत्रमें शाकपाकजत्वका व्यभिचार होनेसे मित्रातनयत्वरूप हेतु श्यामत्वरूप साध्यका व्यभिचारी है. बाधदोषासहकृत पक्षेतरत्वरूप धर्म किसी स्थलमेंभी उपाधिरूप नहीं होसकता; क्योंकि प्रथम तो उसकी प्रकृतसाध्यके साथ व्यापकताका ग्राहक प्रबल प्रमाण कोई नहीं है. भला कथञ्चित् व्यापकताका ग्रहण मानभी लिया जाय तो उसको स्वव्याघातकता है. भाव यह कि, प्रकृतहेतुके व्यभिचारानुमापकत्वेन उपाधिको दूषकता है.

बाधोन्नीतस्तु पक्षेतर उपाधिर्भवत्येव यथा 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इत्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नेरुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधिः । यत्रतूपाधेः साध्यव्यापकत्वादिकं सन्दिह्यते स सन्दिग्धोपाधिः । पक्षेतरस्तु सन्दिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीयः कथकसम्प्रदायानुरोधादिति ।

भाषा—एवं यदि पक्षेतरत्वरूप धर्मभी उपाधिरूपसे स्वीकृत होय तो सर्वत्र अनुमानोंमें पक्षेतरत्वरूप उपाधिका सम्भव होनेसे अनुमानमात्रका उच्छेद हुआ तो उपाधिकी दूषकता कहां रही ? यही उसको स्वव्याघातकत्व है, परन्तु बाधसहकृत पक्षेतरत्व धर्मभी उपाधिरूप होसकता है; जैसे "वन्हिरनुष्णः कृतकत्वात् " इत्यादि स्थलमें पहले स्पार्शन प्रत्यक्षसे वन्हिमें उष्णता ग्रहण करी अर्थात् पक्षेसाध्याभावरूप बाधका निश्चय किया तो पीछे वह्नीतरत्वरूप उपाधि कह सकते हैं. परन्तु जिस स्थलमें उपाधिमें साध्यव्यापकताका सन्देह होताहै उस स्थलमें वह सन्दिग्ध उपाधि कही जातीहै और पक्षेतरत्वरूप धर्म तो सन्दिग्ध उपाधिरूपसेभी वादी प्रतिवादीको परस्पर उद्बोधन करना योग्य नहीं क्योंकि ऐसा करनाभी (कथक) विचारकुशलोंके सम्प्रदायसे विरुद्ध है.

केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधेः फलम्। तथाहि। 'अयोगोलकं धूमवद्वह्नेः' इत्यादावयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धनाभावादिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। इत्थं च साधनव्यापकोपि क्वचिदुपाधिः यथा करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात् इत्यादावनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम्।

भाषा–कोईएक विद्वान् लोग विरोधिहेतुका उत्थापन करदेनाही उपाधिका प्रयोजन मानतेहैं. (तथाहि) जैसे " अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः " इत्यादि स्थलमें "अयोगोलकं धूमाभाववत् धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगाभावात्" इत्याकारक विरोधिहेतुका सम्भव होसकताहै. (इत्थञ्च) एवं विरोधिहेतु उत्थापकत्वेन उपाधिको दूषकत्व माननेसे किसीएक स्थलविशेषमें साधनका व्यापकभी उपाधिरूप धर्म होताहै जैसे " वर्षोपलः पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात् " इत्यादि स्थलमें 'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' उपाधि है, इस उपाधिसे प्रकृतहेतुमें व्यभिचारानुमान तो नहीं होसकता परन्तु "वर्षोपलः पृथिवीत्वाभाववान् कठिनसंयोगव्यापकीभूतानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वाभावात् " इत्याकारक सत्प्रतिपक्ष कहसकतेहैं.

न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यम्। सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसाङ्कर्यादत्र च साध्यव्यापकःपक्षावृत्तिरुपाधिरितिवदन्ति।

शंका–करका उसी कालमें पिघलके जलरूप होजाती है, इसलिये उसमें कठिन संयोग वस्तुतः नहीं. एवं ऐसे स्थलमें पक्षेहेत्वभावरूप स्वरूपासिद्धि दोषही कहना उचित है. समाधान–उपाधिदोषका सर्वस्थलोंमें दोषान्तरोंके साथ सांकर्य रहताहै अर्थात् ऐसा स्थल कोई एकभी दुर्लभ है कि जिसमें केवल उपाधिदोषही होय तथा दोषान्तरोंका सम्भव न होसके (अत्रच) इस सत्प्रतिपक्ष उत्थापकत्वपक्षमें विद्वान् लोग साध्यके व्यापक तथा पक्षमें न रहनेवाले धर्मको उपाधि कहते हैं.

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ॥१४०॥
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥

भाषा–(वैशेषिक) कणादमुनिके सिद्धान्तमें शब्द तथा उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ॥ १४० ॥ किन्तु इन दोनोंकी अनुमानहीमें गतार्थता है.

शब्दोपमानयोरिति। वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणम्। शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयैव प्रामाण्यम्। तथाहि

दण्डेन 'गामानय' इत्यादिलौकिकपदानि 'यजेत' इत्यादि वैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदकदम्बत्वात् 'घटमानय' इतिपदकदम्बवत् । यद्वैते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः, योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात्, तादृशपदार्थवत् । दृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिरिति ।

भाषा-वैशेषिकसिद्धान्तमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दोही प्रमाण स्वीकृत हैं और शब्द तथा उपमानको अनुमानविधयाही प्रमाणता है अर्थात् जुदी प्रमाणता नहींहै (तथाहि) 'दण्डेन गामानय' इत्यादिलौकिक पद तथा 'यजेत' इत्यादि वैदिकपद वक्तृतात्पर्यके विषयभूत जो पदोंद्वारा उपस्थित हुए पदार्थोंका परस्पर संसर्ग, उस संसर्गका जो ज्ञान तादृश ज्ञानपूर्वक हैं; क्योंकि यह सब आकांक्षायोग्यतादिवाला पदसमूह प्रतीत होताहै. जैसे 'घटमानय' यह पदसमूह आकांक्षायोग्यता-आदिवाला है इसीलिये वक्तृतात्पर्यके विषयभूत उक्त संसर्गके ज्ञानपूर्वकभीहै अथवा ये घटपटादि यावत् पदार्थ वक्तृतात्पर्यके विषयभूत परस्पर संसर्गवाले हैं; क्योंकि जहां तहां इनकी आकांक्षायोग्यतावाले पदोंसेही उपस्थिति होती है (तादृश) प्रसिद्ध पदार्थकी तरह सर्वत्र अनुभव करना उचित है, इत्यादि अनुमानद्वारा प्रयोज्यवृद्धको अनुभव हो सकताहै और यदि किसीको दृष्टान्तस्थलमेंभी सम्यक् साध्यसिद्धि न होय तो उसी पदार्थको पक्षस्थापन करके वहां प्रसिद्ध दृष्टान्तान्तरसे साध्यसिद्धि होसकतीहै.

एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकमसति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, असति च वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यत्प्रयुज्यते तत्र तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम् । यथा गोपदं गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् ।

भाषा-ऐसेही गवयादिव्यक्ति साक्षात्कारके पश्चात् 'गवय' पद गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है अर्थात् 'गवय' पदका प्रवृत्तिनिमित्तधर्म 'गवयत्व' है; क्योंकि वृद्धलोग 'गवय' पदका और कहीं प्रयोग न करके केवल गवयव्यक्तिमेंही प्रयोग करतेहैं अर्थान्तरमें वृत्त्यभाववाले पदका वृद्धलोग जहां जिसका प्रयोग करतेहैं वहां वह पद उसी धर्मके प्रवृत्तिनिमित्तवाला होताहै जैसे 'गो' पद गोत्वधर्मके प्रवृत्तिनिमित्तवाला है अर्थात् 'गो' पदका प्रवृत्तिनिमित्तधर्म गोत्व है.

काम्यमभिलाषाविषयः । धर्मेणेति । धर्मत्वेन सुखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः ।

भाषा-सबकी अभिलाषाके विषय होना मूलगत 'काम्य' शब्दका अर्थ है. एवं धर्मत्वेन धर्मका तथा सुखत्वेन सुखका परस्पर कार्यकारण भाव है अर्थात् सर्वत्र धर्मकारण है तो सुखरूप कार्य है, अन्यथा नहीं.

दुःखं निरूपयति, अधर्मेति-

भाषा-एवं 'अधर्म' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दुःखका निरूपण करतेहैं-

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम्॥ १४५॥

भाषा-यावत् प्राणियोंको प्रतिकूल वेदनीय अर्थात् सबकी द्वेषके विषयका नाम 'दुःख' है और अधर्मसे वह उत्पन्न होता है ॥ १४५ ॥

अधर्मत्वेन दुःखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः । प्रतिकूलमिति । दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः ॥१४५॥

भाषा-अधर्मत्वेन अधर्मका तथा दुःखत्वेन दुःखका परस्पर कार्यकारण भाव है अर्थात् अधर्म कारण है तथा दुःखकार्य है. दुःखत्वेन रूपेण ज्ञात हुआही वह सम्पूर्ण जीवोंके स्वाभाविक द्वेषका विषय होता है ॥ १४५ ॥

इच्छां निरूपयति, निर्दुःखत्व इति-

भाषा-एवं 'निर्दुःख' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार इच्छाका निरूपण करते हैं--

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते ।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥१४६॥

भाषा-दुःखाभावमें तथा सुखमें जीवकी इच्छा होती है,इन दोनोंके ज्ञानसे इच्छाकी उत्पत्ति होती है; इन दोनोंके उपायमें यदि जीवको इष्टसाधनत्व प्रकारक ज्ञान होय तो उपायविषियणी इच्छाभी होती है ॥ १४६ ॥

इच्छा द्विविधा फलविषयिणी, उपायविषयिणी च । फलं तु सुखं दुःखाभावश्च । तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम् । अत एव स्वतः पुरुषार्थः सम्भवति, यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात् । इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः । उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम् ॥ १४६ ॥

भाषा-एक फलविषयिणी, दूसरी उपायविषयिणी, इस भेदसे इच्छा दोप्रकारकी है. सुख तथा दुःखाभाव ये दोनों फल हैं. उन दोनों इच्छाओंमें फलइच्छाके प्रति फलज्ञान कारण है; इसीलिये वह फल स्वतः पुरुषार्थरूप है; क्योंकि-जो ज्ञात हुआ स्ववृत्तितया वांच्छित होय अर्थात् स्वविषयकज्ञानजन्य इच्छाके विषय होय वह पुरुषार्थ है.यही पुरुषार्थका लक्षण है. फलितार्थ यह कि--जो इतर इच्छाधीन इच्छाके विषय नहीं है,वह स्वतः पुरुषार्थ है. एवं उपायमें पुरुषार्थता वारण हुई. यदि इष्टसाधनताज्ञान होय तो जीवको फलसाधक उपायविषयिणी इच्छाभी होती है ॥ १४६ ॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत् ।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७॥

भाषा-कृतिसाध्यत्वप्रकारका इच्छाका नाम चिकीर्षा है. कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षाके कारण है ॥ १४७ ॥

चिकीर्षेति । कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिणीच्छा चिकीर्षा । पाकं कृत्या साधयामीति तदनुभवात् । चिकीर्षां प्रति कृतिसाध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं च कारणम् । अत एव वृष्ट्यां कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा ॥ १४७ ॥

भाषा-कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्य पदार्थविषयिणी इच्छाका नाम 'चिकीर्षा' है 'पाकं कृत्या साधयामि' यह कृतिसाध्यविषयिणी इच्छाका परिचायक अनुभव है. "इदं मत्कृतिसाध्यम्" इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा "इदं मदिष्टसाधनम्" इत्याकारक इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान उक्तचिकीर्षाके निमित्तकारण हैं. चिकीर्षामें कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानकोभी हेतुता है(अत एव) इसीलिये पुरुषकी वृष्टिमें चिकीर्षा नहीं होती; क्योंकि वृष्टिमें पुरुषका कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञान नहींहै. भाव यह कि- सर्वत्र उभयप्रकारक ज्ञानही चिकीर्षाका जनक है.अन्यतरके न होनेसे चिकीर्षा नहीं होती ॥ १४७ ॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात्प्रतिबन्धिका ॥

भाषा-अत्यन्त (द्विष्ट) द्वेषका विषय जो दुःख उस दुःखके साधन सर्पादिका ज्ञान उक्तचिकीर्षाका प्रतिबन्धक है.

बलवदिति। बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र प्रतिबन्धकमतो मधुविषसंपृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा । बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ये ।

भाषा-प्रबल द्वेषविषयक दुःखादिसाधनताक "इदं मद्दुःखसाधनम्" इत्याकारक ज्ञान (तत्र) उक्त चिकीर्षामें प्रतिबन्धक है, इसलिये विषमिश्रित (मधु) शहदादि अन्न भोजनमें पुरुषकी चिकीर्षा नहीं होती. यहां (अन्ये) और कई एक विद्वान् लोग लाघवसे केवल प्रबल द्वेषहीको उक्तचिकीर्षाका प्रतिबन्धक मानते हैं.

तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥१४८॥

भाषा-किसी एक विद्वान्के सिद्धान्तमें (तत्) बलवदनिष्टके अजनक विषयक ज्ञानको उक्त चिकीर्षाके प्रति कारणता है ॥ १४८ ॥

तदहेतुत्वेति । बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः। कृतिसाध्यताज्ञानादिमतो बलवदनिष्टसाधनताज्ञानशून्यस्य बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं विनापि चिकीर्षायां विलम्बाभावात्कस्यचिन्मत इत्यस्वरसो दर्शितः ॥ १४८ ॥

भाषा-अर्थात् कोई एक विद्वान् "इदं मद्बलवदनिष्टाजनकम्" इत्याकारक बलवदनिष्टाजनकत्वप्रकारक ज्ञानको उक्त चिकीर्षामें कारणता मानता है; सो ठीक नहीं;क्योंकि पुरुषको जिस किसीएक पदार्थमें बलवदनिष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान नहींहै और कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान है,उसको बलवदनिष्टाजनकत्वप्रकारक ज्ञानसे विनाभी अर्थात् "इदं मद्बलवदनिष्टाजनकम्" इत्याकारक ज्ञान नाभी होय तो चिकीर्षा होसकती है. यही (कस्यचित्)किसी के मतमें कार्यकारणभावका व्यतिरेक व्यभिचाररूप अस्वरस है ॥ १४८ ॥

द्वेषं निरूपयति, द्विष्टसाधनतेति-

भाषा-एवं 'द्विष्टसाधनता' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार द्वेषका निरूपण करतेहैं-

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम् ।

भाषा-(द्विष्ट) द्वेषके विषय दुःखादि साधनविषयक ज्ञान द्वेषका निमित्त कारण है.

दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं कारणमित्यर्थः । बलवदिष्टसाधनताज्ञानं च प्रतिबन्धकं तेन नान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः ।

अर्थात् दुःखके उपायविषयक द्वेषके प्राति (द्विष्ट) दुःखके उपायविषयक ज्ञानको कारणता है. उसी पदार्थमें यदि प्रबल इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञानभी होय तो वह उक्त द्वेषका प्रतिबन्धक होताहै. भाव यह कि-यद्यपि पाकनिर्माणकालमें पुरु

षको धूमादिजन्य दुःख नियमसे होताहै, इसलिये पाकनिर्माणमें द्वेष हुआ चाहिये तथापि ऐसे स्थलमें " पाको मदिष्टसाधनम् " इत्याकारक इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान उक्त द्वेषका प्रतिबन्धक है; इसीलिये (नान्तरीयक) नियमपूर्वक दुःखके जनक पाकादिकोंमें पुरुषका द्वेष नहीं होताहै.

यत्नं निरूपयति, प्रवृत्तिश्चेति-

भाषा-एवं 'प्रवृत्तिश्च' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार प्रयत्नका निरूपण करते हैं-

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिदर्शितम् ।

भाषा-प्रवृत्ति, निवृत्ति, तथा जीवनकारण ॥ १४९ ॥ भेदसे तीन प्रकारका प्रयत्न शास्त्रकारोंने निरूपण किया है.

प्रवृत्तिनिवृत्तिजीवनयोनियत्नभेदात् प्रयत्नस्त्रिविध इत्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् एक प्रवृत्तिरूप प्रयत्न, दूसरा निवृत्तिरूप प्रयत्न, और तीसरा जीवनकारणप्रयत्न, इस भेदसे प्रयत्न तीन प्रकारका है.

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ॥ १५० ॥
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ॥

भाषा-उपादेयपदार्थमें कृतिसाध्यविषयिणी इच्छा तथा कृतिसाध्यत्वविशिष्ट इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान ॥ १५० ॥ और उपादेयपदार्थके समवायिकारणका साक्षात्कार ये सभी प्रवृत्तिरूप प्रयत्नके जनक हैं.

चिकिर्षेत्यादि । मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ बलवदनिष्टानुबन्धित्वेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः । कृतिसाध्यताज्ञानादिवद्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकात्प्रवृत्तौ कारणमित्यपि वदन्ति । कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरवः ।

भाषा-विषमिश्रित मधुर अन्नभोजनमें मरणरूप प्रबल अनिष्टजनकता है इसलिये यहां चिकीर्षाके न होनेसे प्रवृत्तिभी नहीं होती. यहां कई विद्वान् लोग ऐसेभी कहतेहैं कि-जैसे कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान प्रवृत्तिमें स्वतंत्र कारण है; वैसेही बलवद्अनिष्टाजनकत्वप्रकारक ज्ञानभी अन्वयव्यतिरेकद्वारा प्रवृत्तिमें स्वतंत्रही कारण है. यहां (गुरु) प्रभाकर कार्यताज्ञानको प्रवर्तक मानते हैं अर्थात् प्रवृत्तिके प्रति केवल कृतिसाध्यताज्ञानको हेतुता कहते हैं.

तथाहि । ज्ञानेन प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति, सा च कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात् । चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा ।

भाषा-(तथाहि) " इदं मत्कृतिसाध्यम् " इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको प्रवृत्तिजननमें चिकीर्षासे अतिरिक्त किञ्चिदपि अपेक्षित नहीं है, किन्तु मध्यमें व्यापाररूपेण केवल चिकीर्षा अपेक्षित है. वह चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानजन्या है क्योंकि यह नियम है कि-यद्विशेष्यक यत्प्रकारक इच्छा होतीहै वह अवश्य तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानजन्या होतीहै और कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छाहीका नाम ' चिकीर्षा ' है.

तत्र कृतिसाध्यत्वं प्रकारस्तत्प्रकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्द्वारा प्रवृत्तौ च हेतुः, न त्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र हेतुः, कृत्यसाध्येऽपि चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः ।

भाषा-(तत्र) उस इच्छामें ' कृतिसाध्यत्व ' रूप धर्मका प्रकाररूपेण भान है. (तत्प्रकारक) तादृश कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षामें तथा चिकीर्षाद्वारा प्रवृतिमें कारण है. एवं इष्टसाधनताज्ञानको प्रवृत्तिमें जनकता नहीं है. यदि इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञानकोभी प्रवृत्तिजनकता होय तो पुरुषप्रयत्नसे असाध्य चन्द्रमण्डलके आनयनादिकोंमेंभी पुरुषकी प्रवृत्ति हुई चाहिये.

ननु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेत् । न । तदभावापेक्षया कृतिसाध्यताज्ञानस्य लघुत्वात् ।

भाषा-ऐसे स्थलमें यदि " चन्द्रमण्डलानयनं मत्प्रयत्नासाध्यम् " इत्याकारक ज्ञानको प्रवृत्तिके प्रति प्रतिबन्धकता कहो तो यहभी उचित नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धकाभावमें कारणता माननेकी अपेक्षासे कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानमें कारणता माननेमें लाघव है. भाव यह कि--कृत्यसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको प्रतिबन्धक मानकर तादृश प्रतिबन्धकाभावको अर्थात् कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको आपने प्रवृत्तिके प्रति कारण मानना होगा इससे केवल कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानमें कारणता माननेमें लाघव है.

न च द्वयोरेपि हेतुत्वम् । गौरवात् ।

शंका-कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान ये दोनोंही यदि

प्रवृत्तिके प्रति कारण मानलिये जाँय तो हानि क्या है? समाधान—यदि एकहीसे निर्वाह होसके तो दोनोंमें कारणता माननेमें व्यर्थ गौरव है.

ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसंपृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः कार्यताज्ञानस्य सत्त्वादिति चेत्। न। स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात्।

शंका—(त्वत्) प्रभाकरके सिद्धान्तमेंभी विषमिश्रित मधुरान्नभोजनमें तथा (चैत्य) बुद्धप्रतिमादिके वन्दनमें पुरुषकी प्रवृत्ति हुई चाहिये; क्योंकि—प्रवृत्तिका कारणीभूत " विषमिश्रितमधुरान्नभोजनं बुद्धप्रतिमावन्दनं वा मत्कृतिसाध्यम् " इत्याकारक ज्ञान विद्यमान है. समाधान—हमारे सिद्धान्तमें हरएक कार्य्यताज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता नहीं है किन्तु स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धानजन्य कार्यताज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता है. यहां ' स्व ' पदसे प्रवर्तमान पुरुषका ग्रहण है; उसका विशेषण काम्यकर्मस्थलमें कामना है और नित्यकर्मस्थलमें तत्कालिक शौचादि है; एतादृश विशेषणवत्ताका पुरुषको जब अपनेमें (प्रतिसन्धान) ज्ञान होगा उस विशेषणवत्ताज्ञानको लिङ्गविधया कार्यताज्ञानमें हेतुता है. जैसे " पाको मत्कृतिसाध्यः, मत्कृतिं विनाऽसत्त्वे सति मदिष्टसाधनत्वात् "इस अनुमानजन्य कार्य्यताज्ञान काम्यस्थलमें प्रवृत्तिका कारण है. एवं "अहं इदानींतनकृतिसाध्यसन्ध्यावन्दनको ब्राह्मणत्वे सति विहितसन्ध्याकालिकशौचादिमत्त्वात् " इस अनुमानजन्य कार्य्यताज्ञान नित्यस्थलमें प्रवृत्तिका कारणहै.

काम्ये हि यागपाकादौ कामनास्वविशेषणम्। ततश्च बलवदनिष्टाननुबन्धिकाम्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञानम्। ततश्च प्रवृत्तिः। तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते तदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात्। नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणं तेन शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिः।

भाषा—यागपाकादि काम्य कर्म्मस्थलमें कामना (स्व) पुरुषका विशेषण है; उससे प्रबल अनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनता ज्ञानद्वारा कार्यताका ज्ञान होताहै उस ज्ञानसे प्रवृत्ति होतीहै. तृप्त हुए पुरुषकी भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती. क्योंकि उस कालमें कामना पुरुषका विशेषणीभूत नहींहै एवं नित्यकर्मस्थलमें शौचादि पुरुषके विशेषणरूप हैं इसलिये शौचादिज्ञानाधीन कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञान होताहै. उससे (तत्र) नित्यकर्ममें प्रवृत्ति होतीहै.

ननु तदपेक्षया लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताविषयक-

कार्यताज्ञानमेव हेतुरस्तु,बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वम्, बलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वं वेति चेत् । न । इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्युगपज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात् । असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम् । न चैकमेकेनैकदा सिद्धमसिद्धं चेति ज्ञायते, तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति ।

नैयायिक शंका-इसकी अपेक्षासे अर्थात् बलवदनिष्टासम्बन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनताज्ञानजन्य कृतिसाध्यताज्ञानकी अपेक्षासे लाघवसे यदि बलवदनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनताविषयक कार्यताज्ञानको प्रवृत्तिके प्रतिकारण मानलिया जाय तो हानि क्याहै? यहां इष्टसाधनतामें बलवदनिष्टाननुबन्धित्व यहहै कि-पाकादि इष्ट उत्पादनमें नियमसे होनेवाले धूमादिजन्य दुःखसे अधिक दुःखके जनक न होना अथवा प्रबल द्वेषके विषय मरणादिजन्य दुःखके जनक न होना.एवं कृतिसाध्यताज्ञानमें इष्टसाधनताज्ञानजन्यत्व धर्म्म माननेकी अपेक्षा इष्टसाधनताविषयकत्व धर्म्म माननेमें लाघव है. क्योंकि जन्यजनकभाव सर्वत्र अव्यवहित पूर्वोत्तरादिनियमघटित होताहै.इसलिये इसमें उपस्थितिकृत गौरव है. प्रभाकर-(इतिचेन्न) यह कथन आपका योग्य नहीं;क्योंकि-इष्टसाधनत्वका तथा कृतिसाध्यत्वका पुरुषको एक कालावच्छेदेन ज्ञान होना असम्भव है. कारण यह कि-साध्यत्व, साधनत्व, ये दोनों धर्म्म परस्पर विरोधी हैं, इसलिये एककालमें इन दोनोंका होनाही असम्भव है. क्योंकि,जो अभी सिद्ध न हुआ होय, उसका नाम ' साध्य ' है.ऐसे प्रथमलक्षणवृत्तिपाकादि हैं और जो किसी एकरूपसे सिद्ध होचुका होय, उसका नाम ' साधन ' है. ऐसे अपक्वावस्थापन्नपरिष्कृत तण्डुलादि हैं. एवं एकपुरुष एकवस्तुको एककालावच्छेदेन सिद्धासिद्ध उभयरूपसे नहीं जानसकता.भाव यह कि-यदि एक वस्तु सिद्धासिद्ध उभयभेदसे ज्ञात होगी तो उसका " असिद्धः पाकः कृतिसाध्यः सिद्धश्चेष्टसाधनं " इत्याकारक समूहालम्बनात्मक ज्ञानही कहना होगा. सो बन नहीं सकता; क्योंकि सिद्धत्व असिद्धत्व ज्ञानोंका परस्पर विरोध है,इसलिये सिद्ध साधन उभयका कालभेदसे ज्ञान माननाही उचितहै.

नैवम् । लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य तत्र हेतुत्वात् । न च साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधः । यदा कदाचित् साध्यत्वसाधनत्वयोरविरोधादेकदासाध्यत्वसाधनत्वयोश्च ज्ञानात् ।

नैयायिक-(मैवम्) यह कथन आपका युक्त नहीं है; क्योंकि लाघवसे बलवद् अनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनत्वविशिष्ट कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानकोही (तत्र) प्रवृत्तिमें कारणता माननी उचित है. एवं साध्यत्व साधनत्व धर्मकाभी परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि किसीएक कालमें होनेवाले साध्यत्वधर्मका किसी एककालमें होनेवाले साधनत्वधर्मके साथ विरोधका होना असम्भव है. भाव यह कि-यद्यपि एककालावच्छेदेन एक धर्मीमें कृतिसाध्यत्व तथा इष्टसाधनत्वरूप धर्मद्वय विरोधीहैं,तथापि हमको एककालीन कृतिसाध्यत्व इष्टसाधनत्वरूप धर्मके ज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता अपेक्षित नहीं है किन्तु केवल कृतिसाध्यत्व इष्टसाधनत्वरूप धर्मके ज्ञानको प्रवृतिमें कारणता अपेक्षित है वह धर्मद्वय किंचित् कालभेदसे एकधर्मीमें रहसकते हैं. एवं उनहीको विषय करनेवाला इष्टसाधनत्वविशिष्ट कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानभी होसकता है और वही प्रवृत्तिमें कारण है.

नवीनास्तु ममेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्तकमनागते तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । किंतु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद्दृष्टं तादृशत्वं स्वस्य प्रतिसन्धाय तत्र प्रवर्तते, तेन 'ओदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवतस्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशश्चाहम्' इति प्रतिसन्धाय पाके प्रवृत्तिरित्याहुः । तन्न । स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादिना सम्भोगादौ च तदभावात् ।

भाषा-और प्रभाकरके अनुयायी कईएक नवीनलोग तो यह कहतेहैं कि-"इदं मत्कृतिसाध्यम्" इत्याकारक ज्ञान प्रवृत्तिमें कारणही नहीं है. क्योंकि (अनागत) भाविपदार्थमें (तस्य) कृतिसाध्यत्वरूप धर्मका ज्ञान होनाही असम्भव है किन्तु जैसे पुरुषके प्रयत्नसे जिस पदार्थकी सिद्धि जिसने देखी, वह पुरुष अपनेको उस कृत प्रयत्न पुरुष जैसा मानकर उसी पदार्थकी सिद्धिमें प्रवृत्त होताहै; जैसे पाकमें पुरुषकी प्रवृत्ति "ओदनकामस्य ओदनसाधनताज्ञानवतः ओदनोपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यः तादृशश्चाहं-अर्थात् ओदनकी कामनावाले तण्डुलादिनिष्ठ ओदनसाधनताज्ञानवाले तथा स्थालीकाष्ठादि ओदनउपकरण सामग्रीवाले पुरुषकी कृतिसे पाकसाध्य है"और "तादृशश्चाहं-अर्थात् ओदनकामनावान् ओदन साधनताज्ञानवान् तथा ओदनोपकरणवान् मैंभी हूं"इत्याकारक ज्ञानद्वारा होती है! (तन्न) यह नवीनोंका कथन सम्यक् नहीं है. क्योंकि अपने संकेतद्वारा कल्पना करी लिपि आदिकी प्रवृत्तिमें तथा यौवनावस्थामें कामातुर हुए पुरुषकी भोगादि प्रवृत्तिमें उक्तज्ञान नहीं है; अर्थात् "स्व-

जब पुरुषकी ब्रह्मलोक गमनकी या पापनिवारणकी कामना न होय तो पुरुषको यह सन्ध्यावन्दनादि कर्म करनाभी नहीं चाहिये (इत्यञ्च) इस रीतिसे जहां नित्यकर्मका अर्थवादादिवाक्योंसे फलश्रवण है वहां अर्थवादवाक्यका केवल नित्यकर्मकी प्रशंसामें तात्पर्य कल्पना करनाही उचित है. एवं सन्ध्यावन्दनादिकरणमें पुरुषकी कैसे प्रवृत्ति है ?

ग्रहणश्राद्धादौ नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव (भरणीश्राद्धे काम्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव,) नित्यत्वकाम्यत्वयोरप्यविरोधात् ।

समाधान-ग्रहणकालिक श्राद्धादिकर्ममें जैसे मीमांसक लोगोंने नित्यत्व तथा नैमित्तिकत्व उभय धर्म मानेहैं अर्थात ग्रहणकालिक श्राद्धादि कर्मको जैसे नित्यकर्मभी मानाहै और नैमित्तिकभी मानाहै एवं भरणीनक्षत्रकालिक श्राद्धको जैसे काम्यकर्म मानाहै और नैमित्तिकभी मानाहै वैसेही संध्यावन्दनादिकोभी नित्यकर्म मानके काम्यकर्मभी मानलिया जाय तो नित्यत्व तथा काम्यत्वरूप धर्मद्वयका परस्पर विरोध नहीं है.

न च कामनाभावेऽकरणापत्तिः । त्रिकालस्तवपाठादाविव कामनासद्भावस्यैव कल्पनात् ।

शंका-यदि पुरुषको कुछ कामना न होय तो सन्ध्यादि नित्यकर्म नहींभी करने चाहिये. समाधान-त्रिकाल स्तुतिपाठादिकी तरह सन्ध्यावन्दनादिमेंभी कामनासद्भाव रहताही है अर्थात् जैसे विष्णुसहस्रनामस्तोत्रादि पाठ विधिविहित काम्य कर्म नहींभी है तौभी फलकामनासे पुरुषोंकी स्तोत्रपाठोंमें प्रवृत्ति होती है वैसेही सन्ध्यावन्दनादि कर्मस्थलमेंभी फलकामना अवश्य रहतीही है.

ननु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिः सम्भवतीति चेत् । न ।

---

१ यहां यह भाव है कि-नित्यश्राद्ध अग्निष्वात्ताआदि षड्दैवत होताहै और ग्रहणादि नैमित्तिकभी पूर्वोक्त षड्दैवतही होताहै. एवं ग्रहणादिविशेषकालमें एकरूपसे श्राद्धरूप कर्मद्वयकी प्राप्ति हुई तो "नित्यश्राद्धं न कुर्वीत प्रसङ्गाद्यत्र सिद्ध्यति ॥ श्राद्धान्तरे कृतेऽन्यत्र नित्यत्वात्तन्न हापयेत्" ॥१॥ इस मात्स्यवचनसे नित्यत्व तथा नैमित्तिकत्वरूप धर्मद्वयका समावेश एकही क्रियामें जैसे प्राप्त होताहै ॥ ॥ एवं " भरणी पितृपक्षे तु महती परिकीर्तिता ॥ अस्यां श्राद्धं कृतं येन स गयाश्राद्धकृद्भवेत् "॥ १ ॥ इस मात्स्यवचनसे भरणीश्राद्धमें नैमित्तिकत्व धर्म तो स्पष्टही है परन्तु गयाश्राद्धवत् कथनसे उसीमें काम्यत्वधर्मका समावेशभी हुआ; क्योंकि गयाश्राद्धकरनेवालेको " उद्धरेत्सप्त गोत्राणि कुलमेकोत्तरं शतम् " इस वचनसे एकोत्तरशत कुलोंका उद्धारक लिखाहै वैसेही संध्यावन्दनादि कर्मोंमेंभी नित्यत्व तथा काम्यत्वरूप धर्मद्वयका समावेश विरुद्ध नहीं है.

स्वेष्टसाधनत्वमविज्ञाय तादृशकार्यताज्ञानसहस्रेणापि प्रवृत्तेरसम्भवात् ।

शंका—वेदप्रतिपादित कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानसेही सन्ध्यावन्दनादिमें पुरुषकी प्रवृत्ति मान लीजाय तो दोष क्या है ? समाधान—पुरुषको जबतक स्वइष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान न होय तबतक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान सहस्रके होनेसेभी प्रवृत्तिका होना असम्भव है.

यदपि पण्डापूर्वं फलमिति, तदपि न । कामनाभावेऽकरणतापत्तेस्तौल्यात् । कामनाकल्पने त्वार्थवादिकफलमेव रात्रिसत्रन्यायात् कल्प्यताम्, अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तेनानुत्पत्तिमेवान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।

प्रभाकरशंका—सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मोंका (पण्डापूर्व) फलविशेषानाधायक अपूर्वही फलरूपेण मानलिया जाय तो दोष क्या है? समाधान—पण्डापूर्वरूप फलकी कामना जिसको न होगी उसको सन्ध्यावन्दनादि नहीं करने चाहिये. यह दोष आपकोभी हमारे तुल्यही हुआ और यदि पण्डापूर्वकी कामना कल्पना करो तो इससे तो रात्रिसत्रन्यायसे अर्थवादवाक्यप्रतिपादित फलकी कल्पना करनीही उचित है, अर्थात् जैसे रात्रिसत्ररूप कर्मका कोई फल विशेष श्रवण नहीं और उस प्रकरणमें अत्यन्त अश्रुत स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनेमेंभी गौरव है इसलिये उसी कर्मके प्रशंसक " प्रतितिष्ठन्ति इह वा ये " इत्यादि अर्थवादवाक्यसे " रात्रिसत्ररूप कर्मकर्ता पुरुषको इसी लोकमें प्रतिष्ठा होतीहै " इत्याकारक फलकी कल्पना मीमांसकोंने करी है वैसेही सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म्मकाभी ' सन्ध्यामुपासते ये तु ' इत्यादि अर्थवादबोधित ब्रह्मलोकादिप्राप्तिरूप फलही कल्पना करना उचित है अन्यथा सन्ध्यावन्दनादि करनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हुई चाहिये. यह दोष तादवस्थ्य रहेगा अर्थवादिक फल कल्पनेमें लाघव है (तेन) इसीलिये कईलोग (प्रत्यवाय) पापोंका ना उत्पन्न होनाही सन्ध्यावन्दनादिका फल मानतेहैं.

एवं "सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ॥ विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्" । एवं " दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्" इत्यादिकमेव फलमस्तु ।

भाषा-एवं " प्रशंसितव्रतवाले पुरुष जो प्रतिदिन सन्ध्या उपासन करते हैं वे विगतपाप कर सु रूप ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं" इत्याद अर्थवादबोधक वाक्यों-

सेभी सन्ध्यावन्दनादिका फल प्रतीत होताहै. एवं " पितृगण हमारे पर प्रेम रक्खें इस मनोरथसे पुरुष पितृगणके उद्देश्यसे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक दान किया करे " इत्यादिअर्थकवचनबोधित पितृप्रीतिरूपही पितृश्राद्धादि नित्यकर्मका फल है.

न च पितृप्रीतिः कथं फलं व्यधिकरणत्वादिति वाच्यम् । गयाश्राद्धादाविवोद्देश्यत्वसम्बन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वचित्कल्पनात् अतएवोक्तं शास्त्रदर्शितफलमनुष्ठानकर्तरीत्युत्सर्ग इति ।

शंका-क्रियाका फल नियमसे क्रियाके कर्ताहीको हुआ करता है. एवं पितृश्राद्धका पितृप्रेमहीरूप फल नहीं बन सकता क्योंकि क्रियाके साथ उसका समानाधिकरण नहीं है अर्थात् श्राद्धक्रियाका कर्ता चैत्र और प्रीतिरूप फल उसके पितृगणमें मानना अनुभवविरुद्ध है. समाधान-गयाश्राद्धकी तरह कई स्थलोंमें उद्देश्यतासम्बन्धसेभी फलकी कल्पना होसकती है इसलिये " शास्त्रबोधित क्रियाका फल अनुष्ठानकर्ताहीको होताहै " इस प्रवादको मीमांसक लोगोंने (उत्सर्ग) प्रायो वाद माना है अर्थात् अनुष्ठानकर्ताको तो होताही है, परन्तु जहां जिसके उद्देशसे क्रिया करी जावे वहां उसकोभी फल अवश्य होताहै.

पितॄणां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गफलम्, यावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्य सामान्यतः स्वर्गफलकल्पनात् । पण्डापूर्वार्थं प्रवृत्तिश्च न सम्भवति । न हि तत्सुखदुःखाभाववत् स्वतः पुरुषार्थो न वा तत्साधनं प्रत्यवायानुत्पत्तौ कथं प्रवृत्तिरिति चेत् ।

भाषा-और जिन पितृगणके निमित्त श्राद्धादिक्रिया करीहै यदि वे मुक्त होगए हों तो उसक्रियाकाभी स्वर्गादिफल क्रियानुष्ठानकर्ताहीको होताहै, क्योंकि यावत् नित्यनैमित्तिकविहित अनुष्ठानको सामान्यरूपसे स्वर्गफलजनकता शास्त्रसिद्ध है और फलविशेषानाधायक पण्डापूर्वके उद्देश्यसे तो पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होसकती, क्योंकि पुरुषकी प्रवृत्तिका उद्देश्य सुख है या दुःखाभाव है या इन दोनोंके साधन हैं और पण्डापूर्व स्वयं सुखरूप नहीं है तथा दुःखाभावरूप नहीं है तथा इन दोनोंका साधनभी नहीं है. शंका-आपने पूर्वनित्यकर्मका फल प्रत्यवायाभाव माना है वह प्रत्यवायाभावभी पण्डापूर्वकी तरह स्वयं सुख नहीं, दुःखाभाव नहीं और इन दोनोंका साधनभी नहीं तो उसके उद्देश्यसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्ममें प्रवृत्तिका कैसे सम्भव होसकताहै?

इत्थम् । यथा हि नित्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तदभावः । एवं प्रत्यवायाभावस्य सत्त्वे दुःखप्रागभावसत्त्वं तद-

भावे तदभाव इति योगक्षेमसाधारणकारणताया दुःखप्रागभावं प्रत्यापि सुवचत्वात् । एवमेव प्रायश्चित्तस्यापि दुःखप्रागभाव-हेतुत्वमिति ।

समाधान-(इत्थम्) जैसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करनेवाले पुरुषमें प्रत्यवायका अभाव रहता है और न करनेवालेमें (तदभाव) अर्थात् प्रत्यवायाभावका अभाव प्रत्यवाय रहेगा वैसेही प्रत्यवायाभावकी दुःखप्रागभावके साथ व्याप्ति है अर्थात् नित्यकर्मद्वारा जिस पुरुषमें प्रत्यवायाभाव रहेगा उसीमें दुःखप्रागभावभी रहेगा और जिसमें प्रत्यवायाभाव नहीं रहेगा उसमें(तदभाव) अर्थात् दुःखप्रागभावभी नहीं रहेगा किन्तु दुःखप्रागभावाभाव अर्थात् दुःखही रहेगा इस रीतिसे योगक्षेम साधारण प्रवृत्तिकारणता दुःखप्रागभावमेंभी बनसकती है एवं प्रायश्चितकर्म्मकोभी योगक्षेम साधारणही दुःखप्रागभाव हेतुता है अर्थात् प्रायश्चित्तात्मक कर्म करणप्रवृत्तिमें उद्देश्य विधया दुःखप्रागभावही कारण है.

ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र विध्यर्थे कथं नञर्थान्वयः, इष्टसाधनत्वाभावस्य कृतिसाध्यत्वाभावस्य च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेत् । न ।

शंका-" न कलञ्जं भक्षयेत् " इत्यादि विधिवाक्योंमें विध्यर्थ नञर्थका परस्पर कैसे अन्वय होताहै? क्योंकि आपने पूर्व इष्टसाधनत्वादि विध्यर्थ मानाहै और नञ्का अभावरूप अर्थ स्पष्टही है. एवं विध्यर्थके साथ यदि नञर्थका अन्वय होय तो " न कलञ्जं" इत्यादि वाक्यसे 'कलञ्जभक्षणं पुरुषेष्टसाधनत्वाभाववत् कृतिसाध्यात्वाभावञ्च' यही बोध होगा सो इसका होना सम्भव नहीं क्योंकि ' कलञ्ज ' नाम शुष्कमांस विशेषका है उसके भक्षणमें " कलञ्जभक्षणमिष्टसाधनत्वाभाववत्कृतिसाध्यत्वाभाववञ्च " इत्याकारक बोध बाधित है किन्तु पुरुषको साधारणरूपेण उभयप्रकारक बोधकलञ्ज भक्षणमें रहताही है इसलिये विध्यर्थके साथ आन्वित हुआ नञर्थ इष्टसाधनत्वाभावके तथा कृतिसाध्यत्वाभावके बोधनमें समर्थ नहीं होसकता.

---

१ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तके संरक्षणका नाम ' क्षेम ' है. प्रत्यवायाभाव स्वतः पुरुषार्थ नहीं,पुरुषार्थसाधनभी नहीं;इसलिये उसमें प्रवृत्तिकारणता प्राप्त न थी परन्तु दुःखप्रागभावके साथ उसकी व्याप्ति बनाकर उसमें युक्तिसे प्रवृत्तिकारणता प्राप्त करी यही 'योग' है.एवं इष्टसाधनताज्ञानको प्रवृत्तिकारणता सिद्धही थी परन्तु प्रभाकरके कुतर्क जालकों निरासकर उसका संरक्षण किया यही ' क्षेम ' है, इस रीतिसे योगक्षेम साधारण सिद्ध हुई प्रवृत्तिकारणता दुःखप्रागभावमेंभी सुवच बनसकती है,

तत्र बाधादिष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वं च न विध्यर्थः, किंतु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रं तदभावश्च नञा बोध्यते। अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थःतदभावश्च नञा बोध्यमानो विशिष्टाभावो विशेष्यवति विशेषणाभावे विश्राम्यति।

समाधान-ऐसे स्थलमें यह अर्थ बाधित है इसलिये ऐसे स्थलमें इष्टसाधनत्व या कृतिसाध्यत्व विध्यर्थ नहीं है किन्तु ऐसे स्थलमें केवल बलवदनिष्टाननुबन्धित्व मात्रही विध्यर्थ है उस बलवदनिष्टाननुबन्धित्वका अभाव नञसे बोधित होताहै. भाव यह कि-इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व इस भेदसे विध्यर्थके तीन अंश है उनमें विधिद्वारा किसीस्थलमें किसी अंशका बोध होताहै और किसी स्थलमें किसीका. एवं जहां जिस अंशका बोध होता है वहां उसी अंशका अभाव नञबोधन करता है प्रकृतमें बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्र विध्यर्थ है उसीका अभाव 'कलञ्जभक्षणं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभाववत्' इत्यादि अनुभवसे नञबोधन करता है अथवा लाघवसे बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्वप्रकारक कृतिसाध्यत्वरूपही विधिका अर्थ मानना उचित है एतादृश विशेषण विशिष्ट विध्यर्थका अभाव नञद्वारा बोधित हुआ विशेष्यवाले विशेषणाभावमें विश्रान्त होताहै अर्थात् इष्टसाधनत्वादिवाले जो कलञ्जभक्षण आदि उनमें विशिष्टाभाव बोध्यमान हुआ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावमें पर्यवसान पाताहै. भाव यह कि-ऐसे स्थलमें विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावका लाभ होताहै.

ननु श्येनेनाभिचरन् 'यजेत' इत्यत्र कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमर्थः, श्येनस्य मरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्। न च वैधत्वान्न निषेध इति वाच्यम्, अभिचारे प्रायश्चित्तोपदेशात्। न च मरणानुकूलव्यापारमात्रं यदि हिंसा तदा खड्गकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वापत्तिः, गललग्नान्नभक्षणजन्यमरणे स्वात्मवधित्वापत्तिश्चेति वाच्यम्, मरणोद्देश्यकत्वस्यापि विशेषणत्वात्, अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य तु वाचनिकं प्रायश्चित्तमिति चेत्। न।

शंका-आपने पूर्वोक्त रीतिसे विधिका अर्थ विशिष्ट माना है परन्तु श्येन नामक कर्ममें 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्व' रूप विशेषण नहीं है; क्योंकि 'श्येनेनाभिचरन्

यजेत ' इस विधिवाक्यमें ' श्येन ' नाम कर्मविशेषका है. 'अभिचरन्' नाम शत्रुमरणकी कामना करतेहुएका है. समुदितार्थ यह हुआ कि–शत्रुमरणकी कामना करता हुआ श्येननामक कर्मसे यजन करे, एवं ऐसे स्थलमें विध्यर्थका वलवदनिष्टाननुवन्धित्वरूप विशेषण नहीं है; क्योंकि ' श्येन' नामक कर्मको शत्रुमारणानुकूल व्यापारात्मक होनेसे हिंसारूपता है और हिंसा नरकका साधन होतीहै और यदि कहो कि विधिविहित हिंसा दोषकर नहीं होती क्योंकि हिंसाका निषेधक " माहिंस्यात् सर्वाभूतानि "यह सामान्य वाक्य है. इसलिये विशेषविधिवाक्यविहित यज्ञीय हिंसाको छोड़कर प्रवृत्त होता है तो यह कथनभी युक्त नहीं क्योंकि " अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छैर्व्यपोहति " इत्यादिशास्त्रसे (अभिचार) मारणादिक्रियाके प्रायश्चित्तका उपदेश है. अर्थात् यदि यह क्रिया पापजनका न होय तो इसके उद्देश्यसे प्रायश्चितका विधानभी नहीं हुआ चाहिये और यदि कहो कि साक्षात् परम्परासाधारण मारणानुकूलव्यापार मात्रका नाम यदि ' हिंसा ' होये तो (खड्ग) तलवार बनानेवालेको तथा कूप लगवानेवालेकोभी हिंसाका दोष लगना चाहिये; क्योंकि तलवारसेभी परम्परा कई जीव मारे जातेहैं और कूपमेंभी कई जीव मरजातेहैं. एवं यदि कोई भोजनकरणकालमें गलेमें अन्न रुक जानेसे मरजाय तो उसको आत्महत्याका पाप लगना चाहिये; इसलिये साक्षात् परम्परासाधारण मारणानुकूल व्यापारमात्रका नाम ' हिंसा ' नहीं, किन्तु केवल साक्षात् मारणानुकूलव्यापारका नाम 'हिंसा ' है और श्येनकर्म साक्षात मारणानुकूलव्यापार नहीं है इसलिये " मा हिंस्यात् " इत्यादि निषेधका अविषय होनेसे वलवदनिष्टका अननुबन्धि है तो यह कथनभी युक्त नहीं; क्योंकि मरणोद्देश्यकत्वरूप धर्मकोभी क्रियाकी विशेषणता है अर्थात् शत्रुमरणोद्देशेन विधान किया ' श्येन ' नामक कर्म हिंसारूपही है और यदि कहो कि मरणोद्देश्यका क्रियही यदि हिंसारूप होय तो जहां मृगादिके उद्देशसे वाण चलाया लगा ब्राह्मणको तो उसके मरनेका प्रायश्चित नहीं हुआ चाहिये क्योंकि ऐसे स्थलमें ब्राह्मणहिंसारूप क्रियामें ब्राह्मणोद्देशकत्वधर्म नहीं है तो यह कथनभी युक्त नहीं क्योंकि ऐसे स्थलमें अज्ञानकृत ब्राह्मणवधका तत्तद् वचनविशेषोंद्वारा प्रायश्चित्त ऋषिलोगोंने विधान किया है और ज्ञानकृत ब्राह्मणवधका तो " कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते " इत्यादि मनुवाक्यसे प्रायश्चित्तही नहींहै. भाव यह कि–मरणोद्देश्यकत्वरूप विशेषण हिंसारूपा क्रियामें देना व्यर्थ नहीं है.

श्येनवारणायादृष्टाद्वारकत्वेन विशेषाणत् । अतएव काशीमरणार्थं कृताशिवपूजादेरपि न च हिंसात्वम् ।

---

[१] शिरः कपाली ध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन् ॥ ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक् शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥ इति याज्ञवल्क्यः ।

समाधान-'श्येन' नामक कर्ममें हिंसात्वधर्मके वारणार्थ हम अदृष्टाद्वारकत्वेन विशेषण देतेहैं अर्थात् 'अदृष्टाद्वारकं यद्वैरिमरणानुकूलं कर्म तद्धिंसा' और श्येनकर्म तो अदृष्टद्वारा शत्रुनाशक है, इसलिये हिंसा नहीं है अदृष्टाद्वारक शत्रुमरणानुकूल क्रियाहीका नाम हिंसा है, (अतएव) इसीलिये जिस पुरुषने काशीमरणके उद्देश्यसे शंकरार्चनादि क्रिया करीहै उस क्रियाकोभी हिंसात्व नहींहै.

न च साक्षान्मरणजनकस्यैव हि हिंसात्वं श्येनस्तु न तथा किंतु तज्जन्यापूर्वमिति वाच्यम् । खड्गाघातेन ब्राह्मणे व्रणपाकपरम्परया मृते हिंसात्वानापत्तेः ।

शंका-अदृष्टाद्वारक मरणजनकत्वकी अपेक्षा साक्षात् मरणजनकत्वरूप क्रियामें विशेषण देनेमें लाघव है अर्थात् साक्षात् मरणजनिका क्रियाका नाम 'हिंसा' है. ऐसे कथनसे शंकरार्चनादि क्रियाका तथा श्येनादिक्रियाकाभी वारण होसकता है क्योंकि श्येन शंकरार्चनादि क्रिया साक्षात् मरणजनिका नहीं है किन्तु स्वजन्य अदृष्टद्वारा है. समाधान-साक्षात् मरणजनिका क्रियाका नाम 'हिंसा' नहीं कहसकते, क्योंकि यदि ऐसा होय तो जहां प्रथम अल्प खड्गपरिहारसे ब्राह्मणको व्रण हुआहै पीछे उसी व्रणपाकद्वारा उस ब्राह्मणका मरण हुआ. वहां वह मरणरूपा क्रिया हिंसात्मिका नहीं हुई चाहिये; परन्तु उस क्रियाका हिंसात्मक होना अनुभव सिद्ध है, इसलिये ऐसी हिंसाके संग्रहार्थ तथा श्येनादि क्रियाके वारणार्थ अदृष्टाद्वारक मरणजनिका क्रियाहीका नाम 'हिंसा' कहना उचित है.

केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं नतु मरणम्, तेन श्येनजन्यखड्गाघातादिरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थस्तस्य च पापजनकत्वमतः श्येनस्य वैधत्वात् पापाजनकत्वेऽप्यग्रिमपापं प्रतिसन्धाय सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः ।

भाषा-और कई एक विद्वान् लोग तो यह कहतेहैं कि-'श्येन' नामक कर्मका साक्षात् शत्रुमरणफलक व्यापारही फल है अर्थात् श्येनकर्म अपने कर्ताके शत्रुपर खड्गाघातादि करवा देताहै. एवं खड्गाघातादि मात्र श्येनक्रियाका फल है किन्तु शत्रुमरणरूप फल नहीं है. इसलिये श्येनक्रियाजन्य खड्गाघातादिरूपा हिंसाहीका नाम 'अभिचार' है और उसी खड्गाघातादिरूप अभिचार पदार्थको पापजनकता है अर्थात् श्येनक्रियाको साक्षात् पापजनकता नहींहै. एवं श्येनक्रियाको विधिविहित होनेसे यद्यपि साक्षात् पापजनकता नहींहै तथापि परम्परा उत्पन्न होनेवाले भाविपापको चिन्तन कर सत्पुरुष श्येनादिक्रिया करनेमेंभी प्रवृत्त नहीं होते.

आचार्यास्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः 'पाकं कुर्याः' इत्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचित्ववल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वं लाघवात्। एवं च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यतयाऽऽप्तेष्ट इत्यर्थः।

भाषा—और उदयनाचार्य तो आप्तवक्ताके अभिप्रायको विध्यर्थ मानतेहैं; जैसे "पाकं कुर्याः" इत्यादि वाक्यमें लिङ्को आज्ञादिरूप इच्छावाचकत्व है, वैसेही लाघवसे सर्वत्र लिङ्मात्रको इच्छावाचकत्व है. एवं "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि स्थलमें याग स्वर्गकी कामनावाले पुरुषकी कृतिसाध्यतारूपेण आप्तवक्ताकी इच्छाका विषय है ऐसा वाक्यार्थबोध होता है.

ततश्चाप्तेष्टत्वेनेष्टसाधनत्वादिकमनुमाय प्रवर्तते। कलञ्जभक्षणादौ तदभावान्न प्रवर्तते।

भाषा—(ततश्च) उस बोधानन्तर अधिकारी पुरुषकी आप्त इच्छा विषयत्वरूप हेतुसे स्वइष्टसाधनताके अनुमानद्वारा यागादि क्रियामें प्रवृत्ति होती है अर्थात् विधिवाक्यार्थबोधसे पीछे अधिकारी पुरुष "यागो मम स्वर्गकामस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यतया आप्तेनेष्यमाणत्वात् मन्मात्रकृतिसाध्यतयेष्यमाणमद्भोजनवत्" इत्याकारक अनुमानद्वारा यागादिक्रियामें प्रवृत्त होताहै. एवं कलञ्जादिके भक्षणमें अधिकारी पुरुषको आप्त इष्टत्वाभावप्रयुक्त स्वेष्टसाधनत्वज्ञानकाभी अभाव है अर्थात् ऐसे स्थलमें 'नञ्' से निषिध्यमाण आप्ताभिप्रायरूप विध्यर्थ अधिकारीको स्वेष्टसाधनताका अनुमापकभी नहीं होता.

यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम्।

शंका—वेदगत लिङादिद्वारा किसकी इच्छाका बोध होगा ? क्योंकिं वह अपौरुषेय वाक्य है. उसका आद्यवक्ता कोई नहीं है. समाधान—जो पुरुष वेदको पौरुषेय अर्थात् पुरुषप्रणीत नहीं मानता है "तंप्रति तावत्कुमार्य्याः पुंयोगे गर्भ इव श्रुतिकुमार्य्याः पुंयोगे विधिरेव मानम्—अर्थात् जैसे कुमारीकन्याको गर्भवती देखकर उसके पुरुषसंसर्गका अनुमान होता है वैसेही वेदवचनोंको विधिगर्भित देखकर पुरुषसंसर्गका अनुमान है. भाव यह कि—वक्तासे भिन्न इच्छाके बोधनमें विधिका सामर्थ्यही नहीं है इसलिये विधिवाक्यही वेदोच्चारक ईश्वरमें प्रमाणरूप है.

न च कर्तृस्मरणं बाधकम् । कपिलकणादादिकमारभ्याद्यपर्यन्तं कर्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात् । अन्यथा स्मृतीनामप्यकर्तृकत्वापत्तेः।तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद्वेदेऽपि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'इत्यादि कर्तृस्मरणमस्त्येव । एवं "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

शंका-वेदका कोई कर्ता स्मृतियोंद्वारा बोधन नहीं होता इसलिये "वेदोऽपौरुषेयः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्" यह अनुमान आपके पक्षका बाधक है. समा०-कपिल कणाद गौतमादि महर्षियोंने तथा उनके शिष्यप्रशिष्योंने अद्यावधि वेदके कर्ता ईश्वरका स्मरण कियाहै अर्थात् स्वस्वनिर्मित पुस्तकोंमें लिखाहै. यह वार्ता प्रत्येकविद्वान्‌के अनुभवसिद्ध है.(अन्यथा) जो वेदको पुरुषविशेषप्रणीत नहीं मानता उसकोभी स्मृतियांभी वैसीही माननीं चाहिये अर्थात् पुरुषप्रणीत नहीं माननीं चाहिये. यदि कहो कि स्मृतियोंमें स्मृतिकर्ताओंका तहां तहां स्थलविशेषमें स्मरण है अर्थात् उनके नामका निर्देश है तो वेदमेंभी "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे ॥ छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥१॥ "यजुःअ०३१ मं० ७" इत्यादि मंत्रोंमें तहां २ स्थलविशेषमें ईश्वररूप कर्ताका स्मरण विद्यमान है. एवं प्रतिमन्वन्तर यह श्रुति अन्यरूपेण विधान करीजातीहै इत्याद्यर्थबोधक स्मृतिवाक्यभी वेदके पौरुषेय होनेमें प्रमाण हैं.

"स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ॥ शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः" इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम् ।

शंका-महाभारतमें व्यासदेवने इस वेदभगवान्‌को (स्वयम्भूः) नित्य कहाहै और कृष्णदेव शिवादिसे लेकर अग्निवाय्वादि ऋषियों पर्य्यन्त सभी इसके स्मरणकर्ता माने हैं किन्तु रचयता नहीं माने;इसलिये इस भारतवचनसे वेद नित्य अर्थात् अपौरुषेय प्रतीत होताहै. समा०-यह भारतवचन केवल वेदकी प्रशंसा मात्र है और वेदको पौरुषेयत्व पूर्वोक्तप्रमाणोंसे सिद्ध है.

न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसंभवादप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम्, नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात् । अत एव पुरुषान्तरस्य भ्रमादिसम्भवान्न कपिलादेः कर्तृत्वं वेदस्य ।

शंका-वेदके पौरुषेय माननेमें वेदमें भ्रमादिका अर्थात् भ्रान्तप्रोक्तिका सम्भवभी होसकताहै क्योंकि पुरुषमें भ्रमप्रमादादिदोष अवश्य रहतेहैं. एवं पुरुषवाक्य होनेसे

वेदको अप्रामाण्यापत्ति होगी. समाधान—वेदप्रोक्ता पुरुष ईश्वर नित्यसर्वज्ञ है इसलिये निर्दोष है. एवं नित्य सर्वज्ञ पुरुषप्रणीत होनेसे वेदभी निर्दोष है; सिवाय ईश्वरके और कोई सर्वज्ञ नहींहै. (अतएव) इसीलिये कपिलादि ऋषियोंकोभी वेदके कर्ता मानना उचित नहीं; क्योंकि विना ईश्वरके पुरुषान्तरमें भ्रमादिका सम्भव होसकताहै.

किंच वर्णानामेवानित्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् सुतरां तत्सन्दर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति संक्षेपः ॥ १५० ॥

भाषा—(किञ्च)आगे कथनीय युक्तिसे हमने अकारादि वर्णोंहीको अनित्य सिद्ध करनाहै तो वर्णसन्दर्भ अर्थात् वर्णगत आनुपूर्वी विशेषरूप वेदभी स्वयं अनित्य सिद्ध होगी. (इति संक्षेपः) यह संक्षेपसे विध्याद्यर्थका प्रतिपादन कियाहै ॥ १५० ॥

उपादानस्येति । उपादानस्य समवायिकारणस्याध्यक्षं प्रत्यक्षं च प्रवृत्तौ कारणमिति ।

भाषा—उपादानका अर्थात् समवायिकारणका साक्षात्कार प्रवृत्तिमें कारण है.

निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनताधियः ॥ १५१ ॥

भाषा—द्वेषविषय दुःखादि साधनताविषयक ज्ञानसे होनेवाले द्वेषसे पुरुषकी निवृत्ति होती है ॥ १५१ ॥

निवृत्तिरिति । द्विष्टसाधनताज्ञानस्य दुःखसाधनाविषयकनिवृत्तिं प्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकादवधारितमिति भावः ॥ १५१ ॥

भाषा—भाव यह कि (द्विष्ट) द्वेषविषय दुःखादि साधनताज्ञानको दुःखसाधन विषयक निवृत्तिके प्रति जनकता अन्वयव्यतिरेकसे निश्चित है ॥ १५१ ॥

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत् ॥
शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं स प्रकीर्तितः ॥१५२॥

भाषा—जीवनयोनि अर्थात् जीवके जीवनका कारणीभूत यत्न सर्वदा अतीन्द्रिय है. और वही शरीरके भीतर प्राणसंचारमें कारण है ॥१५२ ॥

यत्न इति । जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते,स चातीन्द्रियस्तत्र प्रमाणमाह।शरीर इति।प्राणसञ्चारो ह्यधिकश्वासादिः प्रयत्नसाध्यः।इत्थं च प्राणसञ्चारस्य सर्वस्य यत्नसाध्यत्वानुमानात्प्रत्यक्षप्रयत्नबाधाच्चातीन्द्रिययत्नसिद्धिः,स एव जीवनयोनिः प्रयत्नः १५२

भाषा-जीवनेके कारणीभूत प्रयत्नका अनुवर्तन जबतक जीव जीता रहे तबतक होता रहता है, वह प्रयत्न अतीन्द्रिय है. उसमें 'शरीरे' इत्यादि मूलसे प्रमाण कहतेहैं. अधिक श्वास प्रश्वासादि प्राणसंचार प्रयत्नसाध्य अनुभवसिद्ध है . (इत्थञ्च) एवं दृष्टान्तसिद्ध हुआ तो " यावत् प्राणिशरीराभ्यन्तरप्राणसञ्चारः भोक्तृप्रयत्नजन्यः धावनादिप्रयत्नोत्कर्षेण श्वासक्रियोत्कर्षदर्शनात् मदीययत्नोत्कर्षसाध्यमच्छ्वासक्रियोत्कर्षवत् " इत्यादि अनुमानसे यावत् प्राणसंचारमें यत्न साध्यत्वसिद्ध हुआ तो प्रत्यक्षयत्नके बाधित होनेसे अतीन्द्रययत्नकी सिद्धिहुई वही प्रयत्न जीवनका कारणीभूतहै.

गुरुत्वं निरूपयति, अतीन्द्रियमिति-

भाषा-एवं 'अतीन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार गुरुत्वका निरूपण करतेहैं-

अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत् ॥
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् १५३
तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि ॥

भाषा-(गुरुत्व) अर्थात् भारीपन अतीन्द्रय है, पृथिवी जल दोनोंमें रहताहै. घटादि अनित्योंमें वह गुरुत्व अनित्य है और परमाणुओंमें नित्य है ॥ १५३ ॥ वही गुरुत्व आद्यपतनरूप क्रियामें असमवायिकारण है.

अनित्येति, अनित्येद्व्यणुकादौ तद्गुरुत्वमनित्यं नित्ये परमाणौ नित्यं, गुरुत्वमित्यनुवर्तते। तद् गुरुत्वम्। असमवायि असमवायिकारणम् । पतनाख्ये इति आद्यपतन इत्यर्थः।

भाषा-अर्थात् अनित्यद्व्यणुकादिकोंमें वह गुरुत्व अनित्य है और नित्य परमाणुओंमें वह नित्य है ' नित्येनित्यं' इस मूलमें गुरुत्वपदकी अनुवृत्ति करलेनी. 'तत्' पदसे गुरुत्वका ग्रहण है. ' असमवायि ' पदसे असमवायिकारणका ग्रहण है. एवं ' पतन ' पदसे आद्यपतनका ग्रहण है.

द्रवत्वं निरूपयति, सांसिद्धिकमिति-

भाषा-एवं ' सांसिद्धिक ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार द्रवत्वका निरूपण करतेहैं-

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥१५४॥

भाषा-एक सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व है और दूसरा नैमित्तिक है ॥ १५४ ॥

द्रवत्वं द्विविधं सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च ॥ १५४ ॥

भाषा–वह द्रवत्व सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारका है.

सांसिद्धिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसोः ॥
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमिष्यते ॥१५५॥

द्वितीयंनैमित्तिकम् ।

भाषा–उनमें स्वाभाविक तो जलहीमें है और नैमित्तिक पृथिवी तथा तेज-दोनोंमें है. वह द्रवत्व केवल जलके परमाणुओंमें तो नित्य है और अन्यत्र सर्वत्र अनित्य है ॥ १५५ ॥

परमाणाविति।जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यमित्यर्थः।अन्यत्रपृथिवी परमाण्वादौ जलद्व्यणुकादौ च द्रवत्वमनित्यं कुत्रचित्तेजसि कुत्रचित्पृथिव्यां च नैमित्तिकं द्रवत्वम् ॥ १५५ ॥

भाषा–उसमें जलीय परमाणुओंमें द्रवत्व नित्य है और अन्यत्र पार्थिवपरमाणु आदिकोंमें तथा जलीय द्व्यणुकादिकोंमें वह द्रवत्व अनित्य है. कहीं स्वर्णादि तेजमें और कहीं घृतलाक्षादि पृथिवीमें वह द्रवत्व नैमित्तिक है ॥ १५५ ॥

तत्र को वा नैमित्तिकार्थस्तद्दर्शयति । नैमित्तिकमिति–

भाषा–वहां ' नैमित्तिक ' शब्दका अर्थ क्या है उसीको ' नैमित्तिक ' इत्यादि-मूलसे दिखलातेहैं–

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु ॥
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं संग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

भाषा–नैमित्तिक द्रवत्व अग्निसंयोगसे तपेहुए घृतादिकोंमें प्रतीत होताहै. वह द्रवत्व स्यन्दनमें हेतु है अर्थात् असमवायिकारण है और चूर्णादिके पिण्डीभावमें (तत्) वही द्रवत्व निमित्त कारण है ॥१५६ ॥

वह्नीतिपदं तेजोऽर्थकम् । तथा च तेजःसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम्।तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिपृथिव्यां च वर्तत इत्यर्थः । द्रवत्वं स्यन्दन इति । असमवायिकारणमित्यर्थः।संग्रहे सक्तुकादिसंयोगविशेषे । तेन तद्द्रवत्वं स्नेहसहितमिति बोद्ध-व्यम् । तेन द्रुतसुवर्णादीनां न संग्रहः ॥ १५६ ॥

भाषा-मूलमें 'वह्नि' पद तेज मात्रका वाचक है; एवं तेजसंयोगजन्यका नाम नैमित्तिकद्रवत्व सिद्ध हुआ. वह नैमित्तिकद्रवत्व स्वर्णादिरूप तेजमें और घृतलाक्षादि पृथिवीमें रहता है. वह द्रवत्व स्यन्दनरूपाक्रियामें असमवायिकारण है. और संग्रहमें अर्थात् सक्तुआदिके परस्पर मिलापविशेषमें वह द्रवत्व निमित्तकारण है; परन्तु सत्तु आदिके मिलापमें निमित्ततास्नेहसहित द्रवत्वको जाननी चाहिये. एवं द्रुतस्वर्णादिका संग्रह न हुआ अर्थात् द्रुतस्वर्णादिमें द्रवत्वके होनेसे उसमें चूर्णादिके पिण्डीभावकी आपत्ति नहीं हुई; क्योंकि स्वर्णादिमें स्नेहसहित द्रवत्व नहींहै ॥ १५६ ॥

स्नेहं निरूपयति, स्नेहो जल इति-

भाषा-एवं 'स्नेहः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्नेहका निरूपण करतेहैं-

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ॥
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

भाषा-स्नेहगुण केवल जलमात्रमें रहताहै और जलीयपरमाणुओंमें वह नित्य है; अन्यत्र द्व्यणुकादिकोंमें अनित्य है. तैलके बीचमें उसकी प्रकर्षतासे दहनकी अनुकूलता है ॥१५७ ॥

जलइति, जल एवेत्यर्थः।असौ स्नेहः । ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते न चासौ जलीयस्तथासति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह । तैलान्तर इति।तत्प्रकर्षात्स्नेहप्रकर्षात् तैल उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव, तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम्, अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः ॥ १५७ ॥

भाषा-स्नेह जलहीमें रहताहै. 'असौ' पदसे स्नेहका ग्रहण है. शंका-तैलरूपा पृथिवीमेंभी स्नेह प्रतीत होताहै परन्तु वह स्नेह जलका नहींहै, क्योंकि यदि जलका होय तो अग्निका विरोधी हुआ चाहिये? समाधान-इसका उत्तर 'तैलान्तरे'इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं. मूलमें 'तत्प्रकर्ष' शब्दसे स्नेहप्रकर्षका ग्रहण है. तैलमें प्रतीत होनेवाला स्नेहभी जलहीका है उसको प्रकृष्ट होनेसे अर्थात् अति उत्कट होनेसे अग्निकी अनुकूलता है. भाव यह कि-अपकृष्ट स्नेहवाला जलही अग्निका नाशक है, तैल नहीं ॥ १५७ ॥

संस्कारं निरूपयति, संस्कारेति-

भाषा-एवं 'संस्कारभेद'इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संस्कारोंका निरूपण करते हैं-

संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने ॥
मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात्कर्मजो वेगजः क्वचित् ॥ १५८ ॥

भाषा–वेग, स्थितिस्थापक, तथा भावनाख्यभेदसे संस्कार तीन प्रकारका है. उनमें वेगाख्य संस्कार तो मूर्तपदार्थमात्रमें रहताहै; वह वेगाख्य संस्कार किसी स्थलमें क्रियासे उत्पन्न होताहै और किसी स्थलमें वेगसे उत्पन्न होताहै ॥ १५८ ॥

संस्कारेति । वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात् संस्कारस्त्रिविध इत्यर्थः । मूर्तमात्र इति । कर्मजवेगजभेदाद्वेगो द्विविध इत्यर्थः । शरीरादौ हि नोदनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते, तेन च पूर्वकर्म, नाशस्तत उत्तरकर्म । एवमग्रेऽपि ।

भाषा–वेग, स्थितिस्थापक, तथा भावना इन भेदसे संस्कार तीन प्रकारके हैं.(मूर्त मात्रे इति) कर्मजन्य तथा वेगजन्य इस भेदसे वेगाख्यसंस्कार फिर दोप्रकारका है. बाणादिकोंमें नोदनसे उत्पन्न हुई क्रियासे वेग उत्पन्न होताहै. (तेनच) उस वेगसे पूर्व क्रियाका नाश होता है उस पूर्वकर्मनाशके अनन्तर फिर उत्तर क्रिया होती है. ऐसेही आगे २ जबतक बाणादिका उत्तरसंयोग न होय तबतक पूर्व २ कर्मका नाशक वेगहीको समझना चाहिये. भाव यह कि–कर्मका नाशक उत्तरसंयोग तो उसकालमें हैही नहीं; इसलिये पूर्व पूर्व कर्मनाशकता वेगहीमें कल्पना करी जातीहै ऐसेही उत्तर २ कर्मसेभी पूर्व २ वेगका नाश होता है उस पूर्व वेगनाशके अनन्तर वेगान्तरकी उत्पत्ति होती है. यही ' एवमग्रेपि ' इस ग्रन्थका तात्पर्य है–ऐसे स्थलमें कर्मका कोई नाशकान्तर तो हैही नहीं.

विना च वेगं कर्मणः कर्मप्रतिबन्धकत्वात् पूर्वकर्मनाश उत्तरकर्मोत्पत्तिश्च न स्यात् । यत्र वेगवता कपालेन जनिते घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः ॥ १५८ ॥

भाषा–इसलिये वेगसे विना अर्थात् यदि वेगको नाशक न मानें तो पूर्व कर्मका नाश नहीं होना चाहिये और उत्तरकर्मकी उत्पत्तिभी नहीं हुई चाहिये; क्योंकि पूर्वकर्म उत्तरकर्म उत्पत्तिका प्रतिबन्धक है. एवं जहां वेगवाले कपालादिसे उत्पन्न हुए घटादिमें वेग उत्पन्न हुआहै वह वेगज वेग है ॥ १५८ ॥

स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि ॥
अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपिकारणम् १५९

भाषा-स्थितिस्थापकाख्य संस्कार केवल पृथिवीहीमें रहता है; परन्तु कई लोग इसको पृथिवीआदि चारोंमें मानतेहैं. वह स्थितिस्थापकाख्य संस्कार सर्वथा अतीन्द्रिय है और किसी २ स्थलमें स्पन्दरूप क्रियाकाभी कारण है ॥ १५९ ॥

स्थितिस्थापकेति । आकृष्टशाखादीनां परित्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात् । केचिदिति । चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भावः । असौ स्थितिस्थापकः । क्वचिदाकृष्टशाखादौ ॥ १५९ ॥

भाषा-वृक्षकी शाखादिको खैंचकर छोड़ दिया जाय तो उसका फिर पूर्ववत् अवस्थान होजाता है वह आकृष्टशाखादिका प्रथमवत् अवस्थान स्थितिस्थापक-संस्कारजन्य है. उस स्थितिस्थापक संस्कारको कई लोग पृथिवीआदि चारोंमें रहनेवाला मानतेहैं; परन्तु ऐसा मानना उनका सर्वथा अप्रमाणक है मूलगत ' असौ ' पदसे स्थितिस्थापकसंस्कारका ग्रहण है और ' क्वचित् ' पदसे आकृष्ट-शाखादिका ग्रहण है ॥ १५९ ॥

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः ।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥१६०॥

भाषा-एवं भावनाख्यसंस्कार प्राणीमात्रमें रहता है और अतीन्द्रिय है अर्थात् उसका किसी इन्द्रियद्वारा ग्रहण नहीं होता. उपेक्षाअनात्मक निश्चय अर्थात् वस्तुविषयक दृढ बोध (तस्य) उस संस्कारका कारणीभूत है ॥ १६० ॥

भावनाख्य इति । तस्य संस्कारस्य । उपेक्षात्मकज्ञानात् संस्कारानुत्पत्तेरुपेक्षानात्मकइत्युक्तम् । तत्संशयात् संस्कारानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम् । तेनोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः ।

भाषा-तस्य-इस मूलगतपदसे संस्कारोंका ग्रहण है. वस्तुविषयक ' उपेक्षात्मक ' ज्ञानसे अर्थात् वस्तुको दत्तचित्त होकर न ग्रहण करनेसे संस्कार उत्पन्न नहीं होता; इसलिये मूलमें ' उपेक्षानात्मक ' यह निश्चयका विशेषण कहा है. (तत्) उपेक्षानात्मक संशयसेभी संस्कार उत्पन्न नहीं होता इसलिये संशयसाधारणज्ञानको त्यागकर मूलमें ' निश्चय ' पदका निवेश किया है. एवं उपेक्षात्मक ज्ञानसे अन्य जो निश्चयात्मक ज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन संस्कारोंके प्रति कारणता है.

ननु स्मरणं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वं तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणमित्थं च संस्कारं प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुताऽस्त्विति चेत् । न । विनिगमनाविरहेण संस्कारं प्रत्यप्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ।

शंका–स्मरणात्मक ज्ञानके प्रति उपेक्षान्य निश्चयत्वेन हेतुता है इसीलिये उपेक्षात्मकज्ञानस्थलमें स्मरणात्मक ज्ञान नहीं होता. (इत्थञ्च) इस रीतिसे स्मृति ज्ञानके प्रति उपेक्षानात्मक निश्चयत्वेन कारणता सिद्ध हुई तो संस्कारके प्रति ज्ञानत्वरूप साधारण धर्मसेभी कारणता मान लीजाय तो हानि क्या है ? समाधान–विनिगमनाविरहसे अर्थात् एकत्र पक्षपातिनी युक्तिके अभावसे संस्कारोंके प्रतिभी उपेक्षानात्मक निश्चयत्वेन कारणता स्वयं सिद्ध है इसलिये ज्ञानत्वेन कारणता माननी उचित नहीं;

किंचोपेक्षास्थले संस्कारकल्पनाया गुरुत्वात् संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ॥ १६० ॥

भाषा–(किञ्च) वस्तुतः विचार किया जाय तो संस्कारोंके प्रतिही उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन कारणता माननेमें विनिगमक प्रतीत होता है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो उपेक्षात्मक ज्ञानस्थलमें संस्कारोंकी एक अधिक गुरुभूत कल्पना करनी होगी और संस्कारोंके प्रति तो उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुता अन्वयव्यतिरेकसे सिद्धही है ॥ १६० ॥

तत्र प्रमाणं दर्शयति । स्मरण इति–

भाषा–'स्मरणे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार (तत्र) संस्कारमें प्रमाण दिखलातेहैं–

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ॥

भाषा–स्मरणात्मक ज्ञानमें तथा प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानमें यह संस्कार कारणीभूत है.

असौ संस्कारः। यतः स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते । विना व्यापारं पूर्वानुभवस्य स्मरणादिजननासामर्थ्यात्, स्वस्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वासम्भवात् ।

भाषा–मूलगत 'असौ' पदसे संस्कारोंका ग्रहण है पूर्व दृष्टवस्तुविषयक अनुभव कालान्तरमें उसी वस्तुके स्मरणका तथा प्रत्यभिज्ञानका जनक होता है; इसलिये मध्यमें व्यापाररूपसे संस्कारोंकी कल्पना होतीहै संस्कारात्मकव्यापारसे विना पूर्वा-

नुभवको स्मरणादिज्ञान जननमें सामर्थ्य नहींहै; क्योंकि कार्योत्पत्तिसे अव्यवहित पूर्वक्षणमें (स्व) कारण (स्वव्यापार) कारणव्यापार अन्यतरके न होनेसे कारणमें कारणत्व धर्मका होनाही असम्भव है. भाव यह कि—कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति कारण कारणव्यारान्यतरत्वहीका नाम ' कारणतापदार्थ ' है.

नच प्रत्यभिज्ञां प्रति तत्तत्संस्कारस्य हेतुत्वे प्रत्याभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात् । परे त्वनुद्बुद्धसंस्कारात् प्रत्यभिज्ञानुदयादुद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तत्स्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः ।

शंका—संस्कारजन्य स्मृत्यात्मक ज्ञान होता है एवं तत्तदनुभवजन्य संस्कारोंको यदि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानके प्रतिभी कारणता है तो संस्कारजन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानकोभी स्मृतिरूपही होना चाहिये समाधान—यह कथन आपका अप्रयोजक है. अर्थात् संस्कारजन्यत्वका स्मृतित्वके साथ अन्वयव्यतिरेक कहनेके लिये आपके पास कोई अनुकूलतर्क नहीं है; (परेतु)और चिन्तामणिकार तो यह कहतेहैं कि—अनुद्बुद्ध संस्कारोंसे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानका उदय होना दुर्घट है; इसलिये उद्बुद्धसंस्कारोंही को हेतुता कहनी होगी. एवं उद्बुद्ध संस्कारोंमें हेतुता माननेकी अपेक्षया तत्तद्वस्तु विषयक स्मरणहीको प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानके प्रति हेतुता कल्पना करनेमें लाघव है.

अदृष्टं निरूपयति, धर्माधर्माविति—

भाषा— 'धर्माधर्म ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अदृष्टका निरूपण करते हैं—

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम् ॥ १६१ ॥
गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः ॥
कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः ॥ १६२ ॥

भाषा—धर्म अधर्म दोनोंका नाम ' अदृष्ट ' है. उनमें स्वर्गादिके साधनका नाम ' धर्म ' है ॥ १६१ ॥ वह धर्म :गङ्गास्नानादिका तथा यागादिका व्यापाररूप कहा है. 'कर्मनाशा'नामक नदीके जलस्पर्शादिसे उस धर्मका नाश मानाहै॥ १६२॥

स्वर्गादिसकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह । यागादीति । यागादिव्यापारतया हि धर्मः कल्प्यते । अन्यथा यागादीनां चिरविन-

ष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात्। तदुक्तमाचार्यैः। " चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना." इति।

भाषा–स्वर्गादि यावत् सुखोंका तथा स्वर्गके साधनीभूत शरीरादिका कारण एक धर्महीं है; उस धर्ममें " यागादिकं धर्मादिव्यापारवत् वेदबोधितस्वर्गसाधनत्वात् " इत्यादि अनुमानप्रमाणप्रदर्शनार्थ मूलकार ' यागादि ' इस ग्रन्थको कहते हैं अर्थात् यागादिके व्यापाररूपसेही धर्मकी कल्पना होसकतीहै; अन्यथा मध्यमें व्यापाररूपेण धर्मस्वीकार न किया जाय तो चिरकाल विनष्ट हुए यागादि विना व्यापारके कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गके जनक कदापि नहीं होसकेंगे. इसी वार्ताको उदयनाचार्यजीनेभी कहाहै कि–"चिरकाल विनष्ट हुआ कर्म विना अपूर्वसे फलजननमें समर्थ नहीं होता"–इति ।

ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात्, नच प्रतियोगिध्वंसयोरेकत्राजनकत्वम्, सर्वत्र तथात्वे मानाभावात्,न च त्वन्मते फलानन्त्यं, मन्मते चरमफलस्यापूर्वनाशकत्वान्न तथात्वमिति वाच्यम्, कालविशेषस्य सहकारित्वादित्यत आह। गङ्गास्नानेति। गङ्गास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वेऽनन्तानां जलसंयोगध्वंसानां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वं कल्प्यते लाघवादिति भावः।

शंका–मध्यमें धर्मको व्यापार माननेकी अपेक्षया यागके ध्वंसहीको व्यापार मानलिया जाय तो हानि क्या है ? यदि कहो कि–'प्रतियोगिको तथा प्रतियोगिके ध्वंसको एकत्र जनकता अप्रसिद्ध है' तो यह कथनभी युक्त नहीं क्योंकि सर्वत्र (तथात्वे) प्रतियोगि तथा प्रतियोगिके ध्वंसको एकत्र जनकत्वाभावमें कोई प्रमाण नहीं है और यदि कहो कि–'यागध्वंसको व्यापार माननेवालेको फल आनन्त्य मानना होगा' यह अनुचित है और धर्मको व्यापार माननेवालेको तो फलानन्त्यरूप दोष नहींहै; क्योंकि उसने अन्तिम फलको धर्मरूप अपूर्वका नाशक मानाहै तो यह कथनभी युक्त नहीं; क्योंकि कालविशेषको फलविशेषमें सहकारी मानकर फलानन्त्यरूप दोषका वारण होसकताहै ? समा०–इसका उत्तर ' गंगास्नान ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं. भाव यह कि–ध्वंसको व्यापार माननेवालेको गंगास्नानको स्वर्गजनकता माननेमें मध्यमें अनन्तजलसंयोगोंको ध्वंसको व्यापार मानना होगा, उनकी अपेक्षया मध्यमें अपूर्वकी कल्पना करनेमें अतिलाघव है.

ननु ध्वंसोऽपि न व्यापारोऽस्तु, न च निर्व्यापारस्य चिरध्वस्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि चक्षुःसंयोगादेः कारणत्वे न तु सर्वत्र कार्यकालवृत्तित्वमिव समवायिकारणस्य कारणत्व इत्यत आह, कर्मनाशेति ।

शंका-यदि ऐसाहै तो ध्वंसकोभी व्यापार मत मानो; एवं कारणके मध्यमें कहींभी व्यापार माननेकी अवश्यकता नहींहै. यदि कहो कि-निर्व्यापार चिरविनष्ट यागादि क्रियाको स्वर्गादिकारणता कैसे होगी ? तो कारणता नाम 'अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्व ' मात्रका है; सो ऐसी कारणता यागादिमेंभी विद्यमान है. अव्यवहित पूर्ववर्तित्वरूप धर्म चक्षुःसंयोगादिगत कारणताका घटक है अर्थात् यदि रूपादि साक्षात्कारके प्रति चक्षुःसंयोगादिको कारणता कहनी होय तो ऐसे स्थलमें अव्यवहित पूर्ववर्तित्वका निवेश करना उचित है. सर्वत्र उसका कुछ उपयोग नहीं; जैसे समवायिकारणगत कारणताका कार्यकालवृत्तित्वघटक है, सर्वत्र नहीं. समाधान-इसका उत्तर ' कर्मनाशा ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं.

यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यत्वं धर्मस्य न स्यात् । न हि तेन यागादिनाशः प्रतिबन्धो वा कर्तुं शक्यते, तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति भावः ।

भाषा-यदि यागादिजन्य धर्मात्मक अपूर्व न होय तो कर्मनाशाजलस्पर्शादिसे उसका नाशभी नहीं हुआचाहिये, परन्तु नाश होना तो शास्त्रसिद्धहै और कर्मनाशाजलके स्पर्शादिसे यागादिका नाश वा उसका प्रतिबन्ध तो कहही नहीं सकते; क्योंकि यागादिको कर्मनाशा जलस्पर्शसे पूर्ववृत्तित्व है अर्थात् यागक्रिया बहुतकाल प्रथम होचुकी है; इसलिये भिन्नकालीन पदार्थोंका परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव या नाश्यनाशकभाव कहना उचित नहीं.

एतेन देवताप्रीतिरेव फलमित्यपास्तम् । गङ्गास्नानादौ सर्वत्र देवताप्रीतेरसम्भवात् देवतायाश्चेतनत्वेऽपि तत्प्रीतेरनुद्देश्यत्वात्, प्रीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुप्रीत्यादौ तदसम्भवात् । जन्यसुखादेस्तत्राभावात् तेन, विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन पराभिमतस्वर्गादिरेव विष्णुप्रीतिशब्देन लक्ष्यते ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

भाषा—कई विद्वान्लोग यागादि शुभक्रियाका देवताप्रीतिरूपही फल मानतेहैं. इस पूर्वकथनसे उसकाभी खण्डन किया; क्योंकि गंगास्नानादि सर्वत्र शुभकार्योंमें देवताप्रीतिका होना असम्भव है. यद्यपि देवता चेतन है इसलिये प्रीति होनेका सम्भव होसकता है तथापि यागस्नानादिक्रिया कर्ताका देवताप्रीति उद्देश्य नहीं है और 'प्रीति' नाम सुखविशेषका है, सो विष्णुप्रीतिआदिकोंमें उसका होना असम्भव है; क्योंकि विष्णुआदिको ईश्वररूप होनेसे उनमें जन्यसुखका अभाव है; इसलिये 'विष्णुप्रीति' शब्दसे विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन मीमांसकोंके अभिमत स्वर्गादिकाही लक्षणया बोध होता है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ॥
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ १६३

भाषा—नरकादि दुःखके साधनका नाम 'अधर्म' है और निषिध्यकर्मोंसे उसकी उत्पत्ति होती है. प्रायश्चितादि आचरणसे उसका नाश होता है. यह धर्माधर्मरूप दोनों गुण केवल जीवमात्रमें रहतेहैं ॥ ६३ ॥

अधर्मो नरकादीनामिति । नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनां च साधनमधर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह, प्रायश्चित्तेति । यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिना नाश्यत्वं न स्यात्।नहि तेन ब्रह्महननादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विधातुं शक्यते तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः । जीवेति । ईश्वरस्य धर्माधर्माभावादिति भावः ॥ १६३ ॥

भाषा—नरकमें होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंका तथा नारकीय शरीरादिकोंका कारणीभूत अधर्म है. 'प्रायश्चित्त' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार उसमें प्रमाण दिखलातेहैं. यदि अधर्म कुछ वस्तु न होय तो प्रायश्चित्तादिद्वारा उसके नाशका विधानभी नहीं हुआ चाहिये. उस प्रायश्चितादिसे ब्राह्मणवधादिका नाश अथवा प्रतिबन्ध तो विधान करही नहीं सकते; क्योंकि 'तस्य' उस ब्रह्महननादि कर्मका तो पूर्वही विनाश हो चुका है. मूलगत'जीववृत्ति'यह पद कहनेका भाव यह है कि-ईश्वरमें धर्माधर्मादिका सर्वथा अभाव है ॥ १६३ ॥

इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ॥

भाषा—यह धर्माधर्म दोनों वासनासे उत्पन्न होतेहैं और इन दोनोंका आत्मज्ञानसेभी विनाश होता है.

समा०-इसका उत्तर मूलकार 'वीची' इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं लिखतेहैं-

वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ॥

भाषा-वीची तरङ्गन्यायसे अर्थात् जलऊर्मितरङ्गोंके सर्व ओर प्रसरणवत् शब्दकी श्रोत्रावच्छेदेन उत्पत्ति कथन करीहै.

आद्यशब्देन बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन जन्यते तेन चापरस्तद्व्यापकः।एवंक्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यत इति ।

भाषा-प्रथमशब्दसे बाह्य दशदिगवच्छेदेन शब्दान्तरकी उत्पत्ति होतीहै अर्थात् जैसे जलमें लोष्ठादिके फेंकनेसे प्रथम एक तरङ्ग उत्पन्न होताहै, पश्चात् उसी प्रथम-तरङ्गसे चारों ओर अनेक वीचीतरङ्ग उत्पन्न हुए कूलतक जातेहैं वैसेही मृदङ्गादिके टंकारसेभी प्रथम एक शब्द उत्पन्न होताहै पश्चात् उसी शब्दसे दशोंदिशामें शब्दा-न्तर उत्पन्न होतेहैं. उनसे पुनः शब्दान्तरोंकी उत्पत्ति होतीहै; इसी क्रमसे मृदङ्गदेशगत शब्द श्रोत्रावच्छेदेन उत्पन्न हुआ ग्रहण होताहै.

कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते॥ १६६॥

भाषा-कदम्बगोलकन्यायसे अर्थात् जैसे कदम्बपुष्पमें गोलाकारता उत्पन्न होतीहै वैसेही शब्दकी उत्पत्तिभी किसीएक विद्वान्‌ने मानीहै ॥ १६६ ॥

कदम्बेति। आद्यशब्दाद्दशसु दिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते, ततश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः।अस्मिन् कल्पे कल्पनागौरवादुक्तं कस्यचिन्मत इति ॥ १६६ ॥

भाषा-भाव यह कि-जैसे कदम्बपुष्पके मध्यमें एक कलिका पश्चात् चारोंओर दश कलिका ऐसेही आगे चारोंओर लगनेसे एक गोल गुच्छ बनजाताहै वैसेही मृद-ङ्गादिदेशगत आद्यशब्दसे दशोंदिशाओंमें दश शब्द उत्पन्न होतेहैं पश्चात् उस एक एकसे पुनः दश दश शब्द उत्पन्न होतेहैं. इस रीतिसेभी शब्दकी उत्पत्ति श्रोत्रदेशमें होसक-तीहै. मूलमें ' कस्यचिन्मते ' इस कहनेका भाव यह है कि-इस मतमें अनन्तशब्दों-की कल्पना करनेमें कल्पना गौरव है ॥१६६॥

ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिः कथमत आह, उत्पन्न इति-

शंका-शब्द तो नित्य है. आपने उसकी उत्पत्ति कैसे कही ? समाधान-इसका उत्तर ' उत्पन्नः कः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं लिखतेहैं-

उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ॥

भाषा-कंठताल्वाद्यभिघातसे ककारादिशब्द उत्पन्न होतेहैं पश्चात् शीघ्रही उनमें "ककारो विनष्टः" इत्याकारक प्रत्यय होताहै; इसलिये शब्द अनित्य प्रतीत होतेहैं.

शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः ।

भाषा– अर्थात् यावत् शब्दोंमें उत्पाद विनाश प्रत्यय विषयता है. इसलिये इनमें अनित्यता माननी उचित है.

ननु स एवायं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम्। इत्थं चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्यत आह, सोऽयं क इति–

शंका–" स एवायं ककारः–अर्थात् यह वही ककार है " इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानसे शब्दोंमें नित्यता प्रतीत होतीहै; इसलिये उनमें उत्पादविनाशावगाहिनी बुद्धि भ्रमरूपाही माननी उचित है. समाधान–इसका उत्तर ' सोऽयं कः ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकारस्वयं देतेहैं–

सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ॥१६७॥

भाषा–" सोऽयं कः–अर्थात् यह वही ककार है " इत्याकारक बुद्धि ककारादिनिष्ठ साजात्यका ग्रहण करतीहै ॥ १६७ ॥

साजात्यमिति।तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः, उक्तप्रतीतिविरोधात् । इत्थं द्वयोरपि प्रतीत्योर्नभ्रमत्वमिति ॥ १६७ ॥

भाषा–ऐसे स्थलमें प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानका ककारादि सजातीयत्व विषय है, किन्तु ककारादिव्यक्तिका अभेद विषय नहीं; क्योंकि (उक्त) उत्पादविनाशशाली प्रत्ययके साथ विरोध है. (इत्थञ्च) इस रीतिसे प्रत्यभिज्ञात्मकज्ञानको साजात्यावगाही माना तो उत्पादप्रतीति तथा प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान इन दोनों बुद्धियोंको भ्रमरूपता नहींहै ॥ १६७ ॥

ननु सजातीयत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां भासत इति कुत्र दृष्टमित्यत आह, तदेवेति–

शंका–' सोऽयं ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानमें सजातीयत्वका भान आपने कहां देखा है ? समाधान–इसका उत्तर ' तदेव ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं–

तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ॥
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः॥१६८॥

भाषा–" तदेवौषधं–अर्थात् यह वही औषध है " इत्यादिस्थलोंमें सजातीय

पदार्थोंमेंभी प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान देखनेमें आता है. इसलिये सम्पूर्ण वर्ण अनित्यही हैं. यह हमारा सिद्धान्त है ॥ १६८ ॥

यदौषधं मया कृतं तदेवान्येनापि कृतमित्यादिदर्शनादिति-भावः ॥१६८॥ ॥ इति सिद्धान्तमुक्तावल्यां गुणनिरूपणम् ॥

भाषा–'जो औषधी मैंने करी थी वही औषधी दूसरे पुरुषनेभी करीहै ' इत्यादि स्थलमें सजातीयत्वका भान होताहै. भाव यह कि–जो औषधी मैंने करी है वस्तुतः वह औषधी वह नहींहै जो कि, दूसरेने करीहै; किन्तु उसी जातिकी दूसरी औषधी है–इति ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायविद्यानिवासभट्टाचार्यपुत्रश्रीयुतवि-श्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिता न्यायसिद्धान्तमु-क्तावली संपूर्णा ।

कर्तारं सर्वलोकानां भर्तारं सर्वप्राणिनाम् ॥
हर्तारं सर्वविघ्नानामाश्रये जानकीप्रियम् ॥ १ ॥
संसाराम्बुधितारणैकतरणी पूताप्रिया यस्य गीः
श्रेष्ठाचारविचारणैकजननी लोकोत्तरा यस्य धीः ॥
तुर्कव्यूहविनाशनेऽतिसबला तेजोमयी यस्य भी–
र्वन्द्योऽसौ गुरुनानको गुरुवरो गोविन्दसिंहस्तथा ॥ २ ॥
श्रीठाकुरपदबोध्यं स्ववाक्किरणापहृतदासहृद्ध्वान्तम् ॥
त्रेधा नमामि सततं श्रीसद्गुरुनिहालसिंहार्कम् ॥ ३ ॥
श्रीकाश्यां निवसन्तो विज्ञाः श्रीशिवकुमारमिश्राद्याः ॥
मूर्ध्नामे ते मान्या हृदा तु गुरुरामामिश्रवराः ॥ ४॥
भूतबाणग्रहक्षोणौ वैक्रमे वत्सरे वरे ॥
पौषशुक्लद्वितीयायां ग्रन्थः पूर्तिमगादयम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्दुःखभञ्जन्याश्रमाधिपतिनिर्मलोदग्रपूज्यपादश्रीठाकुरनिहालसिंहपादपाथोजप्रैष्यगण्डासिंहापरनामक गोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषितन्यायमुक्तावलीप्रकाशे गुणनिरूपणम् ॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥ इतिशम् ॥

पुस्तक मिलनेका पता–खेमराज श्रीकृष्णदास,
" श्रीवेङ्कटेश्वर " छापाखाना, खेतवाड़ी–बम्बई.